प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, वि० सवत् २०३६

मूल्य : रु० [illegible]

हमारे प्रकाशनों की एकमात्र वितरक संस्था

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थो के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ३२

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

टेलीफोन : ५२९३९ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर

दिल्ली–११०००७

प्रधान शाखा

चौखम्भा विश्वभारती

पो० बाक्स नं० १३६

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी

फोन : ६५४४४

THE

VIDYABHAWAN AYURVEDA GRANTHAMALA

38

*****

KĀYA CHIKITSĀ

(TREATMENT OF VARIOUS TYPES OF FEVER)

BY

Vidyabhaskar, Ayurveda Brihaspati, Ayurvedacharya

KAVIRAJ RAM RAKSHA PATHAK

G. A. M S., F. A. I. M., D. Sc

(Director, Bhandara Nayaka Memorial Ayurvedic Research and Post Graduate Institute, Navinna, Muhargama, Ceylon)

(Vol. II)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Seller of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139

Jadau Bhawan K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Also can be had from

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Post Box No. 139
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
Phone : 65444

Second Edition 1979
Price Rs. 25-00

Sole Distributors :—

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 52939 Telegram : Gokulotsav
Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar
DELHI-110007

प्राक्कथन

आयुर्वेद के तत्वज्ञान और चिकित्सापद्धति के प्रति भारतीय तथा विदेशीय आधुनिकों की जिज्ञासा उत्तरोतर बढ़ रही है।

आयुर्वेदिक सिद्धान्तों, उपचारों, औषधों तथा वनस्पतियों के गवेषणात्मक अध्ययन के लिए केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों द्वारा गत चार-पाच वर्षों में भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर अनेक अन्वेषणकेन्द्रों की स्थापना हुई है।

इसी वर्ष अमेरिका के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय रॉचेस्टर यूनिवर्सिटी-न्यूयार्क चिकित्सा विभाग ने एक भारतीय वैद्य को एक अधिकृत निमंत्रण द्वारा विभाग के औपचारिक अतिथि के रूप में रॉचेस्टर आने के लिए निमंत्रित किया जहाँ चिकित्साकेन्द्र के सभी उपविभागों के उच्चाधिकारियों और प्राध्यापकों ने 'आयुर्वेदिक चिकित्सा' पर भारतीय अतिथि के व्याख्यान को दत्तचित्त होकर सुना और व्याख्यान के पश्चात् भी घण्टों तक आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति के विभिन्न पार्श्वों पर अर्द्धरात्रि पर्य्यन्त ऊहापोह की।

टेलीविज़न, (जो भारतवर्ष मे अभी पहुंचा भी नहीं,) पर भी कैनेडियन और अमेरिन जिज्ञासुओं ने आयुर्वेद पर बहुत से प्रश्न किए और तीन पृथक्-पृथक् कार्यक्रमों मे यह प्रश्न तो हर बार किया गया कि पाश्चात्य देशों में आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति का सफल प्रवेश किस प्रकार हो सकता है। यह घटना भी इसी वर्ष की है।

इसके अतिरिक्त कई उदाहरण ऐसे मिलेंगे कि रोगी पाश्चात्य देशों की सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा-सेवा से निराश होकर भारतवर्ष मे आए हैं और आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा स्वस्थ होकर वापिस गए हैं।

यह भी सर्वथा निर्विवाद है कि आयुर्वेद की यह सिद्धिप्रद चिकित्सा-योग्यता किसी शासकीय प्रोत्साहन अथवा संरक्षण का फल नहीं, अपितु इसके अपने सिद्धान्तों तथा उपचारों की उत्कृष्टता और अजरता की देन है।

आयुर्वेद आज यदि जीवित है और भविष्य की ओर आशा और आत्म-विश्वास से देख रहा है तो इसका अधिकांश श्रेय इस विज्ञान की कायचिकित्सा को है। रसायन, वाजीकरण, कौमारभृत्य आदि आयुर्वेद के कई अंग सबल होने पर भी इस शास्त्र की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ख्याति और भारतवर्ष में सत्ता का विशिष्ट आधार आयुर्वेदोक्त कायचिकित्सा ही है।

इसलिए आयुर्वेदीय कायचिकित्सा पर एक अधिकारपूर्ण तथा प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय चिकित्सक और रोगी के लिए ही नहीं किन्तु आज के सकुचित संसार मे, जबकि भूमण्डल के किसी भी भाग पर पहुँचने के लिए एक दिन से अधिक यात्रा की आवश्यकता नही, इस देश से बाहर के चिकित्सक और रोगी के लिए भी उपादेय और सुफलप्रद सिद्ध होगा।

संयोगवश इस ग्रथ के लेखक श्री रामरक्ष पाठक का आज के आयुर्वेदीय शिक्षा तथा प्रशासन ससार में वही उत्कृष्ट स्थान है जो पुस्तक के विषय, कायचिकित्सा, को अष्टागायुर्वेद में प्राप्त है। यह अतिशयोक्ति नहीं क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी आयुर्वेदज्ञ के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि उसे दो विभिन्न देशों के शासनों ने अपने उच्चतम आयुर्वैदिक प्रशिक्षण और गवेषण केन्द्रों की अध्यक्षता अर्पित कर अपनी-अपनी सत्तानुसार उच्चतम अधिकारों से सम्मानित किया। भारतवर्ष मे उन्होंने अपने समय के उच्चतम आयुर्वैदिक स्थान, जामनगर की सयुक्त आयुर्वैदिक सस्थाओं की अध्यक्षता को सुशोभित किया। तदनन्तर समीपवर्ती आयुर्वेदप्रेमी देश श्रीलंका की सरकार की मांग पर जामनगर के अधिकारियों की शुभकामना और आशीर्वाद प्राप्त कर श्रीलंका की अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त सस्था श्री बण्डारनायक स्मारक आयुर्वैदिक अन्वेषणकेन्द्र की बागडोर अपने हाथ में ली। आयुर्वेद के इतिहास मे यह पहला अवसर है कि एक आयुर्वेदज्ञ की विद्वत्ता, अध्यापनकला, चिकित्साविज्ञान और अन्वेषण-कला को ऐसी मान्यता प्राप्त हुई हो।

आयुर्वेद के वरिष्ठ अग कायचिकित्सा पर आयुर्वेद के सर्वाग्रणी प्राचार्य द्वारा ग्रन्थ निर्माण एक ऐसा विरलागत सयोग है जिसका प्रत्येक आयुर्वेदानुरागी और विज्ञान शुभचिन्तक हार्दिक स्वागत करेगा।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक आयुर्वेद संसार के लिए एक सर्वोत्कृष्ट देन सिद्ध होगी।

बहारिस्तान,
बोमनजी पेटिट रोड,
कम्बालाहिल-बबई
७-९-६४

शिवशर्म्मा

FOREWORD

(Dr. Pranjiwan Manekchand Mehta,
M. D., M. S., F. C. P. S , F. I. C. S.)

The common charge made against the ancient Indian genius in general and her medicine in particular is that its nature is more speculative and theoretical than practical and useful. India suffered in the estimation of the world more through world's ignorance of her achievement than through the absence or insignificance of such achievements

The two fields in which India excelled in the past were philosophy and medicine. Here was not the philosophy to be studied in the arm chair and left at that Her philosophers were realists and practical men. They tested the validity of their conclusion by restoring to the practice of Yoga and religious devotion Yoga and practical religion were closely allied to philosophy and never was philosophy a mere intellectual or imaginative pastime and adventure.

This is even more true of the realm of medicine Medical theories have to be justified and tested in every day life, and medical science of India could not have survived if it had not stood this test of day to day verification and fulfilment That it did is due to the fact that the system of medical education laid great emphasis on practical work in every branch of it, specially clinical study of patients in order to enable the students to have a thorough grasp of the secrets of the structure, functions and behaviour of each and every part of the human mechanism in health as well as in disease. Both the Samhitas, Charaka and Susruta repeatedly emphasize the necessity and importance of practical work. Charaka says :

सर्वरोगविशेषज्ञ सर्वकार्यविशेषवित् ।
सर्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञ: प्राणपतिर्भवेद् । इति ॥ ३० ॥ च० वि० ६

The Man who is acquainted with the characteristics of all diseases ; versed in all therapeutic measures and conversant with the true pharmacological properties of all drugs, is worthy of being made the custodian of king's life

एतद्ध्यवश्यमध्येयम , अधीत्य च कर्माप्यवश्यमुपासितव्यम् ।
उभयज्ञो हि भिषग् राजार्हो भवति ॥

सु० सू० ३-४७

The physician should definitely study this science. After studying, he should take practical training. One skilled in both theoretical knowledge and practical art, deserves recognition by the king.

At the end of the golden period of Ayurveda, the progressive spirit receives a set back due to disturbed political condition, pre-occupation of the patrons of learning with war and defence, and the general break down of the morale of the people, a result of the all-pervading defeatism. Thus the decadence set in and the absence of sufficient facilities for study, unavailability of sufficient number of preceptors, the general lassitude, lowering of the intellectual level and the general distintegration of cultural backbone tell the rest of the story To stop the rot and to keep the sciences alive, the later editors and commentators viz. Vagbhata, Dridhbala, Madhava, Sarangadhara, Bhavmisra, Chakrapani, Vijayaratshita, Shivdasa and many others tried their utmost They collected all the literature of the golden age, classified them, arranged them in different methods suitable to their time, assimilated all the new progress in knowledge, and made their books quite up to date, of universal use, and just fitting the spirit of the age.

The principle adapted by these savants was—

न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम् ।
तेऽर्थाः सग्रन्थबन्धश्च सक्षेपाय क्रमोऽन्यथा ॥
सर्वतन्त्राण्यतः प्रायः सहृत्याष्टाङ्गसंग्रहः ।
अस्थानविस्तराक्षेप-पुनरुक्त्यादि-वर्जितः ॥
हेतु लिंगौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः ।
विनिगूढार्थतत्त्वाना प्रदेशाना प्रकाशकः ॥
स्वान्यतन्त्रविरोधाना भूयिष्ठ-विनिवर्तकः ।
युगानुरूपसदर्भो विभागेन करिष्यति ॥ अ० स० सु० १

अद्यत्वेऽपि विशेषेण भूरितन्त्रार्थसंग्रहान् ।
संग्रहादत्र बुध्येन तज्ज्ञानमतिदुर्लभम् ॥
आयुर्वेदोदधे. पारमपारस्य प्रयाति क॰ ।
विश्वन्याध्योपधिज्ञानसारस्त्वेष समर्थितः ॥ अ० ९० उ० ५०

Not even a prosodial instant is introduced here without the authority of the main scientific concepts. The same are the

interpretations and the same is the composition of the work; only the arrangement is changed for the sake of conciseness.

Consulting all the main treatise, the treatise of Astanga Sangraha is compiled in various sections and chapters. It is free from improper prolixity, omission and repetition and is a treatise containing the tripartite science of Life viz etiology, symptomology and medicament, is an elucidator of the parts, the real meaning of which is obscure, it removes for the most part the controversial and conflicting points between our and other treatises and is a composition just *befitting the spirit of the age.* Astanga Sangraha is *uptodate* especially on account of assimilation of the topics from a good many of treatises. So what cannot be learnt from Sangraha must be an impossibility.

Who can reach the end of the boundless ocean of Ayurveda? Here is collected the cream of the *knowledge of the disease and drugs of the whole universe*

With the attainment of full independence, a new era is set; India finds herself at the cross-roads and has to make her choice now. There is the imperious call of the spirit of the modern analytical science in every heart desiring advancement and equality with other nations of the world, and there is also the fond attachment to the hoary past, glorious and supremely scientific in the golden age of Ayurveda, but apparently not in accordance with what is now regarded as valid and reasonable from the point of view of modern analytic science.

This is the position in which Ayurveda has been placed at present. Now it is the duty and responsibility of the scholars of Ayurveda to rise to the occasion and following the example of later writers and commentators by adapting meticulously the principle of strict adherence to the fundamentals of Ayurveda, to redact, rewrite or further specialize in different branches or sections as demanded by the exigencies of the present time and place. New theories examined in the light of experience and experiment if proved to be according to the fundamentals of Ayurveda may be included and interpreted in Ayurvedic terminology.

Luckily a laudable effort is being made by a number of scholars and many books dealing with theoretical part is being published every year. There is a great paucity of the books that deal fully both with theoretical part and clearly indicate the means and methods of practical application of this theoretical knowledge. To compile such a book needs the profound scholarship and experience of practical hospital work. The learned author of this book Kaviraj Shri Ram Raksha Pathak is one of few fortunate persons who possesses not only the profound scholarship in Ayurveda and Sanskrit but has a wide experience of teaching and hospital work. Added to this he has the excellent experience of Research work for about 10 years This unique combination of scholarship and teaching, hospital and research experience has enabled him to write this book on "Kaya Chikitsa" that will fulfil not only the long felt need of the students, scholars, practitioners of Ayurveda and even the teachers but will help all medical men in understanding the theoretical concepts and description of the disease, methods of clinical investigation and the basic principles of practical therapeutics. The logical thoroughness and minuteness of methods employed in inquiry and investigation of each and every factor or phenomena of the patient concerning his habit, constitution illness and environment is revealed in this book will convince everyone that Ayurveda is based on scientific foundation and is ever progressive It has studied minutely both the parts as well as the whole by adapting both the methods of study viz totalistic and analytic. It is sure to contribute an important share to the world's medicine in the interest of the whole humanity

P. M. Mehta

दो शब्द

आयुर्वेद जिज्ञासुओं के समक्ष 'कायचिकित्सा' के द्वितीय भाग—'ज्वर चिकित्सा' को उपस्थित करते हुए परमानन्द का अनुभव हो रहा है। प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अधिकारीगण इसे मुद्रित कर पाठकों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। पठन पाठन कालीन कठिनाइयों का अनुभव ही इस पुस्तक प्रणयन में प्रेरक हुआ है यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। ज्वर सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का एकत्र वर्णन किसी प्रकाशित पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता तथा अब तक जो पुस्तकें 'ज्वर'-निदान-चिकित्सा सम्बन्धी प्रकाशित हुई हैं उनमें भी सभी प्रकार के ज्वरों का वर्णन यथारुचि प्राप्त नहीं होता। इस कमी को दूर करने का प्रयास प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। आर्ष संहिताओं के वचन, टीकाकारों की व्याख्या तथा परवर्ती साहित्य का अनुशीलन इस पुस्तक में संकलित विषयों का आधार है अतः उन सभी साहित्यकारों का लेखक आभारी है। कायचिकित्सा के प्रथम भाग में जिन चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों का क्रियात्मक संकेत किया गया है उसी का विस्तार रूप से 'ज्वर' रोग को आधार बना कर वर्णन इस भाग में किया गया है। तात्पर्य यह कि चिकित्सा के सैद्धान्तिक वर्णनों का ज्वरपरक क्रियात्मक वर्णन इस 'ज्वर चिकित्सा' नामक द्वितीय भाग में हुआ है।

'ज्वर' अति प्राचीन काल से ही प्राणी मात्र के लिए 'अन्तराय' बना हुआ है और इसको जानने तथा इससे बचने और आक्रान्त होने पर इसे दूर करने का प्रयास भी निरन्तर हुआ है। यह प्राचीनतम साहित्य वेद से लेकर आधुनिक साहित्य तक के अवलोकन से विदित होता है। इसे रोगों का अधिपति कहा गया है। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग तथा वनस्पतियों तक में इससे आक्रान्त होने का संकेत प्राप्त होता है। इसकी महिमा को बतलाते हुए कहा गया है कि 'ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्' अर्थात् देवों और मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणी इस ज्वर को सहन नहीं कर सकते। प्राचीन साहित्य में इसकी उत्पत्ति के अनेक आलङ्कारिक वर्णन प्राप्त होते हैं। ज्वर प्राणधारियों के जन्म तथा मरण दोनों काल में अपना स्वरूप प्रकट करता है। इसको 'महामोह' भी कहा गया है, क्योंकि इसके द्वारा आक्रान्त होने से ही मनुष्य अपने पूर्व जन्म कृत कर्मों को भूल जाता है तथा उस जन्म के सुसंस्कारों से वञ्चित होता है। ज्वर के इस व्यापक रूप को बतलाने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

कायचिकित्सा के प्रथम भाग में कहा गया है कि मानव शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों के तीन मार्ग होते हैं जैसे—(१) बाह्य या शाखा, (२) आभ्यन्तर या कोष्ठ तथा (३) मर्मास्थि सन्धियाँ या मध्यम मार्ग।[1] ज्वर इनमें सर्वशरीरगामी तथा आमाशयोत्थ

१ 'त्रयो रोगमार्गा इति—शाखा मर्मास्थिसन्धयः कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि अस्थिसन्धयोऽस्थि-संयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः। कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः।' च० सू० अ० ११-४८,

होने से बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो मार्गों का आश्रय कर उत्पन्न होने वाला है। अत. ज्वर का वर्णन स्वतन्त्र रूपेण द्वितीय भाग में किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक (ज्वर चिकित्सा) पाँच अध्यायों मे विभक्त कर लिखी गयी है। अन्त में परिशिष्ट देकर पुस्तक को पूर्ण किया गया है। प्रथम अध्याय में ज्वर का ऐतिहासिक सकेत, ज्वर की परिभाषा तथा सामान्य स्वरूप एव प्रतिकार का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में निज ज्वरों के भेद, सन्निपात ज्वरों के भेद तथा अनेक आधुनिक सज्ञा वाले ज्वरों का विवेचन एव प्रतिकार का वर्णन है। सम ज्वर तथा विषम ज्वरों की परिभाषा और उनके भेदों का वर्णन तृतीय अध्याय में किया गया है। चतुर्थ अध्याय में पिडकामय ज्वरों का वर्णन है। पाँचवें अध्याय मे अवशिष्ट ज्वरों एव प्राचीन पुस्तकों में उपलब्ध ज्वरों पर विवेचन किया गया है। परिशिष्ट में ज्वरों के प्रतिकारार्थ प्रोक्त योगों तथा सिद्धौषधों का वर्णन सविस्तार किया गया है।

सर्वप्रथम दिवगत आचार्यप्रवर श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य को जिनकी सतत प्रेरणा तथा शुभाशीर्वचन एव जीवनकालीन मार्गप्रदर्शन इस कायचिकित्सा के कलेवर को सम्हालने मे अनवरत सहायक हुआ है, स्मरण करना तथा दिवगत आत्मा के प्रति साभार कृतज्ञता प्रकाश करना लेखक अपना कर्त्तव्य समझता है। आयुर्वेद जगत के महारथी सर्वमान्य नेता पद्मभूषण वैद्यरत्न प० शिव शर्मा जी जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर इसमे चार चाँद लगाए हैं उनके प्रति लेखक सावनत शिरसा सधन्यवाद कृतज्ञता ज्ञापन करता है। प० शिव शर्मा जी का सत्परामर्श पुस्तक प्रणयन में परम सहायक हुआ है। डा० प्राणजीवन मेहता, जिनके साथ चार वर्षो तक कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है और कार्यकालीन जिनके सतत स्वाध्याय ने जो प्रेरणा प्रदान की है तथा जिन्होंने इस पुस्तक का प्राक्कथन (foreword) लिखकर अनुगृहीत किया वे भी मेरे शतश. धन्यवाद के पात्र हैं।

जामनगर आयुर्वेद शिक्षा तथा अनुसन्धान केन्द्र का जहाँ सब प्रकार की सुविधा पुस्तक प्रणयन के लिए उपलब्ध हो सकी है मै आभारी हू तथा वहाँ के सभी विद्वान् कार्यकर्ता मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने आवश्यकतानुसार इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तयार करने मे मेरी सहायता की है। इनमें प० ब्रह्मदत्त शर्मा, प० विश्वनाथ द्विवेदी, श्री बनारसी प्रसाद गुप्त एव श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी जी विशेष रूपेण धन्यवादार्ह हैं जिनका सतत साहाय्य मुझे इस पुस्तक प्रणयन में प्राप्त हुआ है। अन्त में सभी लेखक जिनकी रचनाओं से मुझे इस पुस्तक को सम्पूर्ण करने मे सहायता मिली है मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया.।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्॥

विदुषा कृपैषी

—रामरक्ष पाठक

विषयानुक्रमणिका

७ परिशिष्ट २७६-३७१

जहर मोहरा पिष्टी, विषाण भस्म, गोदन्ती भस्म, रसादि वटी, गोदन्ती मिश्रण, हिंगुलेश्वर, मृत्युञ्जय, त्रिभुवन कीर्त्ति रस, ज्वर केशरी, ज्वर संहार, संजीवनी वटी, गुडूच्यादि क्वाथ, द्राक्षादि क्वाथ, रास्नादि क्वाथ, बिल्वादि क्वाथ, विश्वादि क्वाथ, भूनिम्बादि क्वाथ, पंचमूलादि क्वाथ, कणादि क्वाथ, शतपुष्पादि क्वाथ, शालपर्ण्यादि क्वाथ, ह्रीवेरादि क्वाथ, पटोलादि क्वाथ, किरातादि क्वाथ, मुक्ता पिष्टी, पंचमूल कषाय (बृहत्) पिप्पल्यादि क्वाथ, कणादि क्वाथ, शतपुष्पादि क्वाथ, दशमूलादि क्वाथ, निम्बादि क्वाथ, मुस्तादि क्वाथ, कटुत्रिकादि क्वाथ, कफ कुठार रस, कफकेतु रस, श्लेष्मकालानल रस, कस्तूरीभैरव रस (स्वल्प, मध्यम और बृहत्) पर्पटादि क्वाथ, पित्तान्तक रस, द्राक्षादि फाण्ट, आरग्वधादि वर्ग, सन्निपातहर नस्य तथा अञ्जन योग, चतुर्दशाङ्ग क्वाथ, अष्टदशाङ्ग क्वाथ, बृहत् कटफलादि क्वाथ, चन्दनादि क्वाथ, बृहत्यादि क्वाथ, योगराज क्वाथ, देवदार्व्यादि क्वाथ, दार्व्यादि क्वाथ, ग्रन्थ्यादि क्वाथ, अर्कादि क्वाथ, चक्रिका रस, मृतोत्थापन रस, सन्निपात भैरव रस, चिन्तामणि रस, प्राणेश्वर रस, लक्ष्मीविलास, नारदीय लक्ष्मी विलास रस, त्रैलोक्यसुन्दर रस, मृतसजीवनी रस, सूचिकाभरण रस, रस राजेन्द्र, कस्तूरीभूषण रस, हेमगर्भ पोट्टली रस, भूतशेखर रस, प्रलापान्तक रस, निद्रोदय रस, दाहान्तक योग, वेदनान्तक वटी, रस सिन्दूर, मकरध्वज, सिद्ध प्राणेश्वर, मधुरान्तक वटी, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, किरातार्क, हृद्रोग रत्नाकर, जवाहर मोहरा, याकूति, समीरपन्नग रस, योगेन्द्र रस, सुवर्णभूपति रस, हिरण्यगर्भ पोट्टली रस, अतस्यादि लेप, दशाङ्ग लेप, कपूरादि लेप, पंचगुण तैल, गोजिह्वादि क्वाथ, मुरमादि फाण्ट, नागवल्लभ रस, श्री गोपाल तैल, महाविष्णु तैल, शतावरी तैल, स्वर्णमालती वसन्त, सर्वाङ्ग सुन्दर रस, जयमङ्गल रस, हृदि चिन्तामणि रस, पचानन रस (शोथे), नित्यानन्द रस, महायोगराज गुग्गुलु, मल्ल सिन्दूर, सुदर्शन चूर्ण, सुदर्शनार्क, बृहत् क्षुद्रादि क्वाथ, पुनर्नवाद्यरिष्ट, वलाद्यरिष्ट, विषम ज्वरान्तक लौह विषम-ज्वरान्तक वटी, पुटपक्क विषमज्वरान्तक लौह, सर्वज्वरहर लौह, ज्वरान्तक रस, विश्वतापहरण रस, महाज्वराङ्कुश रस, शीतभंजी रस, ज्वर कुञ्जरपारीन्द्र रस, करजादि वटी, सप्तपर्णघनसत्वादि वटी, मलेरियाहर वटी, त्याहीकारि रस, विश्वेश्वर रस, भूतभैरव रस, मल्लादि वटी, सप्तमनी वटी, कासीस गोदन्ती, चन्दनादि लौह, अष्टमूर्तिरसायन, पुनर्नवा मण्डूर, नवायस, योगराज, सितोपलादि चूर्ण, प्रवाल पिष्टी, पट्पल घृत, वर्धमान पिप्पली, महाकल्याणक घृत, पञ्चगव्य-घृत, लसुन प्रयोग, किराततरल, चन्दनादि तैल, सत्त्वगुडूची, अमृतारिष्ट,

लौहासव, किराताद्यरिष्ट अङ्गमर्द प्रशमक, आखुविषान्तक रस, दुरालभादि क्वाथ, लक्ष्मीनारायण रस, निम्बादि अञ्जन, निशादि लेप, कालक चूर्ण, त्रायमाणा घृत, गन्धक रसायन, कालाग्नि रुद्ररस, पिरोजा भस्म, खदिरारिष्ट, शारिवाद्यरिष्ट, मास्यादि लेप, किरातादि क्वाथ, महामञ्जिष्ठादि क्वाथ, अमृतादि क्वाथ, सहचरादि क्वाथ, सौभाग्य शुण्ठी, पञ्चजीरक गुड, जीरकादि मोदक, सूतिका विनोद रस, सौभाग्य वटी, प्रतापलङ्केश्वर, दशमूलारिष्ट, जीरकाद्यरिष्ट, कुमारी सव, धातक्यादितैल, सूतिक-दशमूलतैल, आहकारि रस, गुग्गुल्वादि फाण्ट, व्याघ्री हरीतकी, अग्निकुमार रस, रसेश्वर रस, महाशिशिर पानक, क्वीनीन, पाल्युड्रीन, केमोक्विन, एस्पीरीन, कोडोपायरीन, फेनेसीटीन, नोवालजीन डाय-फोरेटिक मिक्श्चर, फीभर मिक्सचर, पनेमीन्वीन, क्लोरोमायसेटीन, डायमीडीमीन, सल्फोनामायड, सल्भर्सन, नोवार्सफेनेमीन, सोलगेनौल, भैक्सीन तथा सीरम, वेनेड्रील, एफेड्रीन इत्यादि ।



काय-चिकित्सा

द्वितीय भाग

प्रथम अध्याय

ज्वर-चिकित्सा

आमुख—

वैदिक कालसे ही प्राणि-समाज के लिए ज्वर एक अन्तराय बना हुआ है—ऐसा उपलब्ध भारतीय साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है। वेदो मे ज्वर के लिए प्रधानरूपेण 'तक्मा' पद का प्रयोग प्राप्त होता है। 'तकि'—'कृच्छ्र-जीवने' धातु से तक्मा पद बना है—जिसका अर्थ है—'प्राणी को कष्ट देनेवाला।' "ज्वलयति संतापयति देहेन्द्रियमनासीति ज्वर" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्वर शब्द का अर्थ "देहेन्द्रियमनस्तापी" होता है। देह, इन्द्रिय तथा मन का सन्ताप मनुष्य के जीवन को कष्टमय बना देता है अत "तक्मा" शब्द ज्वरवाची है—यह स्पष्ट हो जाता है। सायण ने तक्मन् या तक्मा की व्याख्या करते हुए भी स्पष्टरूपेण इसे 'कृच्छ्र-जीवनकारी ज्वर' कहा है। गुण (स्वरूप) भेद मे वेदो मे ज्वर के लिए निम्नलिखित नाम आते हैं—

१	तक्मन् (कृच्छ्रजीवनकारी)—	(अथर्व० १।२५।१–४)
		(,, ५।२२।१–१४)
		(,, ६।२०।१–३)
		(,, ७।१६।१–२)
२	अर्चि (ज्वालावाची)	(,, १।२५।२)
३	तपु (तपाने वाला)	(,, ६।२०।१)
४	शुष्मी (शोषण करने वाला)	(,, ,, ,,)
५	शोक. (तापक)	(,, १।२५।३)
६	अभिशोक (सतापक)	(,, ,, ,,)
७	अभिशोचयिष्णु (सब ओर से तपाने वाला)	(,, ६।७०।२)
८	रुद्र (रुलाने वाला)	(,, ,, ,,)
९	पाप्मा (क्षय करने वाला)	(,, ६।२६।३)
१०	अमर्त्य (नही मरने वाला)	(,, ,, ,, ,,)
११	वरुणस्य पुत्र (वरुण का पुत्र)	(,, १।२५।२)
१२	व्याल (सर्प की भाँति मारने वाला)	(,, ५।२२।६)
१३	विगद (विशेष रोग)	(,, ,, ,, ,,)

१४	व्यङ्ग (विकृताङ्ग करने वाला)	(,, ,, ,,)
१५.	हरितस्य देव (हरित वर्ण का देवता)	(,, १।२५।२)
१६	शीर्षशोकम् (शिर को पकड़ने वाला)	(,, १९।३९।१०)
१७	सहस्राक्ष (सहस्र नेत्रों वाला)	(,, ६।२६।२)
१८	प्रमीता (पकड़ने वाला)	(,, १।२०।२)
१९	हुडू (जिसके वेग मे हुँडु शब्द निकले)	(,, १।२५।२)
२०	शोचि (तापक)	(,, ,, ,,)
२१	तक्मा (कष्ट देने वाला)'	(,, ७।१६।१-२)

तक्मन्, तक्मा या ज्वर के प्रकारों का वर्णन भी वेदों मे प्राप्त होता है।

जैसे –

१ **अभ्रज ज्वर**—मेघ से उत्पन्न होने वाला कफ ज्वर।
२ **वातज ज्वर**—वात से उत्पन्न होने वाला वात ज्वर।
३ **शुष्माज्वर**—शोषक ज्वर।[1]
४ **अङ्ग ज्वर**—अङ्गों मे रहने वाला।
५ **अङ्गभेद ज्वर**—अङ्ग-मर्द को उत्पन्न करने वाला ज्वर।[2]
६ **परुष ज्वर**—त्वचा मे रूक्षता उत्पन्न करने वाला ज्वर।[3]
७ **शीत ज्वर**—शीतपूर्वक उत्पन्न होने वाला ज्वर।
८ **रूरु ज्वर**—रुलाने वाला, दाहपूर्वक उत्पन्न होने वाला पित्त ज्वर।
९ **तृतीयक ज्वर**—तीसरे दिन आने वाला ज्वर।
१० **वितृतीयक ज्वर**—चौथे दिन आने वाला चातुर्थिक ज्वर।
११ **सदन्दि ज्वर**—सदा रहने वाला – सतत ज्वर।
१२ **शारद ज्वर**—शरद् ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर।
१३ **वार्षिक ज्वर**—वर्षा ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर।

---

१. यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचता पर्वतौश्च।
शं मे परस्मै गात्राय शमत्वराय मे। शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे ३ मम॥
(अथ. का १।१२। ३-४.)

२ अङ्गभेदमङ्गज्वर विश्वाङ्गय विसल्पकम्
सर्वं शीर्षण्य ते रोग वहिर्निर्मन्त्रयामहे। (अथ. का ९।८।५)

३. य परुष. पारुषेयोऽध्वस इवारुण। तक्मान विश्वधावीर्याधराञ्च परासुवा।
(अथ का ५।२२।३)

४. यस्त्व शीतोऽथो रूर' महकासावेपय।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभि स्म परि वृङ्धि न.॥ (अथ का ५।२२।१०)

१४ **ग्रैष्म ज्वर**—ग्रीष्म ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर।[1]

१५. **विश्व शारद ज्वर**—शरद् ऋतु मे विश्वरूप-(व्यापक रूप मे) फैलने वाला ज्वर।[2]

१६ **अन्येद्युः ज्वर**—अन्येद्युष्क ज्वर।

१७ **उभयेद्युः ज्वर**—उभयेद्यु ज्वर।[3]

१८ **अरुण ज्वर**—लाल ज्वर (मसूरिका आदि या स्कारलेट फीवर)

१९ **बभ्रु ज्वर**—पीत ज्वर (Yellow fever)

२०. **वन्य ज्वर**—वन मे रहने से उत्पन्न होने वाला ज्वर।[4]

२१ **च्यवन ज्वर**—स्वेद उत्पन्न करने वाला ज्वर।

२२ **चोदन ज्वर**—इधर उधर दौड़ने वाला ज्वर।[5]

२३ **अव्रत ज्वर**—विषम ज्वर।

२४ **धृष्णु ज्वर**—धृष्टतापूर्वक चढने वाला ज्वर।[6]

२५ **हायन ज्वर**—धान पकने के अवसर पर उत्पन्न होने वाला ज्वर।[7]

विभिन्न प्राणियों मे ज्वर के नामः—यह ज्वर जब हाथियो को आक्रान्त करता है तो उसका नाम 'पाकल', जब घोड़ो को आक्रान्त करता है तब 'अभिताप', तथा गौओं मे 'ईश्वर' और जब मनुष्यो को आक्रान्त करता है तब 'ज्वर' कहलाता है। बकरे तथा भेडो मे होने वाले ज्वर की 'प्रलाप' संज्ञा है। ऊँटो मे जब यह ज्वर होता है तब इसे 'अलस' कहते हैं। महिषों (भैंसो) मे

---

१. तृतीयक वितृतीय सदन्दि मुत शारदम्।
तक्मान शीत रूर ग्रैष्म नाशय वार्षिकम्॥ (अथ का ५।२२।१३)

२. यस्य भीम प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्।
तक्मान विश्वशारद वहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ (अथ. का ९।८।६)

३. नम. शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाम नमो अस्तु तक्मने॥ (अथ. का १।२५।४)

४. अध यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोति।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नम. कृणोमि वन्याय तक्मने॥ (अथ का ६।२०।३)

५. नमो रूराय च्यवनाय, चोदनाय धृष्णवे। नम· शीताय पूर्वकामकृत्वने। यो अन्येद्यु-रुभयद्युरभ्येतीय मण्डूकमभ्येऽत्वव्रत। (अथ. का ७।११६।१८)

६. शीर्षशोकं तृतीयक सदन्दिर्यश्च हायन.। तक्मान विश्वधा वीर्याधराध्य परासुव।
(अथ. का १९।३९।१०)

७. यह २५ प्रकार के ज्वरों का उल्लेख उपलक्षण मात्र है। वैदिक वाङ्मय में इनके अतिरिक्त भी ज्वरों के प्रकार तथा स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है। इनका यथास्थल वर्णन किया जाएगा।

१४	व्यङ्ग (विकृताङ्ग करने वाला)	(,, ,, ,,)
१५	हरितस्य देव (हरित वर्ण का देवता)	(,, १।२५।२)
१६	शीर्षशोकम् (शिर को पकड़ने वाला)	(,, १९।३९।१०)
१७	सहस्राक्ष (सहस्र नेत्रो वाला)	(,, ६।२६।३)
१८	प्रभीता (पकड़ने वाला)	(,, १।१२।२)
१९	हुहू (जिसके वेग मे हुँहुँ शब्द निकले)	(,, १।२५।२)
२०	शोचि (तापक)	(,, ,, ,,)
२१.	तक्मा (कष्ट देने वाला)	(,, ७।१६।१-२)

तक्मन्, तक्मा या ज्वर के प्रकारो का वर्णन भी वेदो मे प्राप्त होता है। जैसे –

१ **अभ्रज ज्वर**—मेघ से उत्पन्न होने वाला कफ ज्वर।
२ **वातज ज्वर**—वात से उत्पन्न होने वाला वात ज्वर।
३ **शुष्माज्वर**—शोषक ज्वर।[1]
४ **अङ्ग ज्वर**—अङ्गो मे रहने वाला।
५ **अङ्गभेद ज्वर**—अङ्ग-मर्द को उत्पन्न करने वाला ज्वर।[2]
६ **परुष ज्वर**—त्वचा मे रूक्षता उत्पन्न करने वाला ज्वर।[3]
७ **शीत ज्वर**—शीतपूर्वक उत्पन्न होने वाला ज्वर।
८ **रुरु ज्वर**—रुलाने वाला, दाहपूर्वक उत्पन्न होने वाला पित्त ज्वर।
९ **तृतीयक ज्वर**—तीसरे दिन आने वाला ज्वर।
१० **वितृतीयक ज्वर**—चौथे दिन आने वाला चातुर्थिक ज्वर।
११ **सदन्दि ज्वर**—सदा रहने वाला – सतत ज्वर।
१२ **शारद ज्वर**—शरद् ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर।
१३ **वार्षिक ज्वर**—वर्षा ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर।

---

१ यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचता पर्वतांश्च।
श मे परस्मै गात्राय शमत्वराय मे। शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे इ मम॥
(अथ. का १।१२। ३-४.)

२ अङ्गभेदमङ्गज्वर विश्वाङ्गय विसल्पकम्
सर्वं शीर्षण्य ते रोग बहिर्निर्मन्त्रयामहे। (अथ. का ९।८।५)

३ य परुष पारुषेयोऽध्वस इवारुण। तक्मान विश्वधावीर्याधराञ्च परासुवा।
(अथ का ५।२२।३)

४ यत्त्व शीतोऽथो रूर सहकामावेपय।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभि. स्म परि वृङ्धि न॥ (अथ का ५।२२।१०)

१४ **ग्रैष्म ज्वर**—ग्रीष्म ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर।[1]

१५ **विश्व शारद ज्वर**—शरद् ऋतु मे विश्वरूप-(व्यापक रूप में) फैलने वाला ज्वर।[2]

१६ **अन्येद्युः ज्वर**—अन्येद्युष्क ज्वर।

१७ **उभयेद्युः ज्वर**—उभयेद्यु ज्वर।[3]

१८ **अरुण ज्वर**—लाल ज्वर (मसूरिका आदि या स्कारलेट फीवर)

१९ **बभ्रु ज्वर**—पीत ज्वर (Yellow fever)

२० **वन्य ज्वर**—वन मे रहने से उत्पन्न होने वाला ज्वर।[4]

२१ **च्यवन ज्वर**—स्वेद उत्पन्न करने वाला ज्वर।

२२ **चोदन ज्वर**—इधर उधर दौड़ने वाला ज्वर।[5]

२३ **अव्रत ज्वर**—विषम ज्वर।

२४ **धृष्णु ज्वर**—धृष्टतापूर्वक चढने वाला ज्वर।[6]

२५ **हायन ज्वर**—धान पकने के अवसर पर उत्पन्न होने वाला ज्वर।[7]

विभिन्न प्राणियों मे ज्वर के नामः—यह ज्वर जब हाथियो को आक्रान्त करता है तो उसका नाम 'पाकल', जब घोड़ो को आक्रान्त करता है तब 'अभिताप', तथा गौओ मे 'ईश्वर' और जब मनुष्यो को आक्रान्त करता है तब 'ज्वर' कहलाता है। बकरे तथा भेडो मे होने वाले ज्वर की 'प्रलाप' संज्ञा है। ऊँटो मे जब यह ज्वर होता है तब इसे 'अलस' कहते हैं। महिषों (भैंसो) मे

---

१ तृतीयक वितृतीय सदन्दि मुत शारदम्।
तक्मानं शीत रूर ग्रैष्म नाशय वार्षिकम्॥ (अथ. का ५।२२।१३)

२. यस्य भीम प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्।
तक्मान विश्वशारदं वहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ (अथ का ९।८।६)

३ नम शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाम नमो अस्तु तक्मने॥ (अथ. का १।२५।४)

४ अयं यो अभिशोचयिष्णुविश्वा रूपाणि हरिता कृणोति।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नम. कृणोमि वन्याय तक्मने॥ (अथ का ६।२०।३)

५. नमो रूराय च्यवनाय, चोदनाय धृष्णवे। नम शीताय पूर्वकामकृत्वने। यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीय मण्डूकमभ्येऽत्वव्रत। (अथ. का ७।११६।१८)

६. शीर्षशोक तृतीयक सदन्दिर्यश्च हायन.। तक्मान विश्वधा वीयाधराञ्च परासुव।
(अथ का १९।३९।१०)

७. यह २५ प्रकार के ज्वरों का उल्लेख उपलक्षण मात्र है। वैदिक वाङ्मय में इनके अतिरिक्त भी ज्वरों के प्रकार तथा स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है। इनका यथास्थल वर्णन किया जाएगा।

होने पर यह 'हारिद्र' और मृगो मे होने पर 'मृगरोग' कहा जाता है। पक्षियो को आक्रान्त करने पर इसे 'अभिघात' कहते हैं, और मत्स्यो मे होने पर 'इन्द्रमद' कहलाता है। कीट-पतङ्गो का ज्वर 'पक्षपात' तथा सरीसृप (सांपो) का ज्वर 'अक्षिक' कहलाता है।—इत्यादि।' इस प्रकार ज्वर क्षुद्रप्राणी—कीट पतङ्ग से ले कर उच्च प्राणी—मनुष्य तक को आक्रान्त करता है और उनके जीवन को कष्टमय बनाता है।

ज्वर प्राणधारियो के जन्म तथा मरण दोनो काल मे अपना स्वरूप प्रगट करता है। यह "महामोह" कहलाता है क्योंकि, इसके द्वारा आक्रान्त होने पर प्राणिमात्र अपने पूर्वजन्मकृत कर्मों को भूल जाता है। सब प्राणधारियो के प्राण को ज्वर ही अन्त मे शरीर से बाहर करता है। अत यह सब रोगो का 'अधिपति' कहा गया

देवता और मनुष्यो के अतिरिक्त अन्य प्राणी इस ज्वर को सहन नहीं कर सकते। कर्म के कारण ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है और उन कर्मों का

---

१. (अ) पाकल स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम्। गवामीश्वरसंज्ञस्तु मानवाना ज्वरो मत ॥ अजावीना प्रलापाख्य करभेष्वलसो मत । हारिद्रो महिषाणा तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मत । पक्षपात. पतङ्गाना व्यालेष्वक्षिकसंज्ञक ।

(आ) देहिना-ज्वर'। गवा-ईश्वराख्या। चतुष्पाच्छ्वापदेषु च-इन्द्रजाल। शकुनाना-प्रमीलक। सर्वधान्येषु-चित्रक'। मूलफलेषु-ग्रव.। हस्तिनाना पाकला.। भे-स सू १०। पालकाप्यसंहिताया तु-हयेषु-अभिताप.। खरेषु-तोरक। गोपु-ईश्वर। उष्ट्रेषु-अलसक। व्याघ्रेषु-अक्षिक। अजादिषु-प्रलापक। सरीसृपेषु-कुष्णीप.। महिषेषु-हारिद्रक। मृगेषु-मृगरोगा। पक्षिषु-अवताप। पतङ्गेषु-पक्षपात। शुनेषु-अलर्क'। मत्स्येषु-इन्द्रमद। गुरभेषु-गुच्छक। ओषधिवनस्पतिषु-ज्योतिष्क। माल्येषु-पर्वक। नलिनीषु-ऋषभक.। धान्येषु-चूर्णक। कोद्रवेषु-लल। शाकेषु-मधुक'। भूम्यान्-ऊषर.। अप्सु-नीलिका। गजेषु-पाकल। (इत्येव पालकाप्ये)

(इ) ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभव., सर्वप्राणभृता प्राणहरो, देहेन्द्रियमनस्तापकर, प्रज्ञाबलवर्णहर्षोत्साहह्रासकर., श्रमक्लमभोहाहारोपरोधसंजनन, ज्वरयति शरीराणीति ज्वर'। नान्ये व्याधयस्तथा दारुणा, बहुपद्रवा दुश्चिकित्स्याश्च यथाऽयम्। स सर्वरोगाधिपति नाना तिर्यग्योनिषु च बहुविधै शब्दैरभिधीयते। सर्वे प्राणभृत सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च स महामोह तेनाभिभूता प्राग्दैहिक देहिन. कर्म किंचिदपि न स्मरन्ति। सर्वप्राणभृता च ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते।

(च. स. नि. स्था अ. १ सूत्र ३५)

भोग समाप्त हो जाने पर वह पुन देवत्व से च्युत हो मनुष्यत्व को प्राप्त होता है। अतएव उसमे देवभाव होने से ज्वर के वेग को वह सहन कर सकता है।[१]

ज्वरोत्पत्ति का पौराणिक वर्णन :—उपलब्ध सभी आर्षसहिताओमे ज्वर की उत्पत्ति का वर्णन एक ही समान प्राप्त होता है अर्थात्—रुद्र (भगवान् शकर) की क्रोधाग्नि से त्रेतायुग मे ज्वर उत्पन्न हुआ। दक्ष प्रजापति ने भगवान् शंकर (जो उनके जामाता थे) का अपमान अपने यज्ञ मे भाग न दे कर किया, जिससे क्रुद्ध हो रुद्र रूप धारण कर अपने तृतीय नेत्र से दक्ष-यज्ञ को ध्वस करने के लिए उन्होंने "बाल" नामक राक्षस को उत्पन्न किया। इस राक्षस के द्वारा दक्ष के यज्ञ का ध्वस करने के बाद, भगवान् शकर के मनोरथ के पूरा हो जाने पर तथा इस ध्वस से सतप्त देवताओ के प्रार्थना करने पर भगवान् शकर शिवभाव मे आए। तब इस राक्षस ने उनसे अपने भविष्य के कार्य की आज्ञा माँगी। भगवान् शकर ने आज्ञा दी कि तुम मर्त्यलोक मे जा कर ज्वर होओ और प्राणियो के जन्म के आदि मे तथा अन्त मे अथवा अपचार करने पर उनमे प्रवेश करना—इत्यादि।[२]

महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन सरस्वती ने इसको रूपक मान कर इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'दक्ष' वायु रूपक है। शंकर भगवान् का क्रोध अग्नि या शरीरस्थ पित्त का रूपक है। प्राणि शरीर मे पित्त और कफ पगु है, इन्हे वायु ही मेघ के समान शरीर के विविध अवयवो मे ले जाता है तथा उनसे विभिन्न कार्य का सम्पादन कराता है। ज्वर शरीर मे वृद्ध सन्ताप या ऊष्मा का ही अवान्तर रूप है। अत दक्षापमान से वायु के कोप का सकेत उक्त पौराणिक वर्णन मे किया गया है। अर्थात् प्रकुपित वायु ही अग्नि या पित्तस्वरूप रुद्रकोप को उद्रिक्त करता है, जिससे उद्रिक्त पित्त रसानुग हो प्राणिशरीर मे प्रवहित होता हुआ रस-रक्त को उष्ण कर सम्पूर्ण शरीर को सतप्त कर देता है। इस प्रकार शरीर के सतप्त (उष्ण) हो जाने पर शरीर मे ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है।[३]

---

१ ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्··· ।
तस्मात् ते देवभावेन सहन्ते मानुषा ज्वरम्। (सु उ त अ. ३९)

२ (अ) च चि अ ३. श्लोक १५–२५ तक।
(आ) सु उ त अ. ३९–९, १०।
(इ) वा नि अ. २–१, २।

३ सि. नि. प्र. भाग—ज्वराधिकार।

ज्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदों में वर्णन :—

अथर्ववेद मे कहा गया है कि, जब जाठराग्नि (अग्नि)—सन्तप्त जल मे प्रवेश करके उसे सतप्त करती है और वह सतप्त जल शरीरधारियो के शरीर मे प्रवाहित होता है तब शरीर सतप्त हो जाता है। इस सन्ताप को ज्वर कहते है। इसका ही नाम तक्मन् (तक्मा) है।[1] जठराग्नि से ज्वरोत्पत्ति का सकेत करने वाले अनेक मत्र अथर्ववेद मे यत्र-तत्र मिलते हैं। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थो मे भी इसका समर्थन "कोष्ठाग्नि बहिर्निरस्य"—आदि पदो के द्वारा प्राप्त होता है।

महाभारत में ज्वरोत्पत्ति का वर्णन :—

दक्ष प्रजापति के अश्वमेध यज्ञ मे अपने पति महादेव को न जाने देख पार्वती (सती) जी ने प्रश्न किया कि क्या कारण है कि सभी देवता इस यज्ञ मे आमन्त्रित हुए हैं परन्तु आपको आमन्त्रित नही किया गया। शकर भगवान् ने समझाया कि देवताओ ने ऐसा ही निश्चय किया है कि यज्ञ मे मुझे भाग न मिले। इस पर उमा (पार्वती—सती) ने अपना अपमान समझ और भगवान् शकर को अपमानित जान उन्हे प्रतिशोध के लिए प्रेरित किया, जिससे भगवान् शकर ने अपने योगबल से अपने सेवको के द्वारा दक्ष के यज्ञ का ध्वस करा दिया। इस यज्ञ-ध्वस से भयकर उत्पात हुए। इस उत्पात को देख यज्ञ मृग का रूप धारण कर आकाश मार्ग मे भागने का यत्न करने लगा। यज्ञ को मृग का रूप धारण कर भागते देख भगवान् ने धनुष हाथ मे ले कर उसका पीछा किया तत्पश्चात अमित तेजस्वी देवेश्वर महादेव के ललाट से क्रोधवश भयकर स्वेद-बिन्दु प्रगट हुआ। उस स्वेद-बिन्दु के पृथ्वी पर पडते ही कालाग्नि के समान विशाल अग्निपुञ्ज का प्रादुर्भाव हुआ। इस अग्नि से एक भयकर पुरुष उत्पन्न हुआ जिसे देख कर सभी देवगण अपना अपना स्थान छोड भागने लगे। तत्पश्चात् सभी देवो ने भगवान् शकर की प्रार्थना की और कहा कि भविष्य मे सभी यज्ञो मे आपका भी भाग अवश्य दिया जाएगा। तब भगवान् शकर शिवरूप मे आस्थित हो कर बोले कि यह स्वेदबिन्दु से उत्पन्न भयंकर पुरुष लोक मे 'ज्वर' हो कर वास करेगा। पुन प्रसन्नचित्त भगवान् शकर ने उसे सब प्राणियो मे

---

१. (अ) अत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्। (च नि अ १)

(आ) ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च।
एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ॥

वेभक्त कर दिया। उसका नाम भी विभिन्न प्राणियो मे अलग अलग रखदिया। (विस्तृत विवरण महाभारत शा० प० अ० २८३ मे देखे। पूर्वोक्त नामो से इनमे भिन्न ही नाम दिए गए है।)

उपर्युक्त वैदिक तथा पौराणिक वर्णनो मे यह सकेत प्राप्त होता है कि ज्वर शरीर मे बढे हुए ताप का नाम है तथा शरीर की तापवृद्धि का सम्बन्ध मानसिक तथा शारीरिक दोनो प्रकार की विकृतियो से है। रुद्र के क्रोधाग्नि मे ज्वर की उत्पत्ति का सकेत पौराणिक वर्णनो से तथा जठराग्नि की विकृति से ज्वरोत्पत्ति का सकेत वैदिक वर्णनो से प्राप्त होता है।

उपलब्ध आयुर्वेदीय साहित्य के अवलोकन से "ज्वर" शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया गया प्रतीत होता है। सामान्यरूपेण ज्वर शब्द रोगवाची है। जैसे—व्याधि, आमय, गद, आतङ्क, यक्ष्मा, ज्वर, विकार ये सब पर्य्याय कहे गए हैं। विशेष रूप मे ज्वर दो पारिभाषिक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे (१) सन्तापवाची अर्थात् शरीरोष्मा की वृद्धि के अर्थ मे। यह लक्षण रूप है। शरीर के बाह्य तथा आभ्यन्तर अवयवो मे उनके जैव-व्यापार को अक्षुण्ण रखने के लिए नियत ऊष्मा उनमे विद्यमान होती है। किसी भी कारणवश जब यह ऊष्मा अपने प्रकृत रूप से वृद्ध या अधिक होती है तो उस अवयव को अधिक उष्ण कर उसमे सन्ताप उत्पन्न कर देती है। यह वृद्ध सन्ताप ही ज्वर कहलाता है। (२) ज्वर रोगवाची-ज्वर—अर्थात् ऐसे लक्षणो का समूह जो ज्वर रोग कहलाता है।[1]

ज्वर का प्रत्यात्म लिङ्ग :—

देह, इन्द्रिय तथा मन का सन्ताप ज्वर का प्रत्यात्म लिङ्ग अर्थात् प्रत्येक ज्वर मे अव्यभिचारी रूप से होने वाला लक्षण है।[2] ससार का ऐसा कोई प्राणी

---

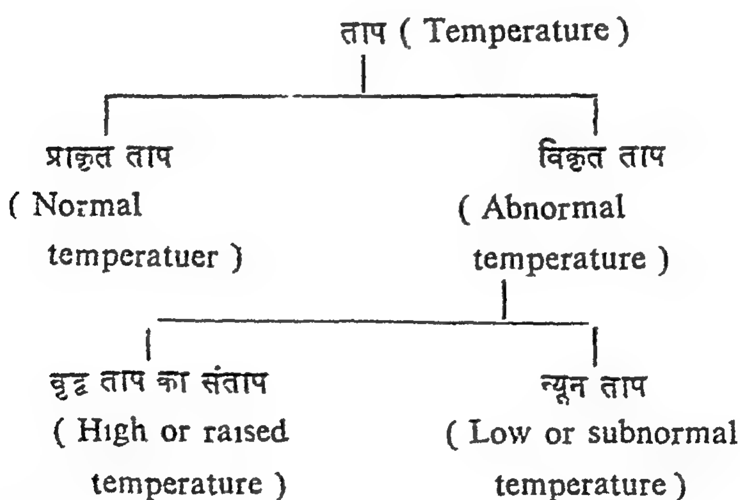
१ (१) ज्वरस्तु खलु एक एव सन्तापलक्षण । (चरक स०)
(२) स्वेदावरोधः सन्ताप सर्वाङ्गग्रहण तथा ।
युगपद्यत्र रोगे स्यात् । (विकारा युगपद्यस्मिन्)
ज्वर स परिकीर्त्तित. । (स ज्वरो व्यपदिश्यते ।)
(सु उ त. अ. ३९ तथा मा नि. के पाठ ।)

२ (१) ज्वरप्रत्यात्मिक लिङ्ग सन्तापो देहमानस ।
ज्वरेणाविशता भूत न हि किञ्चिन्न तप्यते ॥ (च चि. अ ३)
(२) देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वर. प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥ (च चि. अ. ३)
(३) शारीरो जायते पूर्वं देहे, मनसि मानस । इन्द्रियाणा च वैकृत्य ज्ञेय सन्ताप-लक्षणम्। वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्ताप-लक्षणम् । (च चि. अ ३)

नही जो ज्वराक्रान्त होने पर उष्णगात्र नही होता हो। शरीर के स्वाभाविक सन्ताप-गरमी (Temperature) से अधिक सताप, जिसका अनुभव स्पर्श द्वारा होता है और तापमापक यन्त्र (thermometer) से भी होता है वह देह सन्ताप कहलाता है। इन्द्रियो की विकृति होना अर्थात् उनके स्वभाव मे विकृति हो जाना – अपने विषयो को यथावत् ग्रहण न करना—इन्द्रिय-सन्ताप कहलाता है। यही इनके लक्षण हैं। इसी प्रकार वैचित्य (मन की व्याकुलता), अरति (बेचैनी), ग्लानि (मन की शिथिलता अवसाद तथा अहर्ष) मानस सन्ताप के लक्षण है।

सन्ताप :—

सन्ताप को ज्वर का प्रभाव कहा गया है। शरीर का प्राकृत ताप जब बढ जाता है तो उसे सन्ताप कहते हैं। अत विकृत ताप दो प्रकार का होता है – जैसे–



प्राकृत ताप (Normal temperature) .—

शरीर तथा शरीरावयवो के जीवन व्यापार को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जो ऊष्मा शरीर मे रहती है उसका नाम प्राकृत ताप है। यह ऊष्मा शरीर के निम्नांकित केन्द्रो तथा व्यापारो द्वारा नियन्त्रित रहती है। जैसे (१) मस्तिष्क स्थित ऊष्मा केन्द्र (Centre in the subthalamic

(४) देहमानस दैहिक मानसश्च सन्ताप देहेन्द्रियमनस्तापक. (च नि अ. १) ... इन्द्रियाणां देहेऽवरोध । ज्वरस्य प्रत्यात्मिक लिङ्ग प्रति ज्वरमव्यभिचारि त्वात् । इन्द्रियाणां वैकृत्य विकृति स्वभावान्यथात्व, नच यथास्वमर्थग्रहणादनुमेयम् । (योगेन्द्रनाथ)

region) (२) दैहिक जीवरासायनिकक्रिया (Bio-chemical activities) जिससे शरीरोष्माका निर्माण होता है तथा (३) त्वचा की ऊष्मप्रसारणशीलता — (Skin radiation),), स्वेद, श्वास तथा प्राकृतिक मलनिःसरण व्यापार जिससे ऊष्मा का ह्रास होता रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर का प्राकृत ताप शरीर मे उत्पन्न ताप तथा उक्त व्यापारो द्वारा शरीर से ह्रास होने वाले ताप का शेष (बचा हुआ)–'ताप' है। शरीर के अन्दर ताप की उत्पत्ति प्रधानत उदर प्रदेश के अवयवो मे (In the organs of abdomen) तथा मासपेशियो मे सात्मीकृत पदार्थो (Assimilated food) के जारण प्रक्रिया वश (Due to oxidation) होती है तथा ताप का ह्रास प्रधान रूप से त्वचा द्वारा एव अशत फुफ्फुसो के द्वारा होता है। त्वचा का ताप अन्त परिसरीय रक्तवाहिनियो (Peripheral vessels) के सकोच और विस्तार पर तथा परिसरण (Radiation), परिवहन (Conduction) एव परिचलन (Convection) और स्राव (Secretion) तथा स्वेद के वाष्पीभवन पर निर्भर करता है। ताप के ह्रास का नियन्त्रण विशेष रूप से वातावरण (Atmosphere) की अवस्था पर निर्भर करता है। आर्द्रवायु शुष्कवायु की अपेक्षा अधिक परिवाहक होने के कारण अधिक ताप का ह्रास करता है। परन्तु वह स्वेद का वाष्पीकरण अपेक्षाकृत न्यून करता है। यही कारण है कि तापाश के न्यून होने पर भी मनुष्य आर्द्रवायु की उपस्थिति मे (वर्षा ऋतु मे) अधिक गरमी का अनुभव करता है।

विकृत ताप — (Abnormal temperature) —

यह दो प्रकार का होता है। यथा—(१) वृद्धताप या सताप और (२) न्यून ताप। वृद्ध या अधिक ताप का ही नाम सताप या ज्वर है। यह सन्ताप अधोलिखित कारणो से हो सकता है—

(१) शरीर मे आमदोष या विष (Toxin) की उपस्थिति होने से। यह विष, धातुक्रिया की विकृति (Metabolic) तथा जीवाणुजन्य (Bacterial) दोनो से सभव है। इस आमदोष या विष की उपस्थिति से तापोत्पादक केन्द्र क्षुब्ध हो जाता है और मलनिःसरण न्यून हो जाता है जिससे तापोत्पत्ति अधिक और ताप का ह्रास न्यून हो जाता है। परिणामस्वरूप शरीर मे ताधिक्य होने से शरीर सतप्त हो जाता है। यह रुग्ण अवस्था ज्वर कहलाती है। आमदोष की उत्पत्ति का वर्णन प्रथम भाग मे विस्तृत रूप से किया जा चुका है।

वस्तुत ताप का औसत मान जो ९८.४° फारनहाइट लिखा होता है वह मुख का ही ताप है। गुदा में इससे एक अंश ताप अधिक होता है। मुख में ताप लेते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि ताप लेने के पूर्व (½ घण्टा) कोई उष्ण अथवा हिम सदृश शीत पदार्थ तो नहीं लिया हुआ है। बच्चों में गुदा प्रदेश में तापशलाका का प्रयोग करना अधिक तापज्ञानार्थ आवश्यक होता है। साधारणतया प्रातःकाल का तापांश सन्ध्या-काल के तापांश से लगभग १ अंश न्यून पाया जाता है।

ज्वर की प्रत्येक अवस्था में कई बार ताप का लेना उचित है। सामान्य रूप से यदि दो बार ताप लेना हो तो सर्वोत्तम समय प्रातः ६ बजे तथा सायं ६ बजे है। सभी सन्तत ज्वरों में जिनमें ज्वरों का वेग एक या अधिक बार विषम होता हो तो कम से कम चार-चार घण्टे पर तापमान आवश्यक है। यह समय सामान्यतः ६–१०–२–६–१० होता है।

सन्ताप ज्वर का प्रभाव है यह पहिले कह चुके हैं। इस अवस्था में आधारभूत समवर्त्त (धातुक्रिया – Metabolism) बढ़ जाता है विशेष कर उस समय में जब ज्वर कम्प के साथ होता है। समरोगी ज्वरों में सवर्द्धन का अनुपात ज्वर के वेग के अनुसार होता है। जब ज्वर अधिक काल तक रहता है तब प्रोभूजिन (Protein) का अधिक क्षय, शर्करा (Carbohydrate) का न्यून पाक तथा वसा का भी अधिक ह्रास होने लगता है। वसाम्ल कणों के सम्यक् जारण (उचित मात्रा में जारण) में कमी होने से (या बाधा होने से) मूत्र में अधिक अम्लपदार्थोत्पत्ति होने लगती है तथा मूत्र में नवसादर (एमोनिया) की वृद्धि होने लगती है। लवणों का निष्कासन न्यून हो जाता है जिससे रक्त में लवण सचय होने लगता है। रक्त में साधारण लवण (Sodium chloride) का एकत्रीकरण (Concentration) भी कम हो जाता है।

इन उपर्युक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, ज्वर (सन्ताप रूप ज्वर) स्वय कोई रोग नहीं अपितु शरीर की आन्तरिक अवस्था को सूचित करने वाला एक लक्षण मात्र है। कहा भी है – "ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षण" (चरक)। यहाँ ज्वर लक्षणमात्र है। रोग या विकार तो वस्तुतः शरीर के अन्दर ज्वरोत्पादक (सन्तापोत्पादक) विष (आमविष या जीवाणुजन्य विष) का एकत्र होना है। इस एकत्रित विष को नष्ट करने (जला देने) के लिए शरीर में ऊष्मा की वृद्धि होती है। अतः ज्वर होने का अर्थ है शरीर में एकत्र हुए आम विष और देहप्रकृतिरक्षिणी में आरब्ध सग्राम के फलस्वरूप उक्त

विष-दहनार्थ ऊष्मोत्पत्तिजन्य सन्ताप—या तापमान की वृद्धि। वस्तुत' शरीर को नीरोग करने का जो प्रयत्न चल रहा होता है उसका ही सूचक ज्वर होता है।

शरीर मे आमदोष या विष हमारे मिथ्याहार-विहार के कारण ही उत्पन्न होता है। हमारे अन्न-पान मे अनेक प्रकार के जीवाणु सम्मिलित हो शरीर के अन्दर प्रवेश करते हैं तथा वहाँ जा कर विष वमन करते हैं। कुछ जीवाणु श्वास के द्वारा भी शरीर मे प्रवेश करते हैं। इस प्रकार हमारे मिथ्याहार-विहारवश असावधानी से आमदोष की उत्पत्ति तथा जीवाणुओ का उपसर्ग हमारे शरीर मे होता है जिसे नष्ट करने के लिए शरीर का सन्ताप बढता है। यह वृद्ध ताप या सन्ताप ही लक्षणरूप ज्वर है। शरीर मे उक्त कारणो मे जब ताप की वृद्धि होती है तब उस अप्राकृतिक ताप (सताप) के कारण मन और इन्द्रियाँ भी सन्तप्त हो जाती हैं। अतएव हमारे आचार्यो ने ज्वर का प्रत्यात्म लिङ्ग या रूप (किंवा स्वरूप) बतलाते हुए कहा है कि, "देहेन्द्रियमनन्तापी सर्वरोगाग्रजो बली। ज्वर प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा।" (चरक) तथा "ज्वरप्रत्यात्मकं लिङ्ग सन्तापो देहमानस। ज्वरेणा-विशता भूत न हि किंचिन्न तप्यते।" (चरक)—इस वर्णन मे "देह-इन्द्रिय-मनस्तापी" ज्वर का विशेषण दिया गया है और उसे 'सर्वरोगाग्रज' कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसके सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि ज्वर से आक्रान्त ऐसा कोई प्राणी नहीं जो संतप्त नही होता हो। अर्थात् ज्वर से शारीरिक और मानस उभयविध ताप अवश्य होता है।

शारीरिक ताप का वर्णन करते हुए कहा है कि, "शारीरो जायते पूर्व देहे" अर्थात् शारीर सन्ताप पहिले देह मे—त्वाची सन्ताप लक्षण के रूप मे प्रकट होता है। इस विकार मे मन पीछे आक्रान्त हो सकता है यही शारीर ताप का विशिष्ट लक्षण है। अभिप्राय यह है कि, शारीर सन्ताप (ज्वर) मे भी मन सन्ताप हो सकता है परन्तु बाद मे। मानस या मन सन्ताप मे पहिले मन सतप्त होता है और बाद मे शरीर सतप्त होता है। मन अपने दोष रज और तम मे दुष्ट होता है बाद मे शारीर दोष वात, पित्त, कफ भी शरीर को दुष्ट करते हैं। मानस सन्ताप का लक्षण वैचित्य—मन की व्याकुलता, अरति—बेचैनी, और ग्लानि-हर्ष (आनन्द) का क्षय है। इसी प्रकार इन्द्रिय-सन्ताप मे इन्द्रियो की विकृति—अर्थात् इन्द्रियो का अपने विषयो को ग्रहण करने मे असमर्थ होना—ये लक्षण होते है।

ज्वर को आधुनिक चिकित्सक अंग्रेजी भाषा मे फीवर कहते है। फीवर का वर्णन करते हुए आधुनिक विज्ञान कहता है कि, फीवर शरीर की वह दशा

है जो सम्पूर्ण शरीर के वृद्ध ताप के द्वारा जानी जाती है। तथा जिसमें प्राकृत स्रावों (Secretions) तथा शोषण (Absorption) में बाधा होने से अन्य शारीरिक लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं।[१] त्वचा के सन्ताप लक्षण रूप ज्वर के लिए आधुनिक विज्ञान "पायरेक्सिया" (Pyrexia) शब्द का व्यवहार करता है। इसकी परिभाषा में कहा गया है कि यह ताप की वृद्धि को—जो ज्वर का एक अंश है, अभिव्यक्त करता है।[२]

आयुर्वेद में ज्वर रोग को स्वेदावरोध, संताप तथा सर्वाङ्ग ग्रहण — इन तीन लक्षणों का समूह माना है। इन तीन लक्षणों के युगपद् होने पर ही इस रोग की पारिभाषिक ज्वर संज्ञा सम्भव है।[३] अर्थात् ज्वर रोग के लिए उपर्युक्त तीन लक्षण आवश्यक है। स्वेदावरोध (पसीने के निकलने में रुकावट) इस तथ्य का संकेत करता है कि प्राकृत स्रावों में बाधा होने से तथा मल (तथा किट्ट) निकलने की क्रिया में रुकावट होने से तापह्रास का कार्य मन्द हो गया है जिससे ताप का शरीर में सञ्चय हो ताप की वृद्धि हुई है। वृद्ध ताप के कारण शरीर के सभी अङ्गों में स्तब्धता—जकडाहट (सर्वाङ्ग ग्रहण) होना स्वाभाविक है। किसी आचार्य ने स्वेदावरोध का अर्थ अग्नि का मन्द होना भी किया है। उन्होंने पित्त ज्वर में प्रस्वेद लक्षण को देख ऐसा अर्थ निर्दुष्ट लक्षण बताने के लिए किया है। सन्ताप के स्वरूप तथा अवधि को सावधानी से देखना परम आवश्यक है। सम्भव है वह एकरूप रहने वाला अर्थात् समवेगी हो अथवा एकरूप न रहने वाला विषमवेगी हो। सन्ताप की अवधि भी अल्प-कालिक तथा दीर्घकालिक हो सकती है। पुनः दीर्घकालिक भी निरन्तर रहने वाला (अविसर्गी) तथा छूट-छूटकर होने वाला (विसर्गी), पुनरावर्त्तक — बारी-बारी आने वाला हो सकता है। अतः इसके स्वरूप तथा अवधि को ध्यानपूर्वक (सावधान हो) देखना परमावश्यक है। साथ ही इनके साथ होने वाले अन्य लक्षणों तथा उपद्रवों का भी निरीक्षण करते रहना चाहिए।

---

१. Fever is a condition characterised by a rise of temperature of whole body with constitutional symptoms due to disturbance in secretion and absorption

२. Pyrexia generally means only rise of temperature and thus form only a part of the manifestation of fever

(Text Book of Pathology)

३ स्वेदावरोध सन्तापः सर्वाङ्गग्रहण तथा।
(युगपद्यत्र रोगे स्यात् स ज्वरो व्यपदिश्यते।) मा. नि
विकारा युगपद्यस्मिन् ज्वरः स परिकीर्त्तितः। (सुश्रुत स. उ. त. अ. ९)

ज्वर के सन्तापयुक्त होने से इसका संक्रमण शरीर मे प्रदाह उत्पन्न करता है। वार-बार इसका संक्रमण शरीरावयवो को प्रदग्ध कर सकता है, ऐसी धारणा स्वाभाविक है। अतएव ज्वर को ज्वरहर (Antipyretic) औषधो से कम करने का आदेश आधुनिक चिकित्सको ने किया है। परन्तु परवर्त्ती चिकित्सको की धारणा अब इससे विपरीत होने लगी है। इसका कारण यह है कि अब वे इस तथ्य को समझने लगे हैं कि ज्वर शरीर की उस अवस्था तथा शरीर मे होने वाले व्यापार का सूचक है जो किसी अनुपादेय दोष या विष को शरीर से निकालने या नष्ट करने के प्रयत्न स्वरूप होता है। अतः तत्काल ज्वरहर औषध सामान्य रूप से निषिद्ध है। हमारे प्राचीन आचार्यो ने तो स्पष्ट रूप मे कहा है कि तरुण ज्वर मे तत्काल औषध देना निरापद नही।

ज्वर की प्रकृति :—

ज्वर की प्रकृति (समवायि कारण) शारीर तथा मानस दोष हैं। वात, पित्त तथा कफ ये तीन शारीर दोष हैं। रज और तम ये दो मानस दोष हैं। यहाँ दोष शब्द से दोनो प्रकार के दोषो का ग्रहण होता है। अत दोष-वैषम्य से वात, पित्त, कफ का एक ओर तथा दूसरी ओर रज और तम इन दोषो का वैषम्य समझना चाहिए। ये उभयविध दोष (शारीर तथा मानस) जब समावस्था मे रहते हैं तब समनस्क देह का धारण करते है अत ये धातु कहलाते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ही आचार्य ने आगे कहा है कि दोषरहित अर्थात् वातादि दोषो के विषमावस्था को प्राप्त हुए विना प्राणी को ज्वर नही होता।[1] दोषो का विषम होना ही रोग है।

ज्वर को 'यम' रूप कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने अपने पूर्व-जन्मकृत कर्मो के अनुसार क्लेश पाते हुए मनुष्यो की पंचत्व प्राप्ति के कारण मे क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा और मृत्यु ये यम रूप कहे गये हैं।[2] ये क्षय आदि पद रोगो के धर्म को बतलाने के लिए कहे गये है। जैसे—रोग से शरीर

---

१ (अ) 'तस्य (ज्वरस्य) प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषा शारीरमानसा. ।
देहिन न हि निर्दोष ज्वर. समुपसेवते ॥' (च. चि अ ३)
(आ) 'वायु पित्त कफश्चोक्त शारीरो दोषसग्रह ।
मानस पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥' (च. सू अ. १)

२ 'क्षयस्तमो ज्वर पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मका ।
पचत्वप्रत्ययानृणा क्लिश्यता स्वेन कर्मणा ॥' (च चि. अ ३)
' ·· 'इत्यस्य प्रकृति. प्रोक्ता' ·· ।' (चरक चि अ ३)

क्षीर्ण होता है अत इसे क्षय, मन को रोग मोह मे डालता है अत तम, शरीर मे यह सन्ताप उत्पन्न करता है अत. ज्वर और पाप (अशुभ या वर्जित) कर्म करने से इसकी उत्पत्ति होती है अत पाप्मा, तथा मृत्यु का हेतु होने मे यह मृत्यु कहलाता है।

ज्वर की प्रवृत्ति :—

ज्वर की प्रवृत्ति परिग्रह से होती है।[1] परिगह का अर्थ है परकीय पदार्थों का ग्रहण अर्थात् लोभ। लोभ (परिग्रह) मे रोगोत्पत्ति का वर्णन चरक सहिता सूत्रस्थान जनपदोध्वसनीय अध्याय मे विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है।[2] चरक निदान स्थान मे तथा इस पुस्तक मे वर्णित रुद्रकोप मे ज्वरोत्पत्ति बताई गई है। परिग्रह और रुद्रकोप से ज्वरोत्पत्ति को गुरुमुख मे समझ लेना चाहिए।

परिग्रह मे ज्वरोत्पत्ति :—परिग्रह लोभ को कहते हैं, यद्यपि परिग्रह का शाब्दिक अर्थ परकीय धन का अपहरण या ग्रहण है। परकीय धन के लेने का कारण लोभ ही होता है। लोभवश मनुष्य अनेक कुकृत्यो को करता है जिसका प्रभाव व्यक्ति तथा समाज पर पडता है। मिथ्याहार विहार जो ज्वर का कारण शास्त्रो मे बताया गया है उसका हेतु भी लोभ ही है। लोभवश ही मनुष्य आहार तथा विहार मे व्यत्यय करता है। जनपदोध्वंसनीयाध्याय मे लोभ नामक अधर्म से किस प्रकार व्याधियो की उत्पत्ति हुई उसका क्रमिक विकास दिखाया गया है।

ज्वर का प्रभाव :—

संताप, अरुचि, तृष्णा, अङ्गमर्द, और हृदय मे व्यथा का अनुभव होना, ये विकार ज्वर के प्रभाव कहे गये हैं।[3] तात्पर्य यह है कि ज्वर मे ये पाँच विकृतियाँ ज्वर-प्रभाववश होती हैं। अपथ्य सेवन से उत्पन्न ज्वरो के ये सामान्य लक्षण है। जन्म के आदि काल मे तथा मृत्यु के समय ज्वर का प्रभाव महत्तम हो जाता है। ज्वर के इस महत्तम प्रभाव से ही प्राग्दैहिक विषयो का स्मरण नही होता।

---

१ 'प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात्' (च चि अ. ३।१४)
'निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ।'
२ चक्रपाणि (च चि. अ. ३)
३ च चि अ ३।२६।

ज्वर के प्रकृति, प्रवृत्ति तथा प्रभाव के वर्णन की चिकित्सा में उपादेयता :—

प्रकृति शब्द का अर्थ चक्रपाणिदत्त ने स्वभाव किया है।[1] इसकी व्याख्या मे कहा है कि प्रकृति शब्द से उस कारण का ग्रहण होता है जिससे यह ज्वर अपना कार्य (शरीर मे विकार उत्पन्न करना) करता है। इसीलिए यहाँ प्रत्यासन्न कारणरूप प्रकृति का वर्णन किया गया है। आगे चल कर यह स्पष्ट किया है कि ये शारीर तथा मानस दोष ज्वर की प्रकृति किन कारणो से माने गए है। शारीर तथा मानस दोष ज्वर के प्रत्यासन्न कारण है क्योकि देहधारियो को ज्वर बिना किसी दोष के (दोष-वैषम्य तथा तत्कर्तृक मिथ्याहारविहार) नही आक्रान्त करता। पुन स्वभाव रूप ज्वर की प्रकृति का वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा है कि देह को क्षीण करने के कारण ज्वर की प्रकृति क्षय, मोह उत्पन्न करने के कारण तम, पाप कर्मो मे उत्पन्न होने के कारण पाप्मा, देहधारियो को मारने के कारण मृत्यु, सताप उत्पन्न करने के कारण ज्वर, ये यमस्वरूप ज्वर के प्रकृति अर्थात् स्वभाव हैं। ज्वर के ये उपर्युक्त सभी स्वभाव प्राणिधारी को पञ्चत्व की ओर ले जाते हैं, अत ज्वर यमस्वरूप (या यमराज स्वरूप) है। अर्थात् जिस प्रकार यमराज प्राणिधारियो के प्राण को नष्ट करते है उसी प्रकार ज्वर भी प्राण को नष्ट करता है। साथ ही जिस प्रकार अपने पूर्वजन्मकृत कर्मो के फलस्वरूप कष्ट पाते हुए प्राणियो की पञ्चत्व प्राप्ति मे यम हेतु बनता है—उसी प्रकार ज्वर भी हेतु बनता है।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ है प्रथमाविर्भाव (आदि उत्पत्ति)। इस लोक मे ज्वर सर्वप्रथम किस प्रकार आविर्भूत हुआ इसका सकेत इस प्रकरण मे किया गया है। इस सम्बन्ध मे दो वर्णन आयुर्वेद वाड्मय मे प्राप्त होते हैं—जिनका सकेत पहिले कर आए हैं। प्रथम—रुद्रकोप से ज्वर की उत्पत्ति का पौराणिक वर्णन और दूसरा परिग्रह—लोभ से।

प्रभाव—अनौपाधिक शक्ति को प्रभाव कहते हैं। ये सन्ताप आदि ज्वर के अनौपाधिक शक्ति के परिणामस्वरूप ज्वर से आक्रान्त पुरुष मे पाए जाते है। ज्वर के प्रथम प्रभाव सन्ताप का वर्णन किया जा चुका है। इसका दूसरा प्रभाव तृष्णा भी—सन्ताप अर्थात् शरीर के वृद्ध ताप की सूचिका है। अधिक ताप के कारण शरीर का जलीयाश सूखता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी आकाक्षा होती है। तृष्णा जल की आकाक्षा का ही नाम है। ज्वर की उत्पत्ति

---

[1] च चि अ ३ में चक्रपाणिदत्त।

मे अग्नि (पाचकाग्नि या जाठराग्नि) विकृत हो जाती है तथा आमदोष की उत्पत्ति होती है जिसका परिणाम अरुचि है। अप्राकृतिक ऊष्मा तथा वेग के साथ शरीरावयवो मे रक्तानुधावन, अङ्गमर्द तथा व्यथा (हृदय मे) उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त वर्णन से पाठको को यह स्पष्ट हो गया होगा कि चिकित्सक के लिए ज्वर की प्रकृति, प्रवृत्ति तथा प्रभाव का ज्ञान होना कितना आवश्यक है। चिकित्सक का प्रधान कर्म रोगापनयन तथा रोगोत्पत्ति मे बचाए रखना है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए रोग के प्रत्यासन्न कारण का, रोग के स्वभाव का, प्रथम तथा द्वितीयाविर्भाव का एव प्रभाव का ज्ञान परमावश्यक है।

ज्वर का ऐतिहासिक संकेत :—

आयुर्वेद वाङ्मय मे आयुर्वेद को शाश्वत बताते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि ये ज्वरादि दुःख अनादि है। अर्थात् इनकी सत्ता उस काल से है जब से जीवन (Life) की सत्ता है।[1] आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है।[2] जीवन तथा आयु की व्याख्या करते हुए भी आचार्य ने इस तथ्य की पुष्टि की है।

वेदो मे ज्वर का वर्णन मिलता है अत वैदिक काल मे प्राणी ज्वर मे पीडित होते रहते थे यह ज्ञात होता है। ऋग्वेद का काल ऐतिहासिको ने ६००० ई० पू० ठहराया है। वैसे तो भारतीय विचारधारा के अनुसार वेद अनादि तथा अपौरुषेय है। भारतीय साहित्य मे वेद सबसे प्राचीन साहित्य माना गया है। यह ससार के अति प्राचीनतम साहित्यो मे से एक है। पुराण आदि ग्रन्थो मे भी अनेक स्थलो पर ज्वर तथा ज्वर के प्रकारो का वर्णन उपलब्ध होता है। आधुनिक विज्ञान इस विषय की गणना Paleo-pathology के क्षेत्र मे करता है। यह विज्ञान Jurassic age से अर्थात् ६० से १५० मिलियन वर्ष अर्थात् ६० लाख से १½ करोड़ वर्ष पूर्व से ज्वरादि व्याधियो का सकेत मानता है।[3]

---

१ सोऽयमायुर्वेद शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावससिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। न हि नाभूत् कदाचिदायुष सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदयिता, अनादि च सुखदु खम्।"....(च सू अ. ३०।२७)

2 Disease is as old as life itself

(History of medicine by-Ralph H Major, M D.)

3. **"Disease in the cretaceous and Jurassic ages (60-150 million years)**—In this age when mammals were not in

आयुर्वेद के अनुसार इसकी उत्पत्ति का काल त्रेतायुग के प्रारम्भ तथा सतयुग के अवसान काल से है।[1] परिग्रह से ज्वर की उत्पत्ति तथा कृतयुग के अन्तिम काल मे परिग्रह की उत्पत्ति का वर्णन इस तथ्य की पुष्टि करता है।

ज्वर—लक्षणरूप ज्वर तथा उसके प्रकार :—

शारीर तथा मानस संताप (वृद्ध ताप) को ज्वर कहते हैं। इस द्विविध ज्वर का परिचय क्रमश देह त्वचा की ताप वृद्धि से तथा वैचित्य (मन की व्याकुलता) अरति और ग्लानि से होता है। त्वचा के सन्ताप का ज्ञान स्पर्श के द्वारा तथा तापमापक शलाका द्वारा होता है, इसका संकेत पहिले किया जा चुका है। मानस सन्ताप का ज्ञान रुग्ण पुरुष के स्वरूप-व्यवहार तथा कथन से होता है। ये दोनो लक्षण ज्वर रोग तथा अन्य अनेक रोगो मे दृष्टिगोचर होते हैं। सन्ताप या वृद्धताप के भी अनेक प्रकार देखे जाते हैं। अत. इनके स्वरूपो-वेगादि के अनुसार इनका विभाग किया गया है।

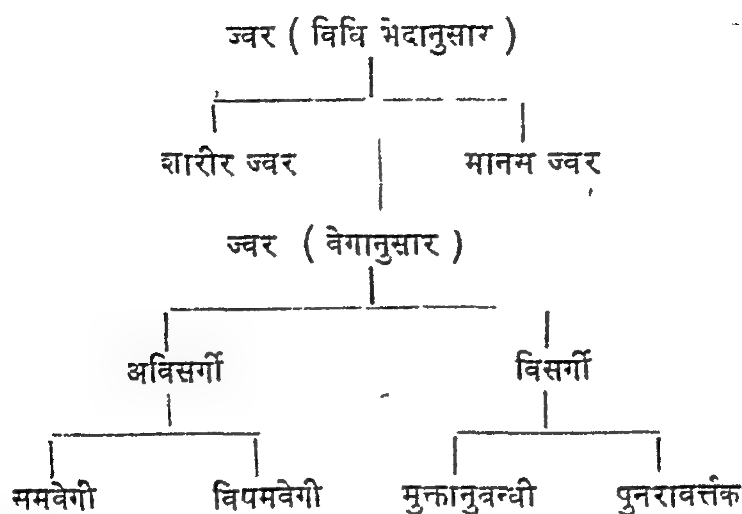
विविध भेद—जैसे शारीर और मानस भेद से भी ज्वर दो प्रकार का होता है (१) शारीर ज्वर और (२) मानस ज्वर। शारीर ज्वर प्रथम शरीर मे उत्पन्न होकर पश्चात् मन को संतप्त करता है और मानस ज्वर प्रथम मन मे उत्पन्न होकर बाद मे शरीर को संतप्त करता है। पुन इसको (१) सौम्य तथा (२) आग्नेय के भेद से विभक्त किया गया है। वेग के अनुसार पुन इनका (१) अन्तर्वेग तथा (२) बहिर्वेग भेद के लक्षण कहे

---

existence and the world was ruled by the huge reptiles the denosaurs, oligosaurs etc, the diseased process were not unknown Pottes disease has been found in the spine of the gigantic lizards, the denosaurs, which animals are known to be extinct 100 million years ago. Pottes disease was in existence in this earth hundreds of millions of years before the birth of Pott" Textbook of Pathology by D. M. Banerje pp. 5

1 'भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाचिदत्यादानात् साम्पन्निकाना सत्त्वाना शरीरगौरवमासीत्। शरीरगौरवाच्छ्रम, श्रमादालस्यम्, आलस्यात्संचय, संचयात्परिग्रह, परिग्रहाल्लोभ प्रादुरासीत् 'कृते'। ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचन, अनृतवचनात् काम-क्रोध-मान-द्वेष-पारुष्याभिघात-भय-ताप-शोक-चिन्तोद्वेगादय. प्रवृत्ता.। ततस्त्रेताया धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्। तस्यान्तर्धानात् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः। पृथिव्यादेश्च गुणपाद प्रणाशोऽभूत्। तत्प्रणाश कृतश्च शस्याना स्नेहवैमल्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रश.। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपाराहारविहारैरयथापूर्वमुपसृज्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि।'
(च वि. अ ३-२४)

गए है। पुन (१) विसर्गी तथा (२) अविसर्गी भेद मे इनको दो भागो मे विभक्त किया गया है। अविसर्गी के (१) समवेगी तथा (२) विषमवेगी दो भेदो का उल्लेख किया गया है। विसर्गी के भी (१) मुक्तानुबन्धी तथा (२) पुनरावर्त्तक ये दो भेद बताए गए है।[1]



अविसर्गी ज्वर—जो ज्वर (सताप) अपनी अवधि के अन्दर कभी भी विसर्जित (Remission) नही होता अर्थात् अवधि पर्यन्त बराबर बना रहता है। अवधि मध्य मे प्रकृत ताप (Normal temperature) पर नही आता—उसे अविसर्गी ज्वर कहते है।

(१) इनमे समवेगी ज्वर (Continuous fever) वह है जिसमे ज्वर सदा उच्च तापांश मे बना रहता है। तथा जिसमे अहोरात्र मे एक से डेढ अंश तक न्यूनाधिक ताप वेग मे होता है।

(२) विषमवेगी ज्वर (Remittent fever) वह है जिसमे ज्वर के ताप का वेग दो अंश (२°फ०) अधिक न्यूनाधिक होता है, परन्तु प्रकृतताप पर कभी नही आता।

विसर्गी ज्वर—वह ज्वर जिनमे ज्वर का वेग कम होकर एक या अधिक बार अहोरात्र मे प्रकृत ताप पर आता है। और पुन बढ जाता है वह विसर्गी ज्वर कहलाता है।

---

१ प्राय. सभी प्रकार के चिरानुबन्धी ज्वरों में एक से अधिक प्रकार के वेग होते है। इनके मुख्य रूप से विसर्गी और अविसर्गी—इस रूप में दो भेद किए गए है। अविसर्गी पुनः दो प्रकार का होता है। जैसे—समवेगी और विषमवेगी। विसर्गी के भी दो प्रकार है—जैसे मुक्तानुबन्धी और पुनरावर्त्तक।

(१) इनमे मुक्तानुबन्धी ज्वर (Intermittent fever) वह है जिनके ताप का वेग किसी समय एक या एक से अधिक बार प्राकृत ताप पर आता है और पुन बढ जाता है।

(२) पुनरावर्त्तक ज्वर—(Recurrent fever or Relapsing fever) वह है जो बार बार आता है और पुनः शान्त हो जाता है। विषमज्वर (मलेरिया) तथा काला आजार—कालज्वर जीर्ण हो जाने पर तथा अन्य ज्वर यथा आन्त्रिक ज्वर अपनी अवधि पर उतर कर और कुछ दिन रह कर पुन नए रूप से ज्वर का वेग प्रारम्भ करता है और पुन उतर कर कुछ दिन बाद पुन. आता है तो उसे भी "पुनरावर्त्तक ज्वर" कहते हैं। इनके अतिरिक्त (१) प्रलेपक और (२) सोपानसमवेगी ज्वर इन दो प्रकार के ज्वरो का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

ये उपर्युक्त लक्षणरूप ज्वर जिन विकारो में (अर्थात् जिस प्रकार के ज्वर रोग मे) होते हैं उनका वर्णन यथास्थल विस्तार से किया जायगा।

ज्वर रोग :—

देह, इन्द्रिय तथा मन को तपाने वाला सन्ताप, स्वेदावरोध, तथा सर्वाङ्ग-ग्रहण (सम्पूर्ण शरीर मे ग्रहणवत् पीडा), ये तीनो लक्षण जिस रोग मे युगपत् (एक साथ) हो उसे ज्वर रोग कहते हैं।[1] यद्यपि स्वेदावरोध लक्षण सामान्य-रूपेण ज्वररोग का कहा गया है तथापि इसे ज्वर की सम्प्राप्ति अवस्था का बोधक मानना चाहिए।[2]

कविराज हाराणचन्द्र ने अपनी व्याख्या में स्वेदावरोध को ज्वर की सम्प्राप्ति अवस्था का लक्षण माना है। परन्तु डल्हणाचार्य ने स्वेदावरोध को प्रायिक लक्षण माना है। और इसके लिए युक्ति दी है कि पित्तज्वर मे स्वेद का निर्गम लक्षणो मे गिना गया है। अत. इसे प्रायिक लक्षण मानना उचित है।[3] स्वेदावरोध के

---

१ (अ) 'स्वेदावरोधः सन्ताप. सर्वाङ्गग्रहण तथा।
विकारा. युगपद्यस्मिन् ज्वरः स परिकीर्त्तितः॥'

२ (आ) 'स्वेदावरोध इति सामान्येनोक्ते सत्यपि बुद्धिमता सम्प्राप्त्यवस्थाया स्वेदावरोध इति निरूपणीय, सम्प्राप्तिं प्रकृत्य वक्ष्यति—रसस्वेदप्रवाहिणाम्। स्रोतसा मार्गमावृत्य इति। एव च यत्र रोगे सम्प्राप्त्यवस्थाया स्वेदावरोधोऽनन्तरं च युगपत् सन्ताप-सर्वाङ्गग्रहणे दृश्यते स ज्वर इति निष्कर्ष.।'
—हाराणचन्द्र।

३. (इ) स्वेदावरोधः स्वेदनिर्गमः। एतच्च प्रायिकम् लक्षणम्। पित्तज्वरे स्वेदनिर्गमात्। वेगावरोधः इत्यन्ये पठन्ति। वेगावरोधो वातमूत्रपुरीषादीनामनिर्गमः।
—(डल्हण)

स्थान पर वेगावरोध पाठ भी उपलब्ध होता है। इसके अनुसार मलमूत्र आदि के वेग का सम्यक् प्रवृत्त न होना—यह अर्थ ग्रहण किया जाता है। किसी-किसी व्याख्याकार ने पित्तज्वर मे स्वेदागमन लक्षण को देखकर स्वेदावरोध का अर्थ अग्निमाद्य भी किया है।

स्वेदावरोधः—चरक ने कहा है कि तरुण ज्वर मे अग्नि अपने स्थान से च्युत हो जाती है, तथा स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे ज्वर से आक्रान्त पुरुष मे (तरुणावस्था मे) स्वेद का निर्गम नही होता।[1] चक्रपाणिदत्त ने व्याख्या मे इस लक्षण को प्रायिक माना है क्योकि किसी किसी ज्वर मे स्वेद का निर्गम होता है। स्वेद मेदोधातु का मल है।[2] मेद शरीर का चतुर्थ धातु है। स्वेद अपने स्रोतो द्वारा अपना कार्य सम्पन्न करता है। इसके स्रोतो का मूल अर्थात् उत्पत्तिस्थान मेद और लोमकूप हैं।[3] अस्वेदन (स्वेद का न निकलना) स्वेदवह स्रोतो की दुष्टि के लक्षणो मे एक है।[4] ज्वर की सम्प्राप्ति मे स्वेदवह स्रोतो का अवरोध स्पष्ट रूप से कहा गया है।[5] यही कारण है कि कविराज हाराणचन्द्र ने स्वेदावरोध को सम्प्राप्तिकालिक लक्षण माना है। मेदोग्नि के प्रच्युत होने पर तथा स्वेदवह स्रोतो मे अवरोध होने पर स्वेद का न आना स्वाभाविक है परन्तु पित्तज्वर मे स्वेदागमन होने से डल्हण तथा चक्रपाणिदत्त ने इसे प्रायिक लक्षण कहा है।

यहाँ स्वेद शब्द को उपलक्षण मान कर सामान्य स्रावो का ग्रहण कर लिया जाय तो उससे शरीर के अन्दर यावन्मात्र स्रावजनक ग्रन्थियाँ हैं उनके कार्य या स्राव का तरुणज्वर मे अवरोध होना समझना चाहिए, जोकि अनुभवसिद्ध है। तरुणज्वर मे मुख की लालास्रावक तथा अन्य ग्रन्थियो के स्राव के अवरोध होने से मुखशोष आदि की प्रतीति होना तथा आमाशय आदि मे पाचक रसो के स्राव का अभाव होकर अग्निमाद्य आदि होना भी अनुभवसिद्ध है।

विस्तारक काच (Magnifying glass) से त्वचा की परीक्षा करे तो उसमे रोमकूपो के अतिरिक्त अनेक प्रकार के सूक्ष्म-छिद्र दीख पड़ेगे। ये छिद्र स्वेद-

---

१. स्रोतसा सन्निरुद्धत्वात् स्वेद ना नाधिगच्छति, स्वस्थानात्प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे। (च चि १.३)

२. 'चक्र —स्वेदं ना नाधिगच्छतीत्यत्र प्राय इति योज्यम् कृमिजज्वरे स्वेदस्याप्यभिहितत्वात्।' (अथ च डल्हणः—सु उ त . ३९)

३ मलः स्वेदस्तु मेदसः (च चि अ. १५-१८) स्वेदवहाना स्रोतसा मेदोमूल लोमकूपाश्च। (च वि ५)

४. च. वि. ५। ५ च. वि. अ. १।

वह स्रोतो के मुख है। अन्तस्त्वक् मे स्वेद का निर्माण करनेवाली ग्रन्थियाँ (Sweat-glands) होती हैं। इनके चारो ओर कोशिकाओ का निविड जाल होता है। स्वेदग्रन्थियाँ केशिकागत रक्त से जल तथा कुछ मलभूत घन द्रव्यो का सदा निर्हरण किया करती हैं। यही जल तथा उसमे विलीन द्रव्य स्वेद कहलाता है। इसमे जल ९९ प्र० श० और घनद्रव १ प्र० श० होता है जिनमे मुख्य यूरिया तथा सैंधव है। स्वेदग्रन्थियो से स्वेदवहाओ मे और उनके द्वारा बहिस्त्वक् पर्यन्त—यह स्वेद आता है।

यकृत्, वृक्क, तथा फुफ्फुस के समान त्वचा भी मलो का विसर्ग स्थान (excretory system) है। अत स्वेद की यथोचित प्रवृत्ति न होने पर मलायतनो के दूषित होने से त्वग्विकार रौक्ष्यादि उत्पन्न होते हैं।

स्वेद का कार्य—स्वेद का कार्य त्वचा को स्निग्ध रखना, मृदु तथा सुकुमार बनाए रखना है।[1] त्वचा का एक कार्य शरीर की ऊष्मा का नियमन भी है। यह कार्य स्वेद द्वारा होता है। व्यायाम-या श्रम के कारण शरीर की ऊष्मा मे वृद्धि होने से, तथा धूप या ताप के कारण चतुर्दिक् वातावरण उष्ण होने से भी शरीर की ऊष्मा बढने लगती है जिससे त्वचा की केशिकाओ मे रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है। इस पर रक्त के आधिक्य के कारण सहज ही स्वेदग्रन्थियो से स्वेद का स्राव अधिक होने लगता है। वायु लगने से यह स्वेद वाष्प होकर उड जाता है। इस वाष्पीभवन के लिए अपेक्षित ताप त्वचा से प्राप्त होता है जिससे त्वचा का तथा परम्परया शरीर का न्यून हो जाता है। इसके विपरीत शीतकाल मे त्वचा की रक्तवाहिनियाँ सकुचित हो जाती है और त्वचा मे रक्त का प्रवाह न्यून हो जाता है। अत. स्वेद के न्यून होने से शरीर की ऊष्मा गिरने नही पाती। प्रकृत्या तरुणज्वर मे स्रोतो (स्वेदवह स्रोतो) मे अवरोध होने से स्वेद नही निकलने पाता। परिणामस्वरूप त्वचा का ताप या शरीर का ताप वृद्धि को प्राप्त होता है।

तरुण ज्वर मे स्राव को उत्पन्न करनेवाले सभी अङ्ग निष्क्रिय हो जाते है। रक्त मे परिभ्रमण करनेवाले ज्वरोत्पादक विषो के कारण तापनियन्त्रक केन्द्र (Heat regulating centre) के अवसादित हो जाने से परिसरीय केशिकाओ का विस्फार नही होने पाता—जिससे स्वेदजनक ग्रन्थियो को पर्याप्त मात्रा मे रक्त नही मिलता; परिणामस्वरूप वे स्वेद की उत्पत्ति बन्द कर देती हैं। इसी प्रकार खाद्य की कमी तथा विषो या आम- दोषो की प्रचुरता के कारण भी

---

१ 'स्वेद: क्लेद त्वक् सौकुमार्यकृत्।' (सु सू अ १५।५)

स्वेदजनक ग्रन्थियाँ अपना कार्य स्थगित कर देती है। केशिकाओ के पूर्णरूपेण विकसित न होने का प्रभाव अन्य स्रावक ग्रन्थियो पर भी पडता है। उन स्रावो के अवरुद्ध हो जाने से पाचन एव प्रचूषण के कार्य मे भी बाधा हो जाती है। तरुणज्वर मे लघन, स्वेदन तथा आमपाचन की व्यवस्था भी यही सकेत करती है।

सर्वाङ्ग ग्रहण—सम्पूर्णअङ्गो मे वेदना (ग्रहणवत् वेदना) शरीर घटको के अधिक श्रम का द्योतक है। सन्ताप की सम्प्राप्ति मे यह संकेत किया जा चुका है कि, विकार विघात के निमित्त देहाणुओ (Cells) को अत्यधिक कार्य करना पडता है जिससे उनका श्रान्त होना स्वाभाविक ही है। देहाणुओ की श्रान्त अवस्था की सामूहिक अनुभूति ही "सर्वाङ्ग ग्रहण" है। इस अवस्था मे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण अङ्ग जकडा हुआ हो।

विधिभेद—शरीरज्वर प्रथम शरीर मे उत्पन्न होकर पीछे मन को सतप्त करता है और मानसज्वर प्रथम मन में उत्पन्न कर पश्चात् शरीर को सतप्त करता है। सौम्य (शीतकारणो से उत्पन्न, शीतज्वर, वातज, कफज तथा वात कफज,) और आग्नेय (उष्ण कारणो से उत्पन्न दाहज्वर, पित्तज्वर तथा वातपित्तज्वर) भेद मे ज्वर दो प्रकार का होता है। सौम्य ज्वर से पीड़ित मनुष्य उष्णपदार्थों की इच्छा करने वाला (उष्णाभिप्राय) और आग्नेय ज्वर से पीड़ित मनुष्य शीत पदार्थों की इच्छा करनेवाला (शीताभिप्राय) होता है। मिश्र-लक्षण ज्वर वाला कफ पैत्तिक तथा सान्निपातिक ज्वर से पीडित मनुष्य कभी शीत तथा कभी उष्ण पदार्थों की इच्छा करनेवाला होता है। वायु रोगवाही होने मे पित्त के साथ जब सयुक्त होता है तब दाह और जब सोम—जल—कफ के साथ नियुक्त होता है तब शीत उत्पन्न करता है।[1]

अन्तर्वेग और बहिर्वेग के भेद से भी ज्वर दो प्रकार का होता है। जिस ज्वर मे रोगी को अन्दर (शरीर के भीतर) से दाह अधिक अनुभव होता हो परन्तु बाहर से दाह कम हो तथा तृषा, प्रकोप, श्वास, भ्रम, (चक्कर आना) सन्धियों तथा हड्डियो मे पीडा तथा वातादि दोषों और स्वेद, मल, मूत्रादि की रुकावट ये लक्षण दृष्टिगोचर हो उसको अन्तर्वेग ज्वर कहते हैं। बाहर त्वचा मे सताप का अधिक अनुभव होना परन्तु भीतर से दाह कम मालूम होना तथा तृषा, प्रलाप, श्वास और भ्रम कम होना, 'बहिर्वेगज्वर' के लक्षण है। बहिर्वेग-ज्वर सुखसाध्य तथा 'अन्तर्वेगज्वर' कष्टसाध्य होता है।[2]

१ च चि अ ३, (च सू अ १०) २ च चि अ ३, (अष्टाङ्ग स नि अ २)

प्राकृत तथा वैकृत भेद से ज्वर दो प्रकार का होना है। प्रावृड्, या वर्षा ऋतु का वात ज्वर, शरद् ऋतु का पित्तज्वर, तथा वसन्त ऋतु का कफ ज्वर प्राकृत ज्वर कहलाता है। इन ऋतुओ मे क्रमश वात, पित्त, तथा कफ का प्रकोप स्वभाव मे ही होता है अत इन ऋतुओ मे उत्पन्न ये ज्वर प्राकृत ज्वर कहलाते है। काल स्वभाव से विपरीत प्रावृड् तथा वर्षा ऋतु मे उत्पन्न पित्त ज्वर और कफ ज्वर, शरद् ऋतु मे उत्पन्न वातज तथा कफज ज्वर एव वसन्त ऋतु मे उत्पन्न वातज तथा पित्तज ज्वर 'वैकृत ज्वर' कहलाते है। इनमे शरद् तथा वसन्त ऋतु मे उत्पन्न प्राकृत पित्त ज्वर तथा कफज ज्वर सुखसाध्य और प्रावृड् या वर्षा ऋतु मे उत्पन्न वातज्वर प्राकृत होने पर भी कष्टसाध्य होता है।[1]

साध्य और असाध्य भेद से भी ज्वर दो प्रकार का होता है। इनका वर्णन यथा स्थल किया जायगा। साध्य के दो भेद (१) कृच्छ्रसाध्य और (२) सुखसाध्य तथा असाध्य के भी दो भेद—(१) याप्य और (२) प्रत्याख्येय होते हैं।[2]

तीनो दोषो से उत्पन्न ज्वर, पुन आने और ठहरने (आक्रान्त करने तथा स्थिति काल) के काल के बल से (बलाबल से) पाँच प्रकार के होते हैं जैसे—(१) सन्तत (२) सतत (३) अन्येद्युष्क (४) तृतीयक तथा (५) चातुर्थक। इनका वर्णन यथा स्थल किया जायगा। रसादि धातुओ के आश्रय भेद से ज्वर के सात भेद कहे गये हैं। यथा—(१) रसगत (२) रक्तगत, (३) मासगत, (४) मेदोगत, (५) अस्थिगत (६) मज्जगत, तथा (७) शुक्रगत। इनका भी वर्णन यथा स्थल किया जायगा। ज्वरारम्भक कारणो के भेद से—ज्वर के आठ भेदो का वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होता है जैसे—(१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) वातपित्तज (५) वातकफज (६) पित्तकफज (७) सन्निपातज और (८) आगन्तुज। साम और निराम भेद से भी ज्वर के दो भेद होते है।[3]

विभिन्न कारणो से उत्पन्न होनेवाले ज्वर—उपलब्ध संहिता ग्रन्थो मे २२

---

१ च चि अ ३। २ च सू अ १९।

३ 'पुन. पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्।

(क) सन्तत सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥

पुनराश्रयभेदेन धातुना सप्तधा मत।' (च चि. अ ३)

(ख) 'भिन्न. कारणभेदेन पुनरष्टविधोज्वर।'

प्रकार के विभिन्न कारणो से उत्पन्न ज्वरो का सकेत मिलता है जैसे—(१) कर्म मिथ्यातियोगज ज्वर, (२) अभिघातज ज्वर (३) रोगोत्थानज ज्वर, (४) प्रपाकज ज्वर, (५) श्रमज ज्वर (६) क्षयज ज्वर, (७) अजीर्णज ज्वर (८) विषज ज्वर, (९) सात्म्य विपर्ययज ज्वर, (१०) ऋतु विपर्ययज ज्वर, (११) विषौषधि-पुष्प-गन्धज ज्वर, (१२) शोकज ज्वर, (१३) कोपज ज्वर, (१४) ग्रहबाधाजन्य ज्वर, (१५) अभिचारज ज्वर (१६) अभिशापज ज्वर, (१७) मानसिक ज्वर, (१८) भूताभिषङ्गज ज्वर, (१९) भयज-ज्वर, (२०) अपप्रजाता ज्वर, (२१) प्रसूतिज्वर या सूतिका ज्वर, तथा (२२) स्तन्यावतरण ज्वर।[१] इन ज्वरो का यथा स्थान वर्णन किया जायगा।

समज्वर और विषम ज्वर के भेद से भी ज्वर दो प्रकार का होता है। जो ज्वर स्वल्प कारणो वाला, बहिर्मार्ग सश्रित वैकृत, उपद्रव रहित, एकाश्रयवाला सुखपूर्वक जिसकी चिकित्सा की जा सके तथा लघुपाकी होता है उसे 'समज्वर' कहते हैं। इसके विपरीत एव तीक्ष्ण होने के कारण सन्तत ज्वर तथा प्रेत एव ग्रहो से उत्पन्न होनेवाले और सतत आदि चारो ज्वर विषम गति के कारण 'विषम ज्वर' कहलाते हैं।[२] इनका विस्तारपूर्वक वर्णन यथा स्थल किया जायगा।

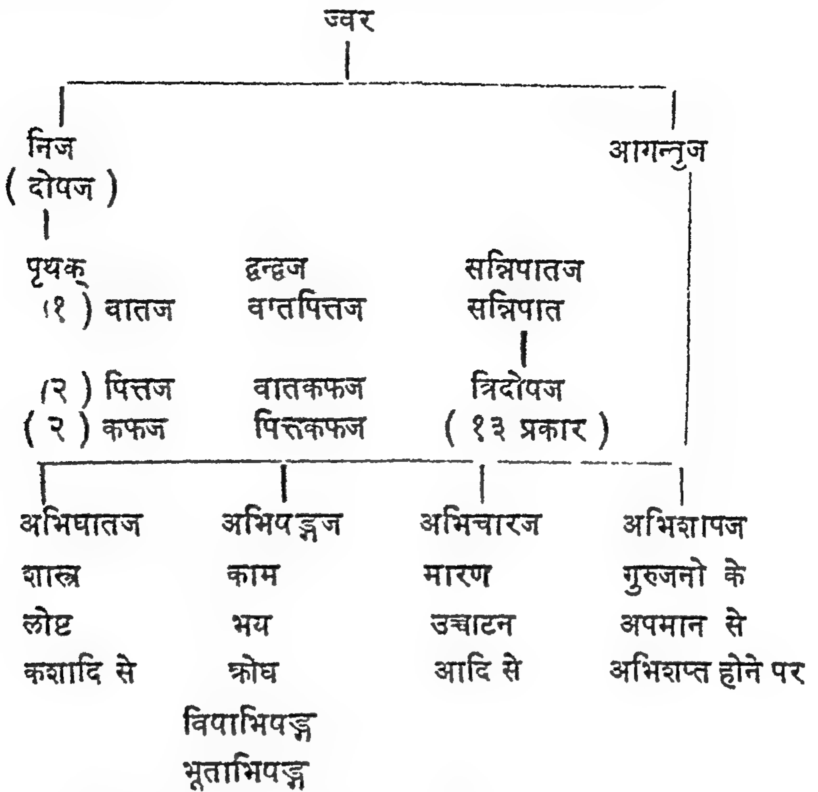
(ग) 'अथ खलु अष्टाभ्य कारणेभ्यो ज्वर सजायते मनुष्याणाम्, तद्यथा—वाताद् पित्तात्, कफात्, वातपित्ताभ्या, वातकफाभ्या, पित्तकफाभ्या, वातपित्तकफेभ्यः, आगन्तोरष्टमात् कारणात्।' (च नि अ १)

(घ) 'सामो निरामक।' (अ स नि २)

१ मिथ्यानियुक्तैरपि च स्नेहाद्यै कर्मभिर्नृणाम।
विविधादभिघाताच्च रोगोत्थानात् प्रपाकत ॥
श्रमात् क्षयादजीर्णाच्च विषात् सात्म्यर्तुपर्ययात्।
ओषधिपुष्पगन्धाच्च शोकान्नक्षत्रपीडया ॥
अभिशापाभिचाराभ्या मनोभूताभिशङ्कया।
स्त्रीणामपप्रजाताना, प्रजाताना तथाऽहित ॥
स्तन्यावतरणे चैव ज्वरो दोषै. प्रवर्तते। (सु उ अ ३९)

२ (क) 'अल्प हेतुर्बहिर्मार्गो वैकृतो निरुपद्रव।
एकाश्रय सुखोपायो लघुपाको समो ज्वर॥'
(ख) 'विषमस्तद्विपर्यस्तस्तीक्ष्णत्वात् सततो मत।
तद्वत् प्रेत ग्रहोत्था ये चत्वारो विषमागमात्॥' (का स खि अ. १, २)

निज तथा आगन्तुज भेद से भी ज्वर दो प्रकार के होते हैं। जैसे—



आधुनिक चिकित्साविज्ञो के अनुसार ज्वरो के मुख्य तीन भेद होते है जैसे—(१) स्वत जात या प्राथमिक (Primary), (२) आनुषङ्गिक (Symptomatic या secondary) और (३) अभिघातज (Traumatic) इन तीनो प्रकार के ज्वरो की उत्पत्ति रक्त मे विष (Toxins) के सचय होने से होती है।

१—स्वत जात (Idiopathic or Primary) ज्वर के तीन उपभेद होते है जैसे—(१) असंक्रामक (Non-contagious or non-specific), (२) संक्रामक और (३) चयापचयजन्य या धातुपाक जन्य (Metabolic)। प्रथम दो प्रकार के ज्वरो की उत्पत्ति आमाशय मे आहार विष बन कर रक्त दूषित होने या रक्त मे विशेष प्रकार के कीटाणु या तज्जन्य विष के सग्रह होने पर होती है। तीसरे प्रकार के ज्वर की उत्पत्ति देह मे चयापचय रूप व्यापार से स्थानिक या सर्वाङ्गिक विकृति होकर सेन्द्रिय विष की वृद्धि रक्त मे सगृहीत होने पर होती है। इन तीनो प्रकार के विषो को जलाने के लिए मस्तिष्कगत ताप नियामक केन्द्र उत्तेजित होता है जिससे शारीरिक उत्ताप की वृद्धि होती है। इसी उत्तापवृद्धि (सताप) को स्वत ज्वर कहते है।

२—आनुषंगिक ज्वर (Symptomatic)—विद्रधि, विसर्प आदि रोगों में लक्षण रूप जो ज्वर होता है उसे आनुषंगिक ज्वर कहते हैं। यह ज्वर मूल रोग के शान्त होने पर स्वयं शान्त हो जाता है।

३—अभिघातज (Traumatic)— यह अभिघात—पत्थर, चोट, शस्त्र आदि से अभिघात—होने पर होता है। अभिहत स्थान पर सेन्द्रिय विष की उत्पत्ति होती है। इस विष का रक्त में जब शोषण होता है तब प्रबल ज्वर उत्पन्न होता है। इसी तरह उग्र या विषैले वाष्प (gas) का श्वसन मार्ग में प्रवेश होना, शस्त्र चिकित्सा की प्रतिक्रिया होना, शस्त्र से चिकित्सित स्थान में विषाणु का प्रवेश होना, प्रसवावस्था में कीटाणुओं का गर्भाशय पर आक्रमण होना, आदि भी अभिघातज ज्वर की उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं।

'ज्वर के लक्षणत्व तथा रोगत्व पर विचार'—रोग का निश्चय, निदान प्रागूप, रूप, और उपशय से किया जाता है। लक्षण रूप ज्वर में ये समस्त बातें नहीं पायी जाती। लक्षण रूप ज्वर का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि ज्वर एक रूप वाला है और सन्ताप ही उसका एक लक्षण है। ज्वर की निरुक्ति भी सन्ताप द्योतक ही दी गई है।[१] ऐसी स्थिति में ज्वर रोग नहीं बनता। यह तो स्पष्ट है कि शरीर के वृद्ध ताप को ही ज्वर इस प्रकरण में कहा गया है। यह लक्षण रूप ज्वर तीन अवस्थाओं में पाया जाता है। जैसे—(१) पूर्वरूपावस्था, (२) रूपावस्था, और (३) उपद्रवावस्था। अर्थात् ज्वर अनेक रोगों के पूर्वरूप में दृष्टिगोचर होता है जैसे—मसूरिका आदि, पिडिकाजन्य तथा प्लेगादि ज्वरों में। लक्षण रूप ज्वर नानाविध वातजादि ज्वर तथा अन्य रोगों में तथा उपद्रव रूप ज्वर यथा—रक्तपित्त, पाण्डु आदि रोगों में।

रोग रूप ज्वर का ज्ञान निदान से जैसे—मिथ्याहारविहारादि, पूर्वरूप से जैसे—श्रम, अरति आदि रूप से जैसे—स्वेदावरोध, संताप, सर्वाङ्ग ग्रहण, आदि; उपशय से जैसे—लंघन, पाचन आदि से होता है।

लक्षण भी दो प्रकार के होते हैं जैसे—एक साधारण और दूसरे विशेष। साधारण लक्षण वे हैं जो स्वतः अपने लाक्षणिक प्रभाव से ही शरीर को प्रभावित करते हैं यथा—संताप, शूल, कास, हिक्का आदि। इनके साथ लक्षण समूह नहीं होते किन्तु विशेष लक्षणों में उस लक्षण के साथ अन्य लक्षण भी

---

१ (क) 'रोग निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाद्भिः।' (वाग्भट)

(ख) 'ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते॥ (चरक.)

होते है जैसे—ज्वर। ज्वर होने के समय या उसके साथ ही स्वेदावरोध, संताप, सर्वाङ्ग ग्रहण, अङ्गमर्द, जृम्भा आदि लक्षण एक साथ—उत्पन्न होते है। इसी लिये ज्वर को विशेष लाक्षणिक कहते हैं। ज्वर विशेष लक्षण वाला अवश्य है परन्तु रोग नही। जिन कारणो मे ज्वर हो उस कारण का ज्वर के साथ संकेत होना चाहिये जैसे—वात ज्वर, पित्त ज्वर, मन्थरी ज्वर, इत्यादि।

ज्वरोत्पत्ति की विविध अवस्थायें:—

(१) **संचयावस्था**—इस अवस्था मे रोगारम्भक दोष गुप्त रूप से शरीर के भीतर संचित हो (रोग का विष एकत्र हो) अपना कार्य करता है। यह शरीर के आक्रान्त भागो को निर्बल करता हुआ अपनी शक्ति को बलवती बनाने का ठोस प्रयत्न करता है। इस अवस्था मे न तो शरीर पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है न रोग का ही कोई लक्षण उपस्थित होता है। आधुनिक विज्ञान इस अवस्था को Incubation Period कहता है।

(२) **प्रकोपावस्था**—इसे रोग की प्रारम्भावस्था या पूर्वरूप की प्रारम्भावस्था कह सकते हैं। इस अवस्था मे उक्त अप्रतिकृत संचित दोष (रोग का विष) उन्मार्गगामी हो रोग की सम्प्राप्ति का श्रीगणेश करता है। अर्थात् किसी पर सत्वर तो किसी पर शनैः शनैः रोग का आक्रमण होने लगता है। तात्पर्य यह कि दोष (रोग का विष) आमयोत्पित्सु हो जाते है। परिणामस्वरूप शारीरिक ताप की वृद्धि, अङ्गमर्द (आम दोष के कारण) शीतकम्प आदि ज्वर के सामान्य पूर्वरूप अव्यक्तरूपेण प्रकट होने लगते हैं।

(३) **प्रसरावस्था**—यह दोष प्रकोप की प्रगतिशीलावस्था है। इस अवस्था मे दोष (रोगारम्भक दोष) सम्पूर्ण शरीर मे फैलने लगता है जिससे प्रकुपितावस्थाजन्य अव्यक्त लक्षण कुछ व्यक्त होने लगते है और सामान्य रूप से भावि ज्वर मात्र के बोधक होते हैं। परन्तु इन लक्षणो (पूर्वरूपो) की पूर्णाभिव्यक्ति चतुर्थ (स्थानसंश्रयावस्था) अवस्था मे होती है। इस अवस्था मे व्याकुलता, बेचैनी, अरुचि, मूत्र का वर्ण गाढा होना, आँखो से पानी गिरना, रोमाञ्च आदि होना, ये लक्षण प्रकट होते है।

(४) **स्थान-संश्रयावस्था**—स्रोतोवैगुण्यवश प्रसरणशील दोषो का संग होने से दोष विशेषरूपेण स्थानसंश्रयी बन जाता है और तत्तद् दोष विशिष्ट लक्षणो के साथ ज्वर के पूर्वरूपो को व्यक्त करता है। इन लक्षणो के दृष्टिगोचर होने पर यह स्पष्ट भान होने लगता है कि अमुक दोषजन्य ज्वर होने वाला है। जैसा उक्त सामान्य पूर्वरूपो के साथ जृम्भा का अधिक होना वात ज्वर का,

आँखो मे अधिक दाह का अनुभव होना पित्त ज्वर का, तथा अन्न मे अधिक अरुचि कफ ज्वर का वोधक होता है ।

(५) **व्यक्तावस्था**—यह वह अवस्था है जिसमे ज्वर का स्वरूप पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होता है । इस अवस्था मे दोष विशेष (आरम्भक दोष) के अनुसार ज्वर के लक्षण व्यक्त होते है। जैसे—पित्त प्रधान ज्वर में—मुखमण्डल का लाल हो जाना, त्वचा का अधिक उष्ण होना, ज्वर का वेग तीक्ष्ण होना, अतिसार, दाह, तृष्णा, आदि पित्त के लक्षणो का प्रव्यक्त होना, वात प्रधान ज्वर मे त्वचा का अतिरूक्ष हो जाना, गात्ररुक् आदि पीडाओ का अधिक होना, ज्वर के वेग का विषम होना, विवन्ध आदि वात के लक्षणो का प्रव्यक्त होना, कफ प्रधान ज्वर मे स्तैमित्य, गौरव, ज्वर का वेग मन्द तथा अरुचि आदि कफ के लक्षणो का प्रव्यक्त होना ।

(६) **भेदावस्था**—यह ज्वर के तरुण, जीर्ण, पृथक् दोषज, ससगज, सन्निपातज, साध्य, असाध्य आदि भेदो के विवेचन की अवस्था है ।

प्रत्येक चिकित्सक को ज्वर के तथा अन्य रोगो की इन उपर्युक्त अवस्थाओ का ज्ञान परमावश्यक है। इनकी उपादेयता का विस्तृत वर्णन प्रथम भाग मे किया जा चुका है ।

ज्वर के कारण—आचार्यो ने रोगोत्पत्ति मे शरीरस्थ वातादि दोषो के प्रकोप को सन्निकृष्ट तथा विरुद्धाहारादि अन्य वाह्य कारणो को विप्रकृष्ट कारण माना है।[1] आचार्य गणनाथ सेन ने तो रोगो के वाह्य कारण को ही 'निदान' कहा है और इन वाह्य कारणो को रोग के आभ्यन्तर कारण वातादि का प्रकोपक माना है।[2] ये मिथ्या आहार विहार आदि वाह्य कारण (निदान) धातु वैषम्य उत्पन्न कर अथवा साक्षात् ज्वरोत्पादक होते हैं ।

निज ज्वरों की सामान्य सम्प्राप्ति (शारीर ज्वर सम्प्राप्ति)—काल स्वभाववश अर्थात् प्रावृड् या वर्षा मे वात का, शरद् ऋतु मे पित्त का तथा वसन्त ऋतु मे कफ का प्रकोप होने पर अथवा वलवद्विग्रहादि हेतुओ से वात का, क्रोधादि हेतुओ से पित्त का, और दिवास्वप्नादि हेतुओ से कफ का, प्रकोप होने पर ये दोष पृथक् पृथक् अथवा ससर्ग (दो दो मिलकर) एव सन्निपात रूप में (तीनो मिलकर) आमाशय मे प्रवेश कर रस धातु से मिल, वहा से पाचकाग्नि को वाहर निकाल, अपने साथ लेकर स्वय साम होने के कारण रस-स्वेदवाही

---

१ 'वातादिसन्निकृष्ट च तथाहारादि सभवम् ।
अपर विप्रकृष्ट च रोगाणा कारणद्वयम् ॥' (वाग्भट)

२ वाह्य निमित्त रोगाणा निदानमिति कीर्तितम् ।
विधाय धातुवैषम्य साक्षाद्वा रोगकारि तत् ॥ (सि नि. गणनाथसेन.)

स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न कर रसायनियो द्वारा समग्र शरीर मे व्याप्त हो अपने दोषाग्नि की तथा पाचकाग्नि की ऊष्मा से देहोष्मा को वढाकर समग्र शरीर मे स्वाभाविक ताप मे अधिक ताप (सताप) उत्पन्न करते है। इस सन्ताप से सतप्त शरीर ज्वरित अर्थात् ज्वर से आक्रान्त कहलाता है।' निज ज्वर की उपर्युक्त सम्प्राप्ति मे, दोषो के प्रकोपण, प्रकुपित दोषो का आमाशय मे प्रवेश तथा तत्रस्थ साम रसो के साथ मिलना (दोष-दूष्यसम्मूर्च्छना) और मिलकर धातुस्थ पाचकाग्नि को निकाल कर अपने साथ मिलाना तथा साम रस से सम्पृक्त होने के कारण रस-स्वेदवाही स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करना, पुन रसायनियो द्वारा समग्र शरीर मे व्याप्त हो, अपनी अग्नि (दोषाग्नि) तथा निष्कासित-पाचकाग्नि से देहोष्मा को वृद्ध करना, इन विकृतियो पर ध्यान आकृष्ट किया गया है।[२]

---

१ (क) 'दोषा. प्रकुपिता' स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणै ।
व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि ॥
क्रुद्धा' स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा ।
सहिना रसमागत्य रस-स्वेद-प्रवाहिनाम् ॥
स्रोतसा मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ।
निरस्य वहिरूष्माण पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम् ।
जनयन्त्यथ वृद्धि च स्ववर्ण च त्वगादिषु ॥
... .
तैर्वेगवद्भिर्बहुधा समुद्भ्रान्तैर्विमार्गगैः ।
विक्षिप्यमाणोऽन्तरग्निर्भवत्याशु वहिश्चरः ॥
रुणद्धि चाप्यपा धातु यस्मात्तस्माज्ज्वरातुर ।
भवत्यत्युष्णगात्रश्च ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥' (सु उ. अ ३९)

(ख) ससृष्टा. सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मला' ।
रसाख्य धातुमन्वेत्य पक्तिस्थानान्निरस्य च ॥
स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो वलम् ।
स्रोतासि रुद्ध्वा सप्राप्ता' केवल देहमुल्वणा ॥
सतापमधिक देहे जनयन्ति नरस्तथा ।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥' (च चि अ. ३)

२. (क) 'दोषा प्रकुपिताश्चयानुपूर्व्या । स्वेषु कालेषु प्रावृट्शरद्वसन्तेषु आहोरात्रिकेषु च । एतेन प्राकृतो ज्वर उक्त । स्वैः प्रकोपणैरिति बलवद्धि-ग्रहादि-क्रोधादि-दिवास्वप्नादिभिश्च प्रश्नोक्तैः । अनेन च वैकृत. ।
(डल्हण सु उ अ ३९)

(ख) स्वेनेति दोपोष्मणा, तेनेति जाठराग्न्यूष्मणा, देहोष्मण सकलदेहचारिणः

सक्षेप मे ज्वरोत्पत्ति के लिए शरीर मे निम्न विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं—

(१) स्वप्रकोपणो से दोषो का प्रकोप ।

(२) प्रकुपित दोषो का पृथक पृथक, संसर्ग रूप मे या सन्निपात रूप मे आमाशय मे प्रवेश ।

(३) आमाशयस्थ रस (आमरस) मे मिलना ।

(४) रसस्थ पाचकाग्नि तथा आमाशय मे समागत पाचकाग्नि को स्वस्थान से विचलित कर अपने साथ मिलाना ।

(५) सामरस-सम्पृक्त दोष का रसवह तथा स्वेदवह स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करना ।

(६) रासयनियो द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होना तथा देहोष्मा को अपनी तथा पाचकाग्नि की उष्मा से बढा कर शरीर को संतप्त करना ।

ज्वर की सम्प्राप्ति का आयुर्वेदीय दृष्टिकोण यहा उपस्थित किया गया है । इस वर्णन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ज्वर-सम्प्राप्ति के वर्णन मे आधुनिक खोज प्राचीन का ही भाष्य है । जैसे—वातादि दोष स्वकारणो से जब प्रकुपित होते हैं तो वे पृथक्-पृथक, दो दो मिलकर अथवा तीनो मिलकर 'रस' नामक धातु मे अनुगमन कर पाचकाग्नि को उनके स्थान से निकाल कर देहोष्मा को बढा देते हैं । देहोष्मा के बढ जाने से सम्पूर्ण शरीर उष्ण हो जाता है । इस वृद्ध सताप को ज्वर कहते हैं । यह वृद्ध सताप या ज्वर अनूर्जता (Allergy) या बाह्य पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न, शरीर की प्रतिक्रिया का एक स्वरूप है । बाह्य पदार्थ मिथ्या आहार-विहार के कारण ही शरीर मे प्रवेश करते है ।

प्राकृतोष्मण' । वातश्लेष्मणस्तु यद्यपि पित्तवदूष्मा नास्ति, तथापि तयोर्भूतत्वेनोष्मा योऽग्नि स इह ग्राह्य. । (च चि ३ चक्र)

(ग) 'रसाख्य धातुमन्वेत्य अनुगम्य । अन्नस्य सारभूतो धातुरामाशयादन्त्रेभ्यश्चाकृष्यमाणो, यकृद्द्वारेण रसप्रपाद्वारेण वा रक्तस्रोत सञ्चारी 'रस' इत्युच्यते । तदनुगमन च दोषाणा रसायनी प्रपद्यैव । तदुक्त वाग्भटेन—'प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनी । रसायनी प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ।' (सि. नि अ हृ नि. अ. १)

(घ) 'मलास्तत्र, स्वै' स्वैर्दुष्टा प्रदूषणै' ।
आमाशय प्रविश्याममनुगम्य, पिधाय च ॥
स्रोतासि, पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलन बहि ।
सह तेनाभिसर्पन्तस्तपन्त. सकल वपु ॥
कुर्वन्तो गात्रमत्युष्ण ज्वर निर्वर्तयन्ति ते ।
स्रोतोविबन्धात् प्रायेण तत स्वेदो न जायते ॥' (अ हृ २)

ये वाह्य पदार्थताप, उपसर्ग (Infection) विषमयता (Toximia) आदि हो सकते है। इन वाह्य पदार्थो के कारण जीव-रस या प्ररस (Protoplasm) की प्राकृतिक जीव-रासायनिक क्रिया (Biochemical activities) वढ जाती है, और परिणाम स्वरूप शरीर मे ताप की उत्पत्ति होती है। यह ताप अत्यधिक होने पर वातनाडी-कोषाओ के कायाणु रस (cytoplāsm) को स्कन्दित कर सकता है और उनकी क्रिया नष्ट हो सकती है।

ज्वर की आधुनिक विज्ञान-सम्मत परिभाषा वतलाते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्वरित पुरुष के शरीर मे स्रावो (Secretions) तथा शोषण प्रक्रिया (Absorption) मे वाधा हो जाती है। इनके अतिरिक्त शरीर का ताप वढ जाता है। आयुर्वेदोक्त स्रोतोरोध तथा सन्ताप इस वर्णन से सामंजस्य रखता है। Basic metabolism ज्वरागमन काल मे वढ जाता है। यह पित्त की प्रक्रिया है और ज्वर मे पित्त-प्रक्रिया की वृद्धि अनिवार्य है। पक्तिस्थान से अग्नि का निष्कासन तथा दोषाग्नि और पाचकाग्नि से देहोष्मा की वृद्धि इस विकृति का प्रवल समर्थक है।

सामान्य शारीर धातु-क्रिया (General body metabolism) के वढ जाने से-शरीर के अन्दर तापोत्पत्ति अधिक होने लगती है। अधिक तापोत्पत्ति होने से शारीर धातुओ का विशेषकर प्रोभूजिन का क्षय होने लगता है और आहार (पोषण) के अभाव मे शरीर का सुरक्षित कार्वोद, वसा तथा प्रोभूजिन का भी जारण होने लगता है जिससे शरीर क्षीण होता है। इन उपर्युक्त जारण प्रक्रिया से जो ऊष्मा उत्पन्न होती है उसका ह्रास स्रोतोरोधवश उतना नहीं हो पाता जिसमे शरीर का ताप वढ जाता है।

अकस्मात् ताप की वृद्धि मासपेशियो के तनाव (Tone) को वढा देती है जिससे पेशियों के सकोचवश शरीर मे कम्प (Stavermy) उत्पन्न होता है और त्वचा-वाहिनियो के सकुचित होने से सिहरन (Chill) तथा त्वचा की पाण्डुता उत्पन्न होती है। ज्वराक्रान्त शरीर मे विशिष्टरूप से प्रोभूजिन का ध्वस होता है और इसके परिणाम स्वरूप मूत्र मे क्रीटीनीन (Creatinin) या प्युरीन वेस (Purin base) आदि की वृद्धि होती है। प्रोभूजिन का ध्वस सम्भवत (१) तापाधिक्यवश प्रोभूजिन पाक के अधिक होने से, (२) प्रोभूजिन के नष्ट होने से, शरीर के लिए आवश्यक कलारी का अभाव होने पर शारीर धातुओ का क्षुधित रहने से, और (३) उत्पन्न विष के कारण प्रोभूजिन का विघटन होने से होता है।[1]

1. Text Book of Pathology by Dr. Banurjee Page 266.

उग्रताप (Hyper pyrexia)—जब ज्वर का ताप १०५° फा० या इससे अधिक रहे तो उसे 'उग्रतापी ज्वर' कहते हैं। यह किसी सांसर्गिक या औपसर्गिक ज्वर के संक्रमण या उपसर्ग से होता है तथा अंशुघात (Sun stroke) या तापाघात (Heat stroke) में होता है। इनके अतिरिक्त मस्तिष्कगत ऊष्माकेन्द्र (Sub thalmic region) में रक्तस्राव होने पर तथा उष्णीष के रक्तस्राव (Pontine hemorrhage) होने पर होता है। शीर्षण्य व्रणशोथ या विद्रधि (Intra-crania-abscess) में ग्रैवेयक सुषुम्ना प्रदेश पर आघात होने पर, मूत्रविषमयता में, बाल आक्षेप तथा स्कन्दापस्मार में भी 'उग्रतापी ज्वर' हो सकता है। यह दशा कभी-कभी अनेक गम्भीर व्याधियों में भी अन्तिमावस्था में देखी जाती है।

प्रतिकार—ऐसी अवस्था में प्रयत्न यह होना चाहिए कि यथाशीघ्र ज्वर का वेग नीचे आवे तथा वेगवृद्धि के कारणों का पता लगाकर उसके प्रतिकार का प्रयत्न करना चाहिए। ज्वर के ताप तथा वेग को कम करने के लिए निम्नलिखित उपाय करना चाहिए।

(१) **शीतक्रिया**—शिर पर बरफ की थैली का रखना, शीतल जल से शिर को बार-बार धोना, सुखोष्ण-शीताङ्ग प्रोञ्छन, बरफ मिलाकर लवण-जल की बस्ति, आर्द्रवस्त्रावगुण्ठन, बरफ का झूलना, मृतसजीवनी सुरा या ब्रैण्डी का प्रयोग। इनके साथ-साथ हृदय को बल देनेवाली औषध का भी प्रयोग श्रेयस्कर है, जैसे—मृगमदासव, स्पीरीट एमोनिया १५ बूँद तथा कोरामिन आदि का यथावश्यक प्रयोग, मकरध्वज मुक्ता का प्रयोग। इसके अतिरिक्त शिर पर विष्णु तैल और सिरका की पट्टी का रखना, एडिकोलन का प्रयोग, तथा अन्य शीतकारक औषधों का प्रयोग लाभप्रद होता है।

उग्रतापी ज्वर में तापाधिक्य के साथ-साथ रोगी का मुखमण्डल लाल हो जाता है। त्वचा स्पर्श से अत्युष्ण तथा शुष्क प्रतीत होती है। नाडी की गति तथा श्वासगति तीव्र हो जाती है और बहुधा शिरोवेदना होती है। जिह्वा (मुख) सूखने लगती है जिससे प्यास अधिक लगती है। मूत्र का वर्ण गाढा और मात्रा न्यून हो जाती है। अरति तथा प्रलाप होता है। ज्वर का वेग शीत और कम्प के साथ भी बढता है, तथा बालकों में आक्षेप (Convulsion) भी हो सकता है।

शीत-कम्प (Chill-rigor)—जब ज्वर का ताप अधिक उग्र होने लगता है जैसे—१०४° फा० से १०५° फा० तब शरीरोष्मा को बढाने के लिए बहिस्तरीय रक्तवाहिनियाँ सकुचित होने लगती हैं जिसमें शीत की संवेदना होती

है और परिणामस्वरूप मासपेशियाँ सकुचित होती हैं जिससे सिहरन या कम्प होता है। रोगी दाँत कटकटाने लगता है तथा मासपेशियो मे मरोड़ होने लगता है। यह अवस्था विशेषरूप मे निम्नलिखित ज्वरो मे होती है—

(१) सक्रामक ज्वर (Septic fiver)—विशेषरूप मे मूत्रविकार-जनित (Urinary) तथा पित्तविकार-जनित (Billiary) जैसे—पित्ताश्मरी, यकृद्विद्रधि, पूयोरस आदि।

(२) मलेरिया तथा विषमज्वर।

(३) खण्डीय फुफ्फुस-प्रदाह आदि मे तीव्र सक्रमण के आरम्भ मे।

(४) बहुधा शिराबस्ति (Intravenous injection) के बाद जैसे—रक्त, रक्तवारि तथा लवण जल या ग्लूकोज के शिराबस्ति के बाद।

स्वेद—यह देखा गया है कि ज्वर का वेग कभी-कभी अकस्मात् (बहिस्तरीय रक्तवाहिनियो के विकासवश) ऊष्मा की अनुभूति तथा स्वेद के साथ उतरता है। यह विशेषकर विषम ज्वर (मलेरिया), सक्रामक ज्वर, तीव्र आमवातिक ज्वर तथा उग्र राजयक्ष्मा मे होता है।

निशा स्वेद—यह विशेषकर राजयक्ष्मा के ज्वर मे पाया जाता है। फक्क रोग मे शिर स्वेद बहुधा पाया जाता है।

ज्वर मोक्ष :—

ज्वर तीन प्रकार से उतरता है। जैसे—दारुण मोक्ष (By crysis) (२) अदारुण मोक्ष (By lysis) और (३) विषमगति मोक्ष।

(१) **दारुण मोक्ष**—बहुदोषी रोगी का बली तथा प्रायः तरुण ज्वर लघनादि चिकित्सा मे दोषो का परिपाक होने पर जब उतरने लगता है तब रोगी के गले मे कूजन (अव्यक्त शब्द), वमन, विकृत चेष्टाये, श्वास, शरीर का वर्ण बदल जाना, शरीर से अधिक पसीना निकलना, शरीर मे कम्प, बिछौने पर पड जाना, प्रलाप, शरीर स्पर्श से अत्युष्ण अथवा अतिशीत अनुभव होना, सज्ञानाश, क्रुद्ध-दृष्टि, पित्त-कफ युक्त तथा शब्द और वेग के साथ मलातिसरण ये लक्षण होते हैं। इस प्रकार के ज्वर उतरने (मोक्ष) को दारुण मोक्ष (Crysis) कहते हैं।' यह अवस्था विषम ज्वर, श्वसनक आदि मे देखी जाती है। इसमे

---

१ 'बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवज्वर.।
सत्क्रिया दोषपक्त्या चेद्विमुञ्चति सुदारुणम्॥
ज्वरप्रमोक्षे पुरुष. कूजन् वमति चेष्टते।
श्वसन् विवर्ण. स्विन्नाङ्गो वेपते शीर्यते (लीयते) मुहुः॥'

अतिस्वेद, मूत्राधिक्य एवं अतिदौर्बल्य की अनुभूति का होना, इसके परिचायक लक्षण हैं। इसमे हृदयगति के बन्द हो जाने की शङ्का रहती है।

(२) अदारुण मोक्ष—जो चिरकारी अधिक काल तक चलने वाला। ज्वर दोषानुसार वेग करके दोष-पाक होने पर क्रमशः धीरे-धीरे निरुपद्रव उतरता है उसे 'अदारुण मोक्ष' (Lysis) कहते हैं। इस मोक्ष मे उपर्युक्त दारुण के लक्षण नही होते।' यह आन्त्रिक ज्वर तथा यक्ष्मा आदि मे देखा जाता है।

(३) विषमगति मोक्ष—दिन मे अकस्मात् उतरना तथा पुनः चढना, प्रतिदिन उतरना और चढना आदि विषमगति मोक्ष कहलाता है।

ज्वरमुक्त के लक्षण—जिस पुरुष का क्लम (विना परिश्रम के थकावट), सन्ताप (शरीर का वृद्ध ताप) और व्यथा (शरीर की पीडा) नष्ट हो गई हो, इन्द्रियाँ निर्मल हो, मन स्वाभाविक परिस्थिति मे हो, मुख का वर्ण कुछ पाण्डु तथा मुखपाक हो गया हो, छीके आती हो तथा अन्न खाने की इच्छा होती हो, ऐसे पुरुष को ज्वरमुक्त जानना चाहिये।'

निज ज्वरों का सामान्य पूर्वरूप—सामान्यरूपेण ज्वर होने के पूर्व मुख का स्वाद बिगड जाता है, शरीर भारी मालूम होता है, अन्न खाने की इच्छा नही होती, नेत्रो मे व्याकुलता होती है तथा उनमे आँसू आते है, मनुष्य निद्रित सा अनुभव करता है, किसी कार्य मे मन नही लगता (अरति), जृम्भा, शरीरकम्प, थकावट, चक्कर आना, प्रलाप, जागरण, रोमहर्ष, दन्तहर्ष, छाया तथा धूप मे कभी इच्छा कभी अनिच्छा तथा कभी अच्छा मालूम होना, कभी सह्य नही होना, अरुचि, अपचन, दौर्बल्य, अङ्गमर्द, शैथिल्य, आलस्य, दीर्घसूत्रता, उचित तथा अभ्यस्त कार्य मे अकर्मण्यता, परिश्रम न करने पर भी

प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि।
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते॥
सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं सृजति वेगवत्।
लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः॥' (च चि अ ३)

१. 'कृत्वा दोषवशाद्वेग क्रमादुपरमन्ति ये।
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणा चिरकारिणाम्॥' (च चि अ ३)

२. (क) 'विगतक्लमसंतापमव्यथं विमलेन्द्रियम्।
युक्त प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम्॥'
(ख) लघुत्वं शिरसः स्वेदो मुखमापाण्डु पाकि च।
क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्॥' (सु उ अ. ३९)

थकावट, आँखो के सामने अन्धकार का अनुभव होना, स्वभाव मे विपरीतता आदि लक्षण होते है।[1]

इन उपर्युक्त लक्षणो मे अनेक ऐसे लक्षण हैं जो ज्वर आ जाने पर भी बने रहते है। जैसे—मुखवैरस्य, अरति, अङ्गमर्द, थकावट, दौर्बल्य प्रभृति। इन लक्षणो मे कुछ ऐसे भी लक्षण हैं जो यदि गम्भीर या अधिक (बार-बार) होवे तो वे ज्वर के विशिष्ट पूर्वरूप हो जाते हैं। जैसे—अधिक जृम्भा वात ज्वर का, अधिक जलन होना पित्त ज्वर का तथा अन्न पर अरुचि कफ ज्वर का विशिष्ट पूर्व रूप है।[2]

द्विदोषज ज्वर मे जिन दो दोषो से ज्वर होने वाला होता है उन दो दोषों के तथा सन्निपात ज्वर मे तीनो दोषो के मिले हुये लक्षण होते हैं।[3]

ज्वर का वलकाल—वात ज्वर सामान्यत भोजन के पचने के अन्त मे दिन के अन्त मे, रात्रि के अन्त मे तथा ग्रीष्मान्त मे आक्रमण करता है तथा वली (अपना अभिवृद्ध रूप प्रकट करता है) होता है। पित्त ज्वर भोजन के विदाह काल मे, मध्याह्न मे, आधी रात मे तथा शरद् ऋतु मे आक्रमण करता एवं वली होता है अर्थात् अपना अभिवृद्ध रूप प्रकट करता है। इसी प्रकार कफ ज्वर भोजन करने के तत्काल वाद रात्रि के प्रथम वेला मे, तथा वसन्त ऋतु मे आक्रान्त करता है तथा वली होता है अर्थात् अपना उग्र रूप दिखलाता है।[4]

इसका तात्पर्य यह है कि घर्मान्त (वर्षा का प्रारम्भ या प्रावृड्) वात-प्रकोप का, शरद् ऋतु पित्त-प्रकोप और वसन्त ऋतु कफ-प्रकोप का समय है। इसी प्रकार भुक्तान्न, दिनान्त तथा निशान्त भी वात-प्रकोप या वृद्धि का काल है, भोजन का विदाह काल, मध्याह्न तथा आधी रात पित्त की वृद्धि का काल है और भुक्त मात्र तथा रात्रि का पूर्व भाग कफ की वृद्धि का समय है। अत. इन

---

१. (क) च नि अ. १। (च चि. अ. ३) (ख) सु. उ. अ. ३९।
(ग) अ हृ नि. २। (घ) अ. स नि २।

२ विशेषात्तु—'जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाह', कफादन्नाभिनन्दनम्।' (मा नि. सु उ. अ. ३९)

३ 'सर्वलिङ्गसमावाय सर्वदोषप्रकोपजे।
द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण ससृष्ट द्वन्द्वज विदु.॥' (सु उ अ ३९)

४. 'वलस्य कालो वलकाल —वातज्वरस्य जरणान्ते, दिवसान्ते, निशान्ते, घर्मान्ते वा ज्वराभिगमनमभिवृद्धिर्वा, पित्तज्वरस्य भुक्तस्य विदाहकाले, मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे, शरदि वा विशेषेण, कफज्वरस्य भुक्तमात्रे, पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेष.।' (मधुकोष)

कालो मे तत्तत् ज्वरो के आक्रमण का होना तथा उनका वली होना, महा उग्र रूप प्रकट करना स्वाभाविक है ।

ज्वर का सामान्य स्वरूप तथा प्रत्यात्मलक्षण :—

ज्वर के प्रत्यात्मलिङ्ग का वर्णन करते समय यह कहा जा चुका है कि देह, इन्द्रिय तथा मन का सन्ताप ज्वर के प्रत्यात्म रूप है । यह सन्ताप (ज्वर) जव प्रारम्भ होता है तव प्राय शीत (Chill) या कम्प (Rigor) होता है । प्राय' से अभिप्राय यह है कि किसी किसी ज्वर मे शीत, किसी किसी ज्वर में कम्प अथवा किसी-किसी मे दोनो सम्भव हैं । शीत और कम्प के अनुभव विना भी ज्वर होता है । शीत या कम्प के वाद शरीर मे दाह अनुभव होता है । शिर शूल, अरति, दौर्वल्य, अङ्गमर्द, मलावृत जिह्वा, मूत्राल्पता, कोष्ठवद्धता आदि लक्षण भी ज्वर का अनुषङ्गी होता है । सक्षेप मे पूर्वरूप के सभी लक्षण ज्वराभिव्यक्त होने पर अधिक स्पष्ट हो जाते हैं ।[1] त्वचा का सन्ताप (वृद्धताप) ज्वर का अव्यभिचारी लिङ्ग है ।[2] ज्वर एक रूप वाला है और सन्ताप ही उसका लक्षण है ।[3]

आयुर्वेद वाङ्मय मे ज्वर के अनेक भेदो का वर्णन उपलब्ध होता है जिनका यथास्थल वर्णन किया जायगा । इन वक्ष्यमाण सभी ज्वरो मे त्वचा का सन्ताप अव्यभिचारी रूप मे पाया जाता है । त्वचा के सन्ताप का ज्ञान स्पर्श द्वारा तथा 'तापमापक शलाका (Thermometre), द्वारा होता है इसका सकेत पहले कर चुके हैं । यहाँ इस तथ्य पर सदा ध्यान रखना आवश्यक है कि सभी प्रकार के ज्वरो मे सन्ताप के अतिरिक्त 'अन्य लक्षणो का अनिवार्य रूप मे मिलना सम्भव नही ।

ज्वर के उपद्रव—कास, मूर्च्छा, अरुचि, तृषा, अतिसार, विवन्ध (दस्त की (कब्जियत), हिचकी, श्वास और शरीर मे स्फुरन (टूटने के समान पीडा) ये दश ज्वर के उपद्रव हैं ।[4]

साम ज्वर के लक्षण—अन्न पर अरुचि भुक्तान्न का परिपाक न होना, उदर-गौरव, छाती का जकडा हुआ प्रतीत होना, तन्द्रा, आलस्य, ज्वर का वेग

---

१ 'तदेव व्यक्तता जात रूपमित्यभिधीयते ।' (मा नि)

२ 'ज्वरस्त्वेक एव सतापलक्षण ।' (चरक)

३ 'ज्वरस्यैकस्य चाप्येक सन्तापो लिङ्गमुच्यते ।'

४ कासमूर्च्छाऽरुचि-च्छर्दि-तृष्णाऽतीसारविड्ग्रहा ।
हिक्का श्वासोऽङ्गभेदश्च ज्वरस्योपद्रवा दश ॥
(आयुर्वेददीपिकायां तन्त्रकारवचनानि)

अधिक रहना, ज्वर का प्रकृत ताप पर न आना अर्थात् नही उतरना, (वात-पित्त-कफ) दोषो की प्रवृत्ति न होना, मुँह मे लाला-स्राव का अधिक होना, जी मिचलाना, भूख न लगना, मुख का स्वाद वदल जाना (वैरस्य), शरीर के अवयवो का जकड़ा हुआ तथा सूना अनुभव होना तथा भारी मालूम होना, मूत्र की अधिक प्रवृत्ति, मल का अपाक, शरीर का कृश न होना, विवन्ध, पसीना न आना तथा अरति (वेचैनी) ये सव आम-ज्वर के लक्षण हैं ।[1]

पच्यमान ज्वर के लक्षण—ज्वर-वेग का अधिक रहना, अधिक प्यास लगना, प्रलाप (असम्वद्ध वोलना), श्वास-गति का वढ जाना, चक्कर आना, मल की प्रवृत्ति और जी मिचलाना (उत्क्लेश) ये पच्यमान ज्वर के लक्षण है ।[2]

निराम ज्वर के लक्षण—क्षुधोदय (भूख का लगना), शरीर का कृश तथा हल्का मालूम होना, ज्वर का वेग कम होना, दोषो की प्रवृत्ति होना तथा आठ दिन की अवधि का पूर्ण होना ये निराम ज्वर के लक्षण है ।[3]

असाध्य ज्वर के लक्षण—जो ज्वर अनेक तथा वलवान कारणो से उत्पन्न होता है, जो अपने सभी सम्भाव्य लक्षणो से युक्त होता है, जिसमे लक्षण अति प्रमाण मे दृष्टिगोचर होते हैं, तथा जो ज्वर शीघ्र (उत्पन्न होते ही) इन्द्रियो की शक्ति को नष्ट कर देता है वह ज्वर प्राणघातक (असाध्य) होता है । इनके अतिरिक्त जिस ज्वर मे प्रलाप, भ्रम और श्वास ये तीनो लक्षण एक साथ देखने मे आते हो तो वह वातोल्वण होने पर सात दिनो मे, पित्तोल्वण होने पर दश दिनो मे तथा कफोल्वण होने पर वारह दिनो मे रोगी को मार डालता है । क्षीण तथा शोथयुक्त पुरुष का ज्वर, गम्भीर धातुओ मे स्थित हुआ ज्वर, दीर्घरात्रानुवन्धी ज्वर तथा जिस ज्वर मे रोगी के शिर के वालो मे अपने आप माँग (सीमन्त) सी वन जाय, वह ज्वर असाध्य होता है । जिस रोगी की प्रभा, कान्ति तथा इन्द्रियशक्ति नष्ट हो गई हो, जो अरुचि से पीडित तथा गम्भीर ज्वर के लक्षणो से युक्त हो तथा उसके ज्वर का वेग तीक्ष्ण हो वह असाध्य होता है । जिस ज्वर मे अन्तर्दाह (भीतर जलन) हो, अत्यधिक तृषा

---

१ 'अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च । हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥ ज्वरोऽविसर्गी वलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् । लालाप्रसेको हृल्लास क्षुन्नाशो विरस मुखम् ॥ स्तब्धसुप्तगुरुत्व च गात्राणा वहुमूत्रता । न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् ।' (च चि अ. ३)

२ 'ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलाप. श्वसन भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशो पच्यमानस्य लक्षणम् ॥' (च चि. अ ३)

३. 'क्षुत् क्षामता लघुत्व च गात्राणा ज्वरमार्दवम् ।
दोषाप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥' (च. चि. अ. ३)

हो, श्वास-कष्ट तथा कास हो और दोषो तथा मल-मूत्र आदि का अवरोध हो उसको 'गम्भीर ज्वर' कहते हैं। इस ज्वर से आक्रान्त पुरुष बचता नही है। जो पुरुष सज्ञानाश और मोह (इन्द्रियो का मोह या मूर्च्छा) से युक्त हो, जो सदा सोया हुआ पडा रहता है। अर्थात् उठने-बैठने मे समर्थ न हो, जिसका शरीर बाहर से ठढा हो परन्तु उसको भीतर से दाह मालूम होता हो, ऐसा ज्वर वाला पुरुष नहीं बचता अर्थात् मरता है। जिस ज्वराक्रान्त पुरुष को रोमहर्ष, आँखे लाल होना, हृदय प्रदेश मे जोर से मारने की सी पीडा तथा मुख से श्वास लेना, ये लक्षण हो वह ज्वरी पुरुष मरता है। जिस ज्वर वाले का शरीर स्पर्श मे ठढा हो परन्तु अति प्रमाण मे पिच्छिल स्वेद निकलता हो तथा उसे उठाने-बैठाने पर मूर्च्छा आ जाती हो वह मरता है। जिस रोगी मे विविध ज्वरो के शास्त्रोक्त सभी पूर्वरूप अतिमात्रा मे दृष्टिगोचर हो वह ज्वरी नहीं बचता अर्थात् मरता है।'

---

१ (क) 'हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षण.।
ज्वर प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशन.।
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च।
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नृणाम्॥
ज्वर. क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिक।
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः॥' (च चि अ. ३)

(ख) शेपमत्रे… · …

(ख) 'हतप्रभेन्द्रिय क्षीणमरोचकनिपीडितम्।
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त ज्वरित परिवर्जयेत्॥
गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया।
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च॥' (सु उ, अ ३९)

(ग) 'दारुणमुपद्रुतम्' इति वा पाठ·—दुरात्मान निश्चेष्टशरीरम्, (आत्मा यत्नः चेष्टेति हि पर्याय) गम्भीरोऽन्तर्वेग। आनद्धत्वेन दोषमलाना निरुद्धत्वेनेत्यर्थ.।' (हा०)

(घ) 'विसज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा।
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नर.॥
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि सघातशूलवान्।
नित्य वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्त ज्वरो हन्ति मानवम्॥
हिक्का-श्वास-पिपासार्त मूढ विभ्रान्तलोचनम्।
सन्ततोच्छ्वासिन क्षीण नर क्षपयति ज्वर.॥' (सु सू अ ३३)

(ङ) 'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।
य विशन्ति विशत्येन मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥' (च इ. अ ५)

आयुर्वेददृष्ट्या ज्वर सामान्यज व्याधियो मे एक प्रधान व्याधि है। यह सर्वाङ्ग सश्रित शाखागत व्याधि है परन्तु लक्षण, उपद्रव तथा पूर्वरूप, रूप-ज्वर अन्य शाखागत, कोष्ठगत तथा मर्मसन्ध्याश्रित व्याधियो मे भी संभव है। यह प्रधानत आमाशयसमुत्थ व्याधि है परन्तु पक्वाशयसमुत्थ व्याधियो मे भी लक्षण तथा उपद्रव रूप मे सम्भव है। सामान्यरूपेण शरीर तथा मन दोनो ही इसका आश्रय है। शरीर के घटक रस-रक्तादि धातुएँ भी इसका आश्रय है। प्रभावभेद से इसके दोनो प्रकारो का अर्थात् साध्य और असाध्य का वर्णन, वलभेद से मृदु और दारुण का वर्णन तथा निमित्तभेद से स्वधातु-वैषम्य निमित्तज (निज) और आगन्तुज दोनो का वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होता है। पुनः अनुवन्ध्यानुवन्ध भेद से यह स्वतन्त्र तथा परतन्त्र—दो प्रकार का पाया जाता है। स्वतन्त्र ज्वर के लक्षण व्यक्त होते हैं तथा वह अपने कारणो से उत्पन्न तथा यथाविहित प्रतिकारो से प्रशान्त होता है। परतन्त्र ज्वर किसी अन्य व्याधि के पूर्वरूप तथा उपद्रव रूप मे दृष्टिगोचर होता है और प्रधान व्याधि के शान्त होने पर वह भी शान्त हो जाता है।[1]

अवधेय—ज्वर के प्रतिकार के पूर्व इन सभी तथ्यो पर विचार करना परमावश्यक होता है। सम्प्राप्ति-विचार मे भी सख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, वल, काल आदि पर ध्यान देना परमावश्यक है। ज्वर जिन कारणो से उत्पन्न होता है उन कारणो की अशाश-कल्पना करना अर्थात् कारण एकात्मना अथवा सर्वात्मना ज्वरोत्पादक हुआ है इत्यादि का विचार भी चिकित्सा-सौकर्य के लिए आवश्यक है।

चिकित्सा-विचार के सामान्य नियम :—

(१) चिकित्सा का स्वरूप-निर्णय (Planing of treatment)
(क) चिकित्सा व्याधि के अनुसार,
(ख) साध्यासाध्य निर्णय कर,
(ग) शोधन योग्य या शमन योग्य
(घ) चिकित्सा के साधनानुसार
(१) सुलभ (२) दुर्लभ (३) अलभ्य।
(२) निर्णीत चिकित्सा-सरणि मे अनावश्यक परिवर्तन नही करना चाहिये।
(३) चिकित्सा के प्रधान उद्देश्य को सदा ध्यान मे रखना चाहिए।

---

१ (क) च चि अ ३-११।
(ख) अ हृ सू अ १२-५९, ६०,

(४) चिकित्सा की सरणि यथासाध्य सरल और सुविधायक होनी आवश्यक है।

(५) चिकित्सासरणि तैयार करने के समय सदा इस बात का ध्यान रखे कि चिकित्सा रोगी पुरुष की करनी है केवल रोग की नही। अत चिकित्सा की व्यवस्था रोगी पुरुप के मन और शरीर दोनो के अनुकूल होनी आवश्यक है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए चिकित्सा के शुष्क सिद्धान्तो से सदा सावधान रहना आवश्यक है।

(६) चिकित्सा मे दुराग्रह का कभी भी-स्थान न दे।

(७) यथासाध्य सिद्ध योगो का ही प्रयोग श्रेयस्कर है।

(८) यथासाध्य किसी भी नये प्रयोग का प्रयोक्ता स्वय न बने और न ऐसे प्रयोग का प्रयोक्ता बने जिसको तिरस्कृत किया जा चुका है।

'समग्रं दु खमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुख समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्॥'

(च० सू० अ० ३०—८२)

क्रिया क्रम :—

चरक ने ज्वर के क्रियाक्रम मे ज्वर के पूर्वरूप दिखाई देने पर तथा ज्वर के आदि मे सर्वप्रथम लघ्वशन और अपतर्पण का विधान किया है क्योकि ज्वर आमाशयोत्थ व्याधि है। चक्रपाणिदत्त ने वातज्वर मे लघ्वशन तथा अपतर्पण को वातकर होने के कारण देना उचित नही, ऐसा पूर्वपक्ष मानकर इसका समाधान किया है कि इन क्रियाक्रमो के वातकर होने पर भी ज्वर के आमाशयोत्थ व्याधि होने से नियमानुसार लघ्वशन तथा अपतर्पण वातज्वर के भी पूर्वरूपावस्था मे तथा प्रारम्भ मे अहितकर नही। अपितु हितकर ही है। विशेपरूपेण वातज्वर मे लघ्वशन ही लघनार्थ श्रेयस्कर है। कारण स्थानी का विरोध न करते हुए स्थान की चिकित्सा का विधान भी है। 'लघ्वशन' देह-लाघवकर होने से लघन के समान है। इसके अनन्तर कषायपान, अभ्यंग, स्नेहन, स्वेद, प्रदेह, परिपेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, उपशमन, नस्य, धूपन, धूम्रपान, अजन, क्षीरभोजन, प्रभृति विधान यथावश्यक युक्ति-पूर्वक करे।'

---

१. 'तस्य पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हित लघ्वशनमपतर्पण वा ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात्।' तत- कषाय-पाना-भ्यङ्ग-स्नेह स्वेद-प्रदेह परिषेका नुलेपन—वमन—विरेचनास्थापनानु-वासनो पशमन नस्त कर्म-धूप धूमपाना-ञ्जन-क्षीरभोजनविधान च यथास्व युक्त्या प्रयोज्यम्।' (च नि. अ १)

ज्वर आमाशयोत्थ व्याधि है तथा इसकी उत्पत्ति प्राय आम दोष से होती है अत चिकित्सा या क्रियाक्रम का श्रीगणेश 'लघन' या 'अपतर्पण' से होता है।[1] अपतर्पण की व्याख्या करते समय आचार्य ने कहा है कि लघन, रूक्षण तथा स्वेदन ये तीनो कर्म अपतर्पण चिकित्सा के ही अङ्ग है।

लघन से—चार प्रकार की सशुद्धि, उपवास, पिपासा निग्रह, व्यायाम, मारुत-सेवन, आतपसेवन, दीपन ओषध-दान तथा पाचन औषध-दान इनका ग्रहण होना है।[2] शरीर मे लघुता उत्पन्न करने वाले सभी उपायो का ग्रहण व्यापकरूप मे लघन से किया गया है।[3] अल्पवल दोषो के लिए लघन, मध्यवल दोषो मे लघन-पाचन तथा वहुदोषज ज्वरो मे दोषावसेचन का विधान है।[4]

रूक्षण द्वारा शरीर के आमदोष को सुखाया जाता है तथा स्वेदन द्वारा आमदोप का नि सरण किया जाता है।

क्षयज, वातज, भयज, क्रोधज, कामज्वर, शोकज तथा श्रम से उत्पन्न ज्वरो को छोडकर सभी ज्वरो मे सर्वप्रथम लंधन (उपवास) करना चाहिए।[5] क्योकि लघन मे आमदोप के क्षीण हो जाने पर तथा अग्निवल के सधुक्षित हो जाने पर शरीर से ज्वर निकल जाता है और शरीर मे लघुता तथा क्षुधा की उत्पत्ति होती है। परन्तु लघन (उपवास) कराते समय इस वात का सदा ध्यान होना चाहिए कि लघन प्राणाविरोधी हो अर्थात् प्राण (वल) को नष्ट करने वाला न हो क्योकि आरोग्य का अर्थ वलाधिष्ठान है और इसी अर्थ की सिद्धि के लिए क्रियाक्रम (चिकित्सा या उपक्रम) है।[5]

नव ज्वर या तरुण ज्वर—मे प्रयुक्त लघन काल, स्वेदन, यवागू तथा तिक्त रस अपक्व (आम) दोषो का पाचन करते है।[6] सुश्रुत ने ज्वर के लक्षण

सम्प्रति सूत्रित चिकित्सासूत्रमाह—तत्रेत्यादि, यद्यपि चिकित्सिते ज्वरादौ लघन वक्ष्यति, तथापीह पाक्षिकलघ्वशनविधान न विरोधि, लघ्वशनस्यापि लाघव-कर्तृत्वेनैव लघनत्वात्, कि वा, यत्र वातादिज्वरे लघन न कर्तव्य तत्र लघ्वशन वोद्धव्यम्, अपतर्पण च लघनमेव। अथ किमिति वातिकेऽपि ज्वरे वातकारक लघ्वशनमपतर्पण वा कार्यमित्याह—आमाशयसमुत्थत्वादित्यादि। आमाशय-सम्वन्धेन वातेऽपि मनाग्लघनीय· स्थानापेक्षया भवतीति भावः। वचन हि—'स्थान जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरोधेन। इति। (चक्र)

१ 'आमाशयस्थो हत्वाग्नि सामो मार्गान् पिधापयन्।
विदधाति ज्वर दोषस्तस्मात्कुर्वीत लघनम्॥ अ हृ चि. १)

२ च सू अ २२। ३ च सू अ. २२। ४ च वि अ. ३। ५. च चि. अ. ३।

६ (क) ज्वरे लघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।

अव्यक्त होने पर अपतर्पण का विधान किया है।[1] परन्तु आमाशयस्थ दोष की अवस्था मे वमन का आदेश किया है तथा कहा है कि उस काल तक ज्वरातुर को अनशन कराता रहे जब तक उसके दोष आनद्ध (बद्ध) तथा स्तिमित (अचल) रहे।[2] अनवस्थित दोष तथा अग्नि वाले पुरुष को लघन कराने से दोष का पाचन तथा अग्नि की दीप्ति होती है जिससे दोष और अग्नि दोनो के पाचन हो जाने पर तथा आमदोष के नष्ट हो जाने पर ज्वर का नाश हो जाता है तथा काङ्क्षा और रुचि (भोजन मे) उत्पन्न होती है एव शरीर मे लघुता का अनुभव होता है।[3]

स्वेदन—नव ज्वर या तरुण ज्वर मे पाचन (दोष-पाचन) के लिये द्वितीय क्रियाक्रम स्वेदन है। इस क्रियाक्रम से शरीर मे पसीना छूटता है। अर्थात् स्वेदन कर्म द्वारा शरीर से स्वेद निष्कासन होता है। स्वेदन द्रव्यो की क्रिया तीन प्रकार से होती है यथा—(१) सुषुम्ना काण्ड के स्वेद-केन्द्र को उत्तेजित करके (२) त्वचा की रक्तवाहिनियो को विकासित करके तथा (३) स्वेद-ग्रन्थियो मे स्थित नाडियो के सिरो को उत्तेजित करके। आधुनिक इसे डाइफोरेटिक्स (Liaphoretic) कहते हैं। यूनानी वैद्यक मे इसे 'मुअर्रिक' कहा है। जो द्रव्य स्तम्भ (अङ्गो की निश्चेष्टता-जकडन) गौरव तथा शीत को नष्ट करे

क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥' (च चि. अ. ३)

(ख) 'लघन स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस. ।
पाचनान्यविपक्वाना दोषाणा तरुणज्वरे ॥' (च चि अ. ३)

१ 'अव्यक्तरूपेषु हितमेकान्तेनापतर्पणम् ।' (सु उ अ ३९)

२ (क) आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशे वमन परम् ॥
आनद्ध स्तिमितैर्दोषैर्यावन्त कालमातुर ।
कुर्यादनशन तावत् ·········· ॥

(ख) 'कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान् ।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्याना वमनैर्हरेत् ॥' (च चि अ ३)

३ (क) 'लघनेन क्षय नीते दोषे सधुक्षितेऽनले ।
विज्वरत्व लघुत्व च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥' (च चि. अ ३)

(ख) 'अनवस्थितदोषाग्नेर्लघन दोषपाचनम् ।
ज्वरघ्न दीपन काङ्क्षारुचिलाघवकारकम् ॥' (सु उ अ ३९)

(ग) लघन स्वेदन कालो यवागूस्तिक्तको रस ।
मलाना पाचनानि स्युर्यथावस्थ वा क्रमेण वा ॥' (अ हृ चि अ. १)

(घ) लघनै. क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति ।
स्वास्थ्य क्षुत्तृड् रुचि. पक्तिर्बलमोजश्च जायते ॥' (अ हृ चि अ १)

और पसीना लावे उसे स्वेदन कहते हैं।[1] स्वेदन द्रव्य प्राय उष्ण, तीक्ष्ण, स्निग्ध वा रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, सर वा स्थिर, गुरु गुण विशिष्ट होते हैं।[2] स्वेदन से स्रोतोशुद्धि भी होती है। उष्ण जल का पान सर्वाधिक निरापद स्वेदन तथा स्रोतो को शुद्ध करने वाला है।[2]

षडङ्गपानीय जल केवल तथा नरसार, स्वर्चो, यवक्षार युक्त, परमोपयोगी स्वेदन ज्वरी के लिए है। इससे खूब स्वेद निकलता है तथा स्रोतोविशुद्धि होती है। यह मूत्रल भी है तथा ज्वर और पिपासा को शान्त करता है।[3]

काल—दोषो को पचाने मे यह तृतीय क्रियाक्रम है। काल का अर्थ है समय। तरुण ज्वर मे सामावस्था रहती है और ६ या ८ दिन वीतने पर वह निराम हो जाता है अर्थात् ६ या ८ दिनो मे काल द्वारा स्वय दोषो का पाचन हो जाता है।[4]

यवागू—यह अग्नि को प्रदीप्त करती है। जिससे दोषो का पाचन होता है। वात, मूत्र, पुरीष तथा दोषो का अनुलोमन यवागू करती है। साथ ही द्रव तथा उष्ण होने से पसीना भी लाती है अर्थात् इससे स्वेदन कर्म द्वारा भी दोषो का पाचन होता है। द्रव होने से पिपासा की शान्ति तथा आहारभाव होने से प्राण की (वल की) रक्षा भी इसके सेवन से होती है। ज्वर मे सात्म्य होने से यह ज्वरघ्न तथा सर होने से शरीर मे लघुता उत्पन्न करती है।[5]

---

१ (क) स्तम्भगौरवशीतघ्न स्वेदन स्वेदकारकम्।

(ख) तृष्यते सलिल चोष्ण····· · ······· ।
दीपन पाचन चैव ज्वरघ्नमुभय हि तत ॥
स्रोतसा शोधन वल्यं रुचिस्वेदकर शिवम् ॥' (च चि. अ. ३)

२ (क) उष्ण तीक्ष्ण सर स्निग्ध रूक्षं सूक्ष्म द्रव स्थिरम्।
द्रव्यं गुरु च यत्प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥'
(स्वेदकारक धर्मकारकम्। चक्र.) (च सू अ २२)

(ख) ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः। ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थाना विकाराणा पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति। पाचनार्थं च पानीयमुष्ण, तस्मादेतज् ज्वरार्तेभ्य. प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्।' (च चि अ ३)

३ 'मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।
शृतशीत जल दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये ॥' (च. चि अ ३)

४ काल. इति अग्राह्य. । (चक्र —च चि. अ ३-१४२)

५ × × × यवागूभिरुपाचरेत्।
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः॥

यहाँ यवागू से मण्ड, पेया तथा यवागू तीनों का ग्रहण होना है। इनका यथावश्यक प्रयोग ज्वर से पीडित मनुष्य के लिये करना चाहिये। इसका प्रयोग छ: दिनों तक करने का आदेश है।

तिक्त रस—चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि ज्वर में पाचनार्थ तिक्त रस का जो उल्लेख है वह यवागू तथा पानीय द्रव्यों के संस्कार के लिये है। तिक्त रस ज्वरघ्न तथा पाचन होता है।'

ज्वर का सामान्य क्रियाक्रम—सभी प्रकार के ज्वरों में ज्वर का सामान्य लक्षण ज्वर-प्रभाव 'सन्ताप' (वृद्ध ताप) है। अत. इस वृद्ध ताप को प्रकृत ताप की अवस्था में लाना ज्वर की सामान्य चिकित्सा है। सन्ताप या वृद्ध ताप पित्त के प्रकोप अथवा वृद्धि का परिचायक है। अत ज्वर के प्रभाव-सन्ताप को प्रकृत ताप पर लाने के लिये प्रकुपित पित्त का प्रसादन तथा वृद्ध पित्त को कमकर प्रकृत अवस्था में लाना चाहिये। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये पित्त-प्रकोप के तथा पित्त की वृद्धि के कारणों पर दृष्टिपात करना परमावश्यक है। कारणों का पता लगाकर सर्वप्रथम उनका परिवर्जन करना चाहिये। निदान का परिवर्जन ही संक्षिप्त क्रियाक्रम है। इसके अनन्तर पित्त प्रसादक तथा पित्त ह्रासकर औषधों का उपयोग उचित है। साथ ही ज्वर के आमाशयोत्थ होने से साम निराम का विचार भी आवश्यक है। सामावस्था में उपर्युक्त पाचन का विधान करना चाहिये। उपर्युक्त पाचनों में तिक्त रस आम-पाचन के साथ-साथ पित्तप्रसाधक तथा पित्तह्रासकर भी है।

सन्ताप ज्वर-शमनार्थ बाह्य प्रयोग :—

(१) शीत क्रिया—शिर पर बरफ की थैली का रखना, शीतल जल से शिर को बार-बार धोना, अथवा शिर पर शीतल जल की धारा देना, सुखोष्ण

यावज्ज्वरमृदुभावात् पटह वा विचक्षण ।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ॥
ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपना ।
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमना ॥
स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट्प्रशान्तये ।
आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥
ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात् तस्मात्पेयाभिरादित. ।
ज्वरानुपचरेद्धीमान् .... ॥' (च चि ३)

१ (क) 'संक्षेपत क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् ।' (सुश्रुते)
(ख) 'प्रकोपणविपर्ययो हि धातूना प्रशमकारणम् ।'(चरक)
(ग) 'हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ।' (चरक)
(घ) 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय. ।' (माधव-मधुकोष.)

शीत अङ्गप्रोञ्छन, आर्द्रवस्त्रावगुण्ठन, बरफ झूलना, आदि का प्रयोग सन्ताप को दूर करता है। इनके अतिरिक्त शिर पर विष्णुतैल, सिरका तथा अण्डे की सफेदी को एक साथ मथित कर रखने मे भी सन्ताप का शमन होता है।

आभ्यन्तर प्रयोग :—

(१) उष्ण जलपान—(२) षडङ्गपानीय इन दोनो का वर्णन किया जा चुका है।

(३) नवसादर, यवक्षार, स्वर्जी, स्वर्जीक्षार इनका प्रयोग षडङ्गपानीय तथा परिश्रुत जल, शतपुष्पार्क, यवान्यर्क, देवदार्व्याद्यर्क, दशमूलार्क तथा किराताद्यर्क मे मिलाकर यथावश्यक कोई, इनमे प्रथम चार द्रव्य पाचन के साथ-साथ स्वेदन तथा मूत्रल भी है। शतपुष्पार्क दीपन तथा यवान्यर्क दीपन और पाचन है। शेष औषधियाँ पित्तप्रसाधक, पित्तहर तथा ज्वरहर हैं।

(४) गोदन्ती, जहरमोहरा पिष्टी, विषाण (मृगशृङ्ग) भस्म, रसादि वटी, गोदन्तीमिश्रण, हिंगुलेश्वर, मृत्युञ्जय, ज्वरकेसरी, त्रिभुवनकीर्ति रस, ज्वरसंहार तथा सञ्जीवनी वटी का यथावश्यक प्रयोग तरुण ज्वर मे सन्ताप को शमन करने के लिये करना चाहिये। यहाँ इस बात का सदा ध्यान रखे कि ज्वरहर औषधो का प्रयोग सदा दोष-पाचनानन्तर करना ही श्रेयस्कर है।

गोदन्ती—रासायनिक सगठन के अनुसार यह खटिका और गन्धक का योग (Calcium & Sulpher) है। यह पित्तप्रसाधक होने से ज्वरघ्न है। शिर शूल, पित्त, क्षय तथा कास मे लाभप्रद है। यह रक्तसंचाराधिक्य को न्यून कर शिर शूल तथा ज्वर को शान्त करती है। श्लेष्मनिःसारक होने से कास मे लाभ करती है। इसकी मात्रा २ से ८ रत्ती तक है।

जहरमोहरा पिष्टी—यह विषघ्न होने से ज्वरोत्पादक विष को शान्त करता है। पित्त प्रसाधक तथा हृदय को बल देने वाली औषधो मे यह श्रेष्ठ तथा निरापद है। इसकी मात्रा २—८ रत्ती तक है।

विषाण (मृग शृङ्ग) भस्म—यह भी पित्त प्रसाधक औषध है। यह कफ तथा वात के विकार को शान्त करता है। फुफ्फुस शोथ, हृदय शूल तथा पार्श्वशूल को शान्त करता है। इसका प्रयोग विशेष रूप से कफज्वर मे होता है। सन्निपात-ज्वर मे भी यह अच्छा लाभ करता है। इसकी मात्रा २—८ रत्ती तक।

रसादि वटी—यह परम पित्तप्रशामक तथा सन्तापहर औषधि है। इसके प्रयोग से ज्वर का वेग शीघ्र न्यून हो जाता है तथा दाह, तृषा, वमन और हिक्का को भी यह शान्त करती है।

इसका प्रयोग गोदन्ती, जहर-मोहरा पिष्टी के साथ करने से ज्वर का सन्ताप शीघ्र दूर हो जाता है तथा दाह, तृषा, वमन, शिर शूल आदि ज्वर के कष्ट सद्य न्यून हो जाते है। यह ज्वर हर उत्तम योग है। इस योग का ही नाम 'गोदन्ती मिश्रण' है।[1]

हिंगुलेश्वर रस—यह आम दोष को पचाता है तथा ज्वर के सन्ताप को दूर करता है। यह आमवात ज्वर तथा वात ज्वर मे विशेष लाभ करता है। इसका प्रधान घटक द्रव्य विष (शु० वत्सनाभ) है जो मूत्रल, स्वेदजनन, वृद्धताप शमन तथा अङ्गमर्दविनाशक होता है। यह तापकेन्द्र की उत्तेजना को (मस्तिष्क देश मे बढे हुये रक्त सचार को कम करके) कम करता है। (इसमे)—हिंगुल का योग होने से यह हृद्य (हृदय को बल देनेवाला) भी है। पिप्पली का योग होने से यह दीपन तथा पाचन भी है। इसकी मात्रा ३ से १ रत्ती तक है।

मृत्युञ्जय रस—शुद्ध वत्सनाभ विष का यह दूसरा योग है। इसमे हिंगुल के अतिरिक्त शुद्ध गन्धक, पिप्पली, मरिच तथा टकण (शु० टकण) रहता है। अत कफ ज्वर मे यह अधिक लाभ करता है। फुफ्फुस शोथ तथा उदर-विकार आध्मान आदि मे यह विशेष लाभ करता है। मात्रा १ रत्ती।

त्रिभुवन कीर्ति रस—इसके घटक मृत्युञ्जय के समान ही है। इसमे हिंगुल के स्थान पर रससिन्दूर पडता है। यह मृत्युंजय से अधिक गुणद होता है। मात्रा—१ रत्ती।

ज्वरकेशरी—यह भी शुद्ध वत्सनाभ का योग है जिसमे जयपाल (शुद्ध जमालगोटा) पडता है। इसमे हिंगुल के स्थान पर कज्जली डाली जाती है। यह पित्तज्वर मे तथा ऐसे ज्वरो मे जहाँ कोष्ठबद्धता होती है प्रयुक्त होती है। इसके प्रयोग से कोष्ठशुद्धि के साथ सताप (ज्वर वेग) न्यून होता है।

ज्वरसंहाररस—यह भी वत्सनाभ का ही योग है। इसका प्रयोग कफ ज्वर तथा वातकफज्वर मे लाभप्रद होता है।

संजीवनी वटी—यह अजीर्ण से उत्पन्न ज्वर मे विशेष लाभ करती है।

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा—स्वस्थ पुरुष के लिए स्वस्थवृत्तानुपालन तथा पूर्वरूपावस्था मे दोषानुसार प्रतिकार ज्वर की प्रतिषेधात्मक चिकित्सा है।

---

१ (क) रसतरङ्गिणी (सदानन्द शर्माकृत)
(ख) रसामृत (श्री यादव जी कृत)
(ग) सिद्धयोग सग्रह।
(घ) भावप्रकाश (ज्वराधिकार)
(इन योगों का विशिष्ट वर्णन परिशिष्ट में देखें)

पूर्वरूप का श्रीगणेश दोष संचयावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है अतः ऐसा उपाय करना चाहिए कि शरीर मे दोषो का संचय न होने पावे। जैसे—ऋतुओ के अनुसार ऋतुचर्या आदि का पालन। यदि दोष सचय उक्त विधान से न रोक सके तथा दोष-प्रकोपावस्था को प्राप्त हो, शरीर मे प्रसर करता हुआ स्रोतो-वैगुण्यवश स्थान सश्रयी हो रोगोत्पत्ति अपना अव्यक्त रूप (पूर्व रूप) दिखाने लगे तो उस समय यथा विहित लघनादि (लघुभोजनादि) प्रतिकार करे। जैसे—वात ज्वर के पूर्वरूप मे स्वच्छ घृतपान, पित्त ज्वर के पूर्वरूप मे विरेचन तथा कफ ज्वर के पूर्वरूप मे प्रच्छर्दन कराना चाहिए।[1]

इनके अतिरिक्त शरीर की 'क्षमता' को सयम द्वारा तथा युक्ति द्वारा वढावे।

नवज्वर में वर्जनीय—नये ज्वर (तरुण ज्वर) मे दिवा शयन, स्नान, तैल की मालिश, गुरु भोजन, क्रोध, पूर्व दिशा की वायु का सेवन अनेक प्रकार के व्यायाम और कषायपान, (क्वाथ पीना), इन सवको रोगी त्याग देवे। क्योकि इनके सेवन से दोषो का अधिक प्रकोप होता है।[2]



१ 'पूर्वरूपे प्रयुञ्जीत ज्वरस्य लघुभोजनम्।
लघनं च यथादोष विरेक वातिके पुनः॥
पाययेत् सर्पिरेवाच्छ पैत्तिके तु विरेचनम्।
मृदु प्रच्छर्दन तद्वत् कफजे तु विधीयते॥' (भै. र.)

२ (क) भै र (ज्वराधिकार)
(ख) च चि अ. ३।

द्वितीय अध्याय

निज ज्वर—दोषो (वात, पित्त, कफ) से उत्पन्न ज्वरो को 'निजज्वर कहा गया है। ये ज्वर पृथक्-पृथक् वातादि दोषो से ३ प्रकार के तथा संसर्ग (दो दोषो के ससर्ग) से ३ प्रकार के और तीनो दोषो के सन्निपात से १ प्रकार के, इस प्रकार सात प्रकार के मुख्यरूपेण होते हैं।

निजज्वर

पृथक् २ दोषो मे ३ +	ससर्ग मे—३ +	सन्निपात मे १
(१) वात ज्वर	(१) वातपित्त ज्वर	मुख्यत
(२) पित्त ज्वर	(२) वातकफ ज्वर	(१३ प्रकार के
(३) कफ ज्वर	(३) पित्तकफ ज्वर	त्रिदोषज ज्वर)

वात ज्वर (सम्प्राप्ति तथा लक्षण)—वात प्रकोपक मिथ्याआहार तथा विहार से प्रकुपित वात जब पाचक पित्त के स्थान आमाशय और पच्यमानाशय मे प्रवेश कर, पाचक पित्त की उष्मा के साथ मिल, रस धातु को प्राप्त हो, अपनी सामता (आम सम्पृक्त होने) के कारण रस-स्वेदवह स्रोतो का अवरोध कर, जठराग्नि को मन्द कर, पाचन स्थान से पाचकाग्नि की उष्मा को बाहर निकाल कर समग्र शरीर मे व्याप्त होता है, तब ज्वर उत्पन्न करता है। वात के विषम स्वभाव होने से वात ज्वर मे ज्वर का वेग भी विषम अर्थात् ज्वर के चढने और उतरने मे विषमता (थोडे-थोडे समय मे घटना-बढना), सन्ताप का वैषम्य (किसी अङ्ग मे अधिक तो किसी अङ्ग मे कम सन्ताप का होना), कदाचित् अधिक तो कदाचित् न्यून सन्ताप होना, अन्न (भुक्तान्न) जीर्ण होने पर, दिन के अन्त मे अथवा प्रावृड् ऋतु मे ज्वर का आगमन या वृद्धि, नख-नेत्र-मुख-मूत्र प्रवृत्ति मे अवरोध, शरीर के विभिन्न अवयवो मे नाना प्रकार के चल या अचल (अस्थिर या स्थिर) वेदनाओ का प्रादुर्भाव, जैसे—पाँव मे सूनापन (सुप्तता), पिण्डलियो मे उद्वेष्टन, जघा का अवसाद, (शिथिलता), कमर मे टूटने की सी पीड़ा, कन्धो मे मन्थनवत् पीडा, पार्श्व शूल, पीठ मे मर्दनवत् पीडा, बाहु मे फटने के समान वेदना, बाहु सन्धि मे तोडने समान पीडा, छाती मे सूई भोकने-सी पीडा, जबडो की स्वकर्म मे असमर्थता (चबाने की अशक्ति) कनपट्टी मे सूई चुभने-सी पीडा, मुख का स्वाद बिगड जाना, मुख, तालु और कण्ठ का सूखना,

प्यास अधिक लगना, छाती में जकड़ने की सी पीडा, उत्क्लेश, सूखी कास, छींक तथा डकार का न आना, अन्न में स्वाद का न मिलना, लालास्राव, अरुचि, अपचन, मन की खिन्नता, जम्भाई का आना, शरीर का नमना, कम्प, थकावट, भ्रम, प्रलाप, निद्रा का न आना, रोमहर्ष, दन्तहर्ष, उष्ण पदार्थों की इच्छा, मल बंध कर कठिन हो जाना, पेट का अफारा तथा वात ज्वर के निदानों से ज्वर की वृद्धि और उनसे विपरीत आहार-विहार और ओषध से सुख (आरोग्य) का अनुभव होना, ये सब वातज्वर के लक्षण हैं[1]।

निदान—चरक ने वात ज्वर के अधोलिखित निदान कहे हैं—

आहार सम्बन्धी—	विहार सम्बन्धी—
१ रूक्ष-लघु तथा शीत पदार्थों का अति सेवन	१ अति व्यायाम
२ उपवास (अनशन)	२ मल-मूत्रादि के वेगों का धारण
३ कटुकातिसेवा	३ मैथुन (कापाय)
४ कापायातिसेवा	४ उद्वेग
५ रूक्षातिसेवा	५ शोक
६ लघुद्रव्यातिसेवा	६ रात्रि जागरण
७ शुष्काति ”	७ शरीरावयवों का विषम न्यास (चेष्टा)
८ शाकाति ”	८ वल-वलि ग्रह

१. (क) रूक्ष लघु-शीत-वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचनातियोग-व्यायाम-वेग-संधारणानशनाभिघात व्यवायोद्वेग-शोक-शोणितातिसेक-जागरण-विषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायु• प्रकोपमापद्यते । स यदा प्रकुपित• प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्याहारपरिणामधातु रसं नामान-मन्ववेत्य, रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य, पक्तिस्थानादूष्माण बहिर्निरस्य, केवल शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा-विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्यम्, तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते, दिवसान्ते, निशान्ते, घर्मान्ते वा ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा विशेषेण, परुषारुणवर्णत्व नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं, क्लृप्तीभावश्च, अनेकविधोपमाश्चलाचलाश्च वेदनास्तेषा तेषामङ्गावयवाना, तद्यथा पादयो• सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टन, जानुनो केवलानां च सन्धीना विश्लेषणम्, ऊर्वो साद•, कटिपार्श्वपृष्ठस्कन्धबाह्वंसोरसां च भग्नरुग्णमृदितमथित-चटितावपीडितावनुन्नत्वमिव हन्वोश्चाप्रसिद्धि, स्वनश्च कर्णयो•, शङ्खयोर्निस्तोद, कषायास्यनाऽऽस्यवैरस्य वा, मुखतालुकण्ठशोष•, पिपासा, हृदयग्रह, शुष्कच्छर्दि• × × × इत्यादि । (च• नि १)

आहार सम्बन्धी—		विहार सम्बन्धी—
९ वल्लूर	अतिसेवा	९ अध्ययन
१० वरक	"	१० प्रगमन
११ कुद्दालक	"	११ प्रधावन
१२ कोरदूषक	"	१२ प्रपीडन
१३ श्यामाक	"	१३ अभिघात
१४ नीवार	"	१४ लंघन
१५ मुद्ग	"	१५ प्लवन
१६ मसूर	"	१६ प्रतरण
१७ आढकी	"	१७ रात्रि जागरण
१८ हरेणु	"	१८ भार हरण
१९ कलाय	"	१९ गजादि चर्या
२० निष्पाव	"	२० तुरगादि चर्या
२१ विषमाशन	"	२१ रथादि चर्या
२२ अध्यशन	"	२२ पदाति चर्या

प्रतिकर्म सम्बन्धी—

(१) वमन, विरेचन, आस्थापन (निरूह वस्ति) तथा शिरोविरेचन का अतियोग।

निदानार्थकर रोग—

(१) रक्तातिस्राव (अ० स० नि० २, सु० उ० अ० ३९)।

विमर्श—वातज्वर का उल्लेख अथर्ववेद मे भी प्राप्त होता है (अर्थ० १।१२।३-४)। वातज्वर के उपर्युक्त सम्प्राप्ति तथा लक्षणो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि पित्त के प्रकोप या वृद्धि के बिना सन्ताप का शरीर मे होना असम्भव है तथापि ज्वरोत्पत्ति मे (सन्तापोत्पत्ति मे) जब उक्त कारणो से वात का ही आरम्भकत्व होता है तब वात ज्वर की उत्पत्ति होती है और सन्ताप (ज्वर) का स्वरूप भी तदनुकूल अर्थात् वात के लक्षणो से युक्त होता है।

ज्वर की प्रवृत्ति तथा वृद्धि को ज्वर का वेग कहते हैं। वातज्वर मे वात के आरम्भकत्व होने से ज्वर की प्रवृत्ति तथा वृद्धि का समय अनियत होता है जिसको सुश्रुत ने 'विषमवेग' कहा है। चरक ने इसे 'विषमारम्भ विसर्गी' पद द्वारा अभिव्यक्त किया है। चक्रपाणिदत्त ने इसकी व्याख्या करते समय

स्पष्ट किया है कि—'आरम्भ. उत्पाद' विसर्गो मोक्ष, 'तौ विषमौ यस्य स विषमारम्भविसर्ग' अर्थात् ज्वर का वेग कभी शिर से आरम्भ होता है तो कभी पीठ से या जंघा से तथा कभी ज्वर तेज होता है तो कभी मन्द इत्यादि। इसी प्रकार उसकी निवृत्ति का समय भी अनियमित होता है। इसके अतिरिक्त वायु के प्राबल्यवश अनिद्रा भी होती है। कुछ व्याख्याकारों ने 'क्षवस्तम्भ' का अर्थ 'क्षव' तथा स्तम्भ को पृथक् मानकर छींको की प्रवृत्ति तथा शरीर की जड़ता ऐसा किया है जो मेरे विचार से युक्त नहीं। यहाँ 'क्षवस्तम्भ' से छींक का रुक जाना अर्थ ही उचित है, क्योंकि वाग्भट ने वात ज्वर के लक्षणों मे क्षवथोर्ग्रह' पद से इसका निराकरण कर दिया है। इसके अतिरिक्त चरक ने भी 'विषमारम्भविसर्गित्वम्' इत्यादि लक्षणो मे 'क्षवथूद्गारनिग्रह' इस पद के द्वारा छींक के निग्रह का ही प्रतिपादन किया है। वात ज्वर मे यद्यपि वेदना का अनुभव समस्त शरीर मे होता है तथापि शिर एवं हृदय प्रदेश मे इसकी विशेष प्रतीति होती है जिससे सुश्रुत ने उसका विशेषरूप में उल्लेख किया है। वात ज्वर की अधोलिखित सारिणी से इनका स्पष्टीकरण हो जायगा।

वात ज्वर के लक्षण	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
१—ज्वर—				
(१) विषमारम्भविसर्गी	+	—	—	—
(२) विषमो वेग	—	+	—	—
(३) आगमापगमवैषम्यम्	—	—	+	—
२—(१) ऊष्मणो वैषम्यम्—	+	—	+	—
(२) तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य	+	—	—	—
(३) क्षोभ-मृदुता-वेदनावैषम्यम्	—	—	+	—
३—(१) जरणान्ते (२) दिवसान्ते (३) निशान्ते (४) घर्मान्ते वा (५) आगमनमभिवृद्धिर्वा	+	—	—	—
४—(१) परुषता—नखस्य नयनस्य वदनस्य मूत्रस्य पुरीषस्य त्वचाम्	+	—	+ रूक्ष	—

वात ज्वर के लक्षण	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
(२) अरुणवर्णता ,, —	+	—	+	—
५—गात्ररौक्ष्यम्	—	+	-	—
६—अत्यर्थ रूक्षभाव				
(अप्रवृत्तिर्मलाना तथा स्फुटन नखादीनाम्)	+	—	+	—
७—अनेकविधवेदना —				
(१) पादयो· सुप्तता	+	—	+	—
(२) पिण्डिकयोरुद्वेष्टनम्	+	—	+	—
(३) जानुनो केवलाना च सन्धीना विश्लेष.	+	—	+	—
(४) ऊरुसाद	+	—	+	—
(५) कटि-पार्श्व-पृष्ठ-स्कन्ध-बाहृंसोरसा भग्न-रुग्ण-मृदित-पाटितावपाटितवनुन्नत्वमिव	+	—	+	—
८—हन्वोश्चाप्रसिद्धि	+	—	+	—
९—स्वनश्च कर्णयो	+	—	+	—
१०—शंखयोर्निस्तोद	+	—	+	—
११—(१) कषायास्यता	+	—	+	—
(२) आस्यवैरस्यम्	+	+	+	—
१२—मुख-तालु-कण्ठ-शोष:	+	+	+	—
१३—पिपासा	+	—	+	—
१४—हृदयग्रह	+	—	+	—
१५—शुष्कच्छर्दि	+	—	+	—
१६—शुष्ककास	+	—	+	—
१७—(१) क्षवथुग्रह:	+	स्तम्भ:	+	—
(२) उद्गारग्रह:	+	—	—	
१८—अन्नरसखेद	+	—	—	
१९—प्रसेक	+	—	+	
२०—अरोचक	+	—	+	
२१—अविपाक.	+	—	+	
२२—विषाद·	+	—	+	
२३—जृम्भा	+	+	+	
२४—विनाम·	+	—	+	

वात ज्वर के लक्षण	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
२५—वेपथु	+	+	+	
२६—श्रम	+	—		
२७—भ्रम	+	—		
२८—प्रलाप	+	—	+	
२९—प्रजागर	+	—	+	
३०—रोमहर्ष	+	—	+	
३१—दन्तहर्ष	+	—	+	
३२—अङ्गहर्ष	—	—	+	
३३—उष्णाभिप्रायता	+	—	+घर्मेच्छा	
३४—(१) पादयो स्ताभः	—	—	+	
(२) स्तम्भः	—	+	—	
३५—क्लम	—	—	+	
३६—कटिग्रह	—	—	+	
३७—पृष्ठक्षोदः	—	—	+	
३८—उदरनिष्पीडनम्	—	—	+	
३९—पार्श्वास्थिभेद	—	—	+	
४०—तोदो वक्षस (प्राजनेनेव)	—	—	+	
४१—भक्षणेऽशक्ति	—	—	+	
४२—मूर्ध्नि-वेदना	—	+	+	
४३—अस्वेदः	—	—	+	
४४—निद्रानाश	—	+	—	
४५—हृद्रुक्	—	+	+	
४६—गात्ररुक्	—	+	—	
४७—आध्मानम्	—	+	—	
४८—शूलम्	—	+	—	
४९—जृम्भा	+	+	+	

इन उपर्युक्त लक्षणो मे सन्ताप, अरुचि तथा तृष्णा, ज्वर का प्रभाव होने से वात ज्वर मे भी होता है। शेष लक्षण वातारम्भकत्व (ज्वरोत्पत्ति मे वात के प्रकोप) के बोधक हैं।[१]

१. (क) आगमापगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम्।
वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ता. स्युर्वेदनाश्चला.॥

ज्वरोत्पत्ति के वर्णन मे यह कहा जा चुका है कि सन्ताप जो ज्वर का प्रभाव है वह वृद्ध शरीरोष्मा का ही अवान्तररूप है। शरीरोष्मा पित्त के बिना सम्भव नही और उष्मा के बिना ज्वर का होना असम्भव है अत. वात ज्वर मे भी पित्त का उद्वेग अनिवार्य है। ज्वरोत्पत्ति मे वात के आरम्भकत्व होने पर भी पित्त का उद्रेक अनिवार्य है परन्तु इस उद्रेक का कारण वात दोष होना है यही यहाँ वैशिष्ट्य है और यही कारण है वात ज्वर मे सन्ताप (ज्वर का प्रभाव) का स्वरूप वात के अनुरूप अर्थात् 'विषम वेगी' होता है। तात्पर्य यह कहा कि ज्वर का 'विषमवेगित्व' अथवा 'विषमारम्भविसर्गित्व' अथवा ज्वर का 'अगमापगम वैषम्य' तथा 'ऊष्मा का वैषम्य' अथवा ऊष्मा का अनवस्थित तीव्र-तनुभाव होना, उनमे क्षोभ, मृदुता तथा वेदना का विषम रूप मे होना वात ज्वर का व्यावर्तक रूप है।

शारीर वायु शरीर के उस शक्ति का (Bio-phygical force) उत्पादक है जिनके द्वारा अखिल शारीर व्यापार सम्पन्न होते है। यही कारण है कि आचार्यो ने कहा है कि 'सर्वा हि चेष्टा वातेन' अर्थात् सभी चेष्टाओं का मूल-शारीर वात है। वात ज्वर मे उक्त सन्ताप का स्वरूप वात के प्रकोपवश होना होता है। साथ ही अन्य उपर्युक्त शारीर विकार भी वात के प्रकोपवश होते है।

पादयो सुप्तता स्तम्भ. पिण्डिकोद्वेष्टन क्लमः।
विश्लेष इव सन्धीना साद ऊर्वो कटिग्रहः॥
पृष्ठं क्षोदमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम्।
भिद्यन्त इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः॥
हृदयस्य ग्रहस्तोद· प्राजनेनेव वक्षस·।
स्कन्धयोर्मथन बाह्वोर्भेद पाटनमंसयो॥
अशक्तिर्भक्षणे हन्वोर्जृम्भण कर्णयो स्वन।
निस्तोद. शङ्खयोर्मूर्ध्नि वेदना विरसास्यता॥
कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम्।
रूक्षारुणत्वगास्याक्षि-नख-मूत्र-पुरीषता॥
प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाकास्वेद-जागरः।
कण्ठोष्ठशोषस्तृट् शुष्कौ छर्दिकासौ विषादिता॥
हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथु· क्षवथोर्ग्रह.।
भ्रम. प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिले ज्वरे॥ (वाग्भट. नि अ २)

(ख) वेपथुर्विषमो वेग. कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाश क्षुत. स्तम्भो गात्राणा रौक्ष्यमेव च॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं बद्धविट्कता।
जृम्भाऽऽध्मान तथा शूलं भवन्त्यनिलजे ज्वरे॥ (सु उ अ. ३९)

प्रतिकार—चरक संहिता के वात कलाकलीयाध्याय में वात के गुण कर्मों के वर्णन के साथ-साथ वात के प्रकोपणों तथा प्रशमनों का भी सामान्यरूपेण उल्लेख है। वहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि वात प्रकोप के विपरीत गुण-धर्मवाले द्रव्य वात को शान्त करने वाले होते हैं। चरक के 'दीर्घजीवितीयाध्याय' में भी इसका संकेत प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि स्निग्ध, गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छिल तथा घन गुण विशिष्ट द्रव्य वात को प्रशान्त करने वाले होते हैं।[1]

सामान्यरूपेण ज्वर प्रतिकार में पित्तहर ओषधों के ऊपर जो बल दिया गया है तथा ज्वरघ्न औषधों का जो संकेत किया गया है उनके प्रयोग में यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि वे उपचार वात-वर्धक न होवें। जैसे—ज्वर आमाशय समुत्थ होने से लंघन चिकित्सा के योग्य है। अतः वात ज्वर में लंघन के लिये लघु भोजन का उपयोग उपयुक्त होगा, क्योंकि वात क्षण भर भी लंघन को नहीं सह सकता। इसी प्रकार अन्य ज्वरघ्न उपचारों में भी इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा। रूक्षण तथा स्वेदन भी लंघन के अङ्ग हैं और ज्वर में आमदोष पाचनार्थ विहित है। वातज्वर में आवश्यक होने पर स्नेहपूर्वक रूक्षण तथा स्वेदन भी अभीष्ट होगा। काल जो आमदोष पाचन के लिये ज्वर में अपेक्षित है वह भी अन्य दोषों की अपेक्षा न्यून होगा। जैसे—वात ज्वर में पाँच दिन, पित्त ज्वर में ६ दिन और कफ ज्वर में ८ दिन तक लंघन आवश्यकतानुसार कराना औसत रूप में श्रेयस्कर माना गया है। इत्यादि। इसी प्रकार मण्ड, पेया तथा यवागू को संस्कृत करने के लिये जब पित्तहर या ज्वरघ्न तिक्तरस का प्रयोग करना होगा तो उसमें मधुर तथा स्निग्ध द्रव्यों का योग (जैसे—द्राक्षा या परूषक) करना उचित होगा। वात ज्वर के पूर्व रूप में प्रतिकार—आचार्यों ने वात ज्वर के पूर्व रूपावस्था में 'घृतपान' का विधान किया है।[2] परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि निरामवातजनित ज्वर के रूप में ही यह विधान लाभप्रद होता है। तात्पर्य यह कि श्रम, क्षयादि कारणों से प्रकुपित वातजन्य ज्वर के पूर्वरूप में ही घृत-पान प्रशस्त है। साम-वात ज्वर में तो सामान्य नियम 'लघु भोजन' तथा 'अपतर्पण' ही यथावश्यक करना उचित है।

---

१. च. सू. अ. १, च. सू. अ. १२।

२. (क) ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्।
पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम्॥
विधिर्मारुतजेष्वेष, ········ ·· ·····। (सु. उ. अ. ३९)

(ख) ज्वरस्येति निरामवातजनितस्य। × × × मारुतजेषु श्रमक्षयादिकुपित-वातज्वरपूर्वरूपेषु, न त्वामाशयानुपूर्व्योत्पन्नेषु सामवातज्वरपूर्वरूपेषु। (डल्हण)

सामान्य ज्वरवत् वात ज्वर में भी पाचन औषध देना चाहिये। एतदर्थ 'पंचमूल कषाय' (बृहत्) देने का विधान सुश्रुत ने किया है।[1]

पिप्पलीमूल, गुडूची तथा सोंठ का कषाय भी वात ज्वर में पाचनार्थ दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त किरातादि क्वाथ तथा पिप्पल्यादि क्वाथ भी वात ज्वर के सामावस्था में पाचनार्थ देने से लाभ होता है। ये दोनो कषाय पाचन के साथ ज्वरहर भी हैं। इन पाचन कषायों के अतिरिक्त (१) गुडूच्यादि क्वाथ, (२) द्राक्षादि क्वाथ, (३) रास्नादि क्वाथ, (४) त्रिवृतादि क्वाथ, (५) विश्वादि क्वाथ, (६) भूनिम्बादि क्वाथ, (७) पञ्चमूलादि क्वाथ, (८) कणादि क्वाथ, (९) शतपुष्पादि क्वाथ, (१०) शाल्पर्ण्यादि क्वाथ तथा (११) दशमूलादि क्वाथ देने का आदेश शास्त्रों में उपलब्ध होता है। (१) गुडूच्यादि स्वरस तथा (२) शतावर्यादि स्वरस देने का भी विधान वात ज्वर में भैषज्य रत्नावली में है। इन उपर्युक्त क्वाथों का प्रयोग यथावश्यक वात ज्वर में करना चाहिये। इनके प्रयोग का विस्तृत विवरण परिशिष्ट में देखें।

प्रत्येक ज्वर में साम निराम का विचार तथा तरुण और जीर्ण का विचार आवश्यक होता है। वात ज्वर में भी इनका विचार इनके लक्षणों (सामवात के लक्षणों) को देखकर तथा सामान्य तरुण ज्वर की अवधि को देखकर चिकित्सा की व्यवस्था करना श्रेयस्कर है। पहले संकेत कर चुके हैं कि ज्वर की सामावस्था में स्रोतोरोध, वलभ्रंश, शरीरगौरव, अनिलमूत्रता, लालाप्रसेक, हृल्लास, हृदयाशुद्धि, अरुचि, तन्द्रा, आलस्य, अविपाक, आस्यवैरस्य, क्षुधा का नाश आदि आम के लक्षण ज्वर के साथ प्रगट होंगे।[2] इसी प्रकार वात ज्वर की तरुणावस्था सामान्यरूपेण सात रात तक मानी गई है। यह अवस्था प्राय सामावस्था ही होती है। अत ऐसी अवस्था में पाचन औषध देना ही श्रेयस्कर माना गया है।

वात ज्वर में रसौषधियों का प्रयोग—रसौषधियाँ प्राय, व्याधि-प्रत्यनीक होती हैं। अत इनके प्रयोग में दोषों का सामान्यरूपेण विचार नहीं

---

१ लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचका।
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्य गुरुगात्रता॥
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्व स्तब्धता बलवान् ज्वर.।
आमज्वरस्य लिङ्गानि.................. ॥ (माधवनिदान)

२ पूर्व पृष्ठ की न० २ पाद टिप्पणी।
(लालाप्रसेको............) (माधवनिदान)

किया जाता।' व्याधि के लक्षणो को देखकर योग (रसौषध) के गुण तथा प्रभावानुसार प्रयोग होता है। ये योग प्राय ज्वरहर होने के साथ कोई कोष्ठ शोधक तो कोई ग्राही तथा अन्य ज्वरानुबन्धी लक्षणों के शामक होते हैं। अत. इनका प्रयोग घटकों तथा फलश्रुति के अनुसार एव वृद्ध वैद्य व्यवहार को देखकर करना उचित है। ऐसी ओषधियो का वर्णन परिशिष्ट मे विस्तृत रूप मे देखे।

वात ज्वर मे प्राय कोष्ठबद्धता तथा अङ्गरुक् होता है। अत ऐसे ज्वरहर योगो का चुनाव करना श्रेयस्कर है जिनमे अन्य विकारो को दूर करने का सामर्थ्य हो अर्थात् जो कोष्ठ-शुद्धि करने वाले तथा वेदनाहर हो। प्राय शब्द का व्यवहार यहाँ इसलिए किया गया है कि कभी-कभी वात ज्वर मे भी विड्भेद लक्षण मिलता है। अत ऐसी अवस्था मे ऐसे ज्वरहर योगो का प्रयोग जो रेचक है करना अपेक्षित नही।

वातज्वर मे पथ्य-व्यवस्था—पहले कह चुके हैं कि वात ज्वर मे 'लघु भोजन रूप' लघन ही अपेक्षित है। वातज्वरी की पथ्यव्यवस्था मे वातहर आहार द्रव्यो का उपयोग करना चाहिए। पथ्य सदा सुपच (सुज्वर) और बृहग होना श्रेयस्कर है।

पित्त ज्वर —

पित्त प्रकोपक आहार-विहार से प्रकुपित पित्त आमाशय और पच्यमानाशय मे प्रविष्ट हो, रस धातु से मिल रस तथा स्वेदवाही स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न कर तथा अपने द्रव गुण से जाठराग्नि का अपघात कर पाचक अग्नि को (पाचन स्थानस्थ ऊष्मा को) बाहर निकाल (स्थानच्युत कर) जब समस्त शरीर मे व्याप्त होता है तब पित्त ज्वर को उत्पन्न करता हैं। इस पित्त ज्वर मे अधो-लिखित लक्षण होते हैं—

(१) सम्पूर्ण शरीर मे एक साथ ज्वर का व्यक्त होना या बढना, (२) विशेष रूप मे अन्न के विदाह काल मे अर्थात् पच्यमानावस्था मे, मध्यरात्रि, मध्याह्न या शरद् ऋतु मे ज्वर का आना या बढना, (३) मुँह का स्वाद कड़ुआ या तीता हो जाना, (४) नाक-मुँह-कण्ठ-होठ और तालु का पाक, (५) अधिक प्यास लगना, (६) मद (नशा या प्रतीत होना), (७) भ्रम (चक्कर आना), (८) मूर्च्छा, (९) पित्त का वमन, (१०) द्रवमल नि सरण (११) अन्न द्वेष, (१२) अनुत्साह (सुस्ती), (१३) पसीना अधिक आना, (१४) प्रलाप, (१५) शरीर पर लाल रग के चकत्ते का निकलना, (१६) नख-नेत्र-

---

१ 'न दोषाणा न रोगाणा न पुसाञ्च परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सितं॥' (आयुर्वेद विज्ञान भ रत्नावली)

मुख-मूत्र-मल और त्वचा का वर्ण हरा या पीला हो जाना, (१७) शरीर खूब उष्ण हो जाना, (१८) शरीर के अन्दर दाह (जलन) का अनुभव होना, (१९) ज्वर का वेग तीक्ष्ण रहना, (२०) शीतल पदार्थों की इच्छा, (२१) निःश्वास मे दुर्गन्ध, (२२) थूक मे रक्त आना, (२३) अम्लोद्गार तथा (२४) पित्त ज्वरोक्त निदानो से ज्वर का बढ़ना और उनके विपरीत आहार-विहारो से ज्वर का शान्त होना । ये लक्षण होते है ।[1]

पित्त ज्वर के निम्नलिखित निदानो का वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होता है[2] —

आहार सम्बन्धी निदान —

(१) अम्लातिसेवा, (२) लवणातिसेवा (३) कटुकातिसेवा, (४) क्षारातिसेवा, (५) उष्णातिसेवा, (६) तीक्ष्णातिसेवा, (७) लघुद्रव्यातिसेवा, (८) विदाही भोजन, (९) अम्लफल, (१०) सर्षप, (११) कुलत्थी, (१२) शाक, (१३) अतसी, (१४) तिल तैल, (१५) पिण्याक, (१६) अजामांस, (१७) आविकमांस, (१८) गोधा, (१९) मत्स्य, (२०) हस्तिक, (२१) दधि, (२२) तक्र, (२३) कूर्चिका, (२४) मस्तु, (२५) सौवीरक, (२६) सुराविकार, (२७) कट्वर, (२८) विषम भोजन ।

विहार सम्बन्धी निदान—

(१) तीक्ष्णातपसेवा, (२) अग्नि सन्ताप, (३) उपवास, (४) विदग्धऽन्ने मैथुनोपगमन, (५) श्रम, (६) क्रोध, (७) भय, (८) शोक, (९) आयास इत्यादि ।

---

१. × × × पित्त प्रकोपमापद्यते । तद्यदा प्रकुपितमामाशय—प्रविशदेवोष्माणमुपसृजत्याद्याहारपरिणामधातु रसनामानमन्वेत्य, रस-स्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय, द्रवत्वादग्निमुपहत्य, पक्तिस्थानादूष्माण वहिर्निरस्य प्रपीडयत्—केवल शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति । तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा, भुक्तस्य विदाहकाले-मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता, घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-तालुपाकः, तृष्णा, भ्रम , मदो, मूर्च्छा, पित्तच्छर्दन, अतिसारः, अन्नद्वेष , सदन, स्वेदः, प्रलाप , रक्तकोठाभिनिर्वृत्ति , शरीरे हरितहारिद्रत्व नख-नयन-वदन-मूत्र पुरीषत्वचाम्, अत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभाव , अतिमात्र दाह , शीताभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति ।' (च नि अ १)

२. उष्णाम्ल-लवणक्षार-कटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथाऽतितीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रम क्रोध विषमाहारेभ्यश्च पित्त प्रकोपमापद्यते ।' (च नि अ १, सु सू अ. २१)

पित्त ज्वर के लक्षण	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
१—ज्वर	+	+	+	+
(१) युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्यागमनम्	+	—	—	—
(२) अभिवृद्धिर्वा	+	—	—	
(३) तीक्ष्णो वेग	—	+	—	
तीव्रभाव	+	—	—	
(४) युगपद्व्याप्तिरङ्गानाम्	—	—	+	
(५) अत्यर्थमूष्मण	+	—	—	
(६) भुक्तस्य विदाहकाले-आगमनमभिवृद्धिर्वा	+	—	—	
(७) मध्यन्दिने ,,	+	—	—	
(८) अर्धरात्रे ,,	+	—	—	
(९) शरदि ,,	+	—	—	
२—तृष्णा	+	+	+	+
३—(१) घ्राणपाक	+	+	+	+
(२) मुखपाक	+	+		
(३) कण्ठपाक	+	+	+	+
(४) ओष्ठपाक	+	+	—	+
(५) तालुपाक	+	—	—	—
४—कटुकास्यता	+	+	+	+
५—भय	+	+	+	+
६—भ्रम	+	+	+	+
७—मूर्च्छा	+	+	+	+
८—अत्यर्थ पित्तच्छर्दनम्	+	+	+	+
९—अतिसार	+	+	+	+
१०—अन्नद्वेष	+	—	—	—
११—सदनम्	+	—	—	—
१२—स्वेद	+	+	+	+
१३—प्रलाप	+	+	+	+
१४—रक्तकोष्ठाभिनिर्वृत्ति	+	—	+	
१५—हरित—हारिद्रत्वम्	+		+	

पित्त ज्वर के लक्षण	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
(१) नखाना ,,	+			
(२) नयनयो	+	पीतता	+	
(३) वदनस्य	+			
(४) मूत्रस्य	+	,,	+	
(५) पुरीषस्य	+	,,	+	
(६) त्वच	+		+	
१६–अग्निमात्रं दाह	+	+	+	+
१७–शीताभिप्रायता	+	—	+	—
१८–निद्राल्पत्वम्	—	+	—	—
१९–अरति	—	—	+	—
२०–रक्तष्ठीवनम्	—	—	+	—
२१–अम्लक	—	—	+	—
२२–नि श्वासदौर्गन्ध्यम्	—	—	+	—

विमर्श—पित्त ज्वर की सम्प्राप्ति तथा उपर्युक्त लक्षणो पर दृष्टिपात करने से पित्त का आरम्भकत्व स्पष्ट हो जाता है। ज्वर का सम्पूर्ण शरीर मे युगपद् अभिव्यक्ति तथा वृद्धि और ज्वर के वेग की तीक्ष्णता एव ऊष्माधिक्य ये विशिष्ट लक्षण इस ज्वर उत्पत्ति मे पित्त का प्रथम भागस्थ आरम्भकत्व स्पष्ट कर देते है। पचन व्यापार मे, पित्त के कार्यकाल मे ज्वराभिवृद्धि तथा दिन, रात्रि एव ऋतु के भी पित्तकाल मे इसका विशेषरूप मे उदय होना तथा बढना पित्तारम्भकत्व का प्रबल समर्थक है। शेष तृष्णा, दाह, पाक, पित्त वमन, अतिसार, मूर्च्छा, भय, स्वेदाधिक्य, रक्तकोठाभिनिर्वृत्ति, हरित-हारिद्रवर्ण का नख-नयन-आनन-सिरा आदि का होना, शीतेच्छा प्रभृति भी पित्तवृद्धि के स्पष्ट सूचक है। यहाँ अतिसार से द्रवमल-नि सरण समझना चाहिए क्योंकि यह पित्तज्वर का उपद्रव रूप है। पित्त के द्रवत्व या द्रवकारी गुण के कारण मल-द्रव हो जाता है। सभी ज्वरो म पित्त की उपस्थिति रहती है परन्तु पित्त ज्वर मे पित्त का प्राबल्य या प्रचुरता होने से ज्वर का वेग तीक्ष्ण होता है। निद्राल्पता वायु के समान पित्त का भी कार्य है। सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है कि 'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तम्'। पित्त के कफ स्थान आमाशय मे आ जाने से पित्त ज्वर मे पित्त का छेदन होता है। सामान्यरूपेण स्रोतोऽवरोधवश ज्वर मे स्वेद की प्रवृत्ति नही होती परन्तु पित्त ज्वर मे ज्वरोष्मा के अत्यधिक होने से स्वेद ग्रन्थियों का तथा स्वेदवह स्रोतो का मुख खुल जाता है जिससे स्वेद का निर्गम होता है। पित्तकृत ऊष्माजनित रूक्षता के कारण

पित्त-ज्वर मे वायु का अनुबन्ध होने से भ्रम की उत्पत्ति होती है। कहा भी है—'रज पित्तानिलाद्भ्रम'[1] मूर्च्छा से यहाँ रूप आदि विषयो का अज्ञान या विस्मृति समझनी चाहिए। पित्त ज्वर विशेषरूप मे शरद् ऋतु, भोजन के विदाहकाल, मध्याह्न तथा अर्धरात्रि मे प्रारम्भ होता है अथवा ज्वर के वेग की वृद्धि होती है क्योंकि स्वभावत इस काल मे पित्त का प्रकोप होता है।

प्रतिकार—सामान्य या अधिक उष्मा पित्त के बिना सम्भव नही और उष्मा के बिना ज्वर नही हो सकता। अत ज्वर का कारण पित्त ही है—यह पहले कहा जा चुका है।[2] ज्वर मे पित्त के इस प्राधान्य को लक्ष्य मे रखकर ही अन्य समृष्ट या सनिपतित ज्वरो मे भी पित्त का उपचार प्रथम करने का एव तरुण-ज्वरो मे तिक्त रस के सेवन का दोष पाचनार्थ विधान है।[3] ज्वर की चिकित्सा

---

१ (क) 'वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्व तथा वमि ।
कण्ठौष्ठमुखनासाना पाक' स्वेदश्च जायते ॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्व पैत्तिके भ्रम एव च ॥' (सु उ. अ. ३९)

(ख) अतिसार पित्तस्य सरत्वेन सद्रवाप्रवृत्तिर्नत्वतिसार॰, तस्य ज्वरोपद्रवात्। ×× वमि॰ पित्तस्य कफस्थानगमनात्। स्वेदो घर्मागमन प्रायेण सामदोषेण स्रोतसा निरोधात् सर्वज्वरेषु घर्मनिरोध', अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्ज्वरप्रभावाद्वा स न भवति। (मा. नि मधुकोष)

(ग) 'युगपद् व्याप्तिरङ्गाना प्रलाप॰ कटुवक्त्रता ।
नासास्यपाक शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा मदोऽरति ॥
विट्स्रस॰ पित्तवमन रक्तष्ठीवनमम्लक ।
रक्तकोठोद्गम पीतहरितत्व त्वगादिषु ॥
स्वेदो निःश्वासवैगन्ध्यमतितृष्णा च पित्तजे ।' (अ. हृ. नि २)

(घ) 'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्' (सु शा अ. ४)

(ङ) 'रजःपित्तानिलाद्भ्रमः ।' (सु. शा. अ ४)

(च) द्रवत्वादग्निमुपहत्यैति वचनादुष्णस्यापि पित्तस्य द्रवत्वेनाग्नि-विपरीतेन गुणेनाग्निहन्तृता दर्शयति वक्ष्यते हि ग्रहण्यध्याये—' आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्। (च चि १५ चक्रः)

(छ) 'युगपदेवेति न वैषम्येण ।' (चक्रः)

२ 'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति, ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना ।' (अ. हृ चि १, १६)

३ (क) 'पित्तज्वरोक्त शमन विरेकोऽन्यद्धितं च यत् ।
निर्हरेत्पित्तमेवादौ दोषेषु समवायिषु ॥
दुर्निवारतर तद्धि ज्वरार्ताना विशेषतः ।' (सु उ. अ. ३९, २९४)

(ख) 'समवाये तु दोषाणा पूर्वं पित्तमुपाचरेत् ।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम् ॥' (सु उ. ४०, १६१)

मे सामान्यरूपेण आरम्भ मे दोषपाचनार्थ एवं ज्वर मे प्रथम दूष्य-रस धातु को तथा स्थान आमाशय को लक्ष्य मे रखते हुए लंघन कराना ही उचित है। ज्वर के मध्य मे पाचन तथा ज्वर के वेग मन्द हो जाने पर ज्वर प्रत्यनीक (पित्तहर) औषध और ज्वर की मुक्ति होने पर विरेचन देना उचित समझा गया है[1], यह सामान्य नियम होने पर भी पित्त ज्वर मे विशेषरूपेण उपयुक्त है। पित्त और कफ का स्थान आमाशय है तथा ज्वर आमाशयोत्थ व्याधि है। अत पित्त ज्वर मे भी सर्वप्रथम लघन क्रिया अभीष्ट है।[2] इसके अतिरिक्त पित्त द्रव धातु है अत लंघन-साध्य तथा लघन-सह्य है। पित्त मे, द्रवत्व, गुरुत्व, तथा स्निग्धत्व कफ की अपेक्षा न्यून होती है और पित्त के तीक्ष्ण गुण के कारण भी कफ की अपेक्षा लघन की मर्यादा स्वभावत न्यून होती है।[3] पित्त ज्वर के पूर्वरूप मे ही विरेचन देने से ज्वर का आगमन रुक जाता है अथवा ज्वर का वेग अपेक्षाकृत न्यून होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि विरेचन मृदु हो जैसे—मुनक्का, गुलाव के फूल, मुलेठी, अमलतास की गुद्दी से (यथालाभ से) ही विरेचन करावे।

पित्त ज्वर मे ऐसे ज्वरहर औषधो का चुनाव करना चाहिए जो मधुर-तिक्त-कषाय रस विशिष्ट हो तथा शीतवीर्य हो। सभी उपक्रमो मे विरेचन पित्त के लिए श्रेष्ठ माना गया है क्योकि यह पित्त के स्थान आमाशय मे प्रवेश कर व्याधि के मूल कारण पित्त का निर्हरण करता है।[4] यहाँ भी साम और निराम का विचार कर सर्वप्रथम रोगी को आमपाचनार्थ लघन (उपवास) कराना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा भस्म से आच्छन्न अग्नि जिस प्रकार किसी द्रव्य को पचाने मे असमर्थ होती है उसी प्रकार आमाच्छन्न जठराग्नि भी भुक्तान्न को पचाने मे असमर्थ रहती है। अत उपवास कराना उचित है।[5]

तिक्तादि क्वाथ—(१) आम दोष के पाचनार्थ पित्त ज्वर मे कटुकी, नागरमोथा, इन्द्रयव, पाठा, कायफल, सुगन्धवाला, इन्हे सम भाग लेकर यथाविधि क्वाथ करके खाँड मिला कर देना चाहिए। (२) केवल पित्तपापडा का क्वाथ भी पित्त ज्वर मे पाचनार्थ एव ज्वर शमन के लिए श्रेष्ठ माना गया है। यदि उसके साथ

---

१ 'ज्वरादौ लघन प्रोक्त ज्वरमध्ये तु पाचनम्।
ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥'

२ 'शान्तिरामाशयोत्थाना व्याधीना लघनक्रिया।' (च. नि. ८, ३१)

३ 'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लघन महत्।' (च. चि ३–२८३ पर चक्र)

४ च. सू अ. २०–१६।

५ 'आमेन भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्न न विपच्यते।
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितामुपवासयेत्॥' (अ हृ चि १–१०)

चन्दन, सुगन्धवाला और सोठ मिलाकर दिया जाय तो उसका गुण और भी बढ जाता है। इसी प्रकार (३) द्राक्षादि क्वाथ (४) ह्रीवेरादि क्वाथ (५) पटोलादि क्वाथ (६) गुडूच्यादि क्वाथ तथा (७) किरातादि क्वाथ का यथावश्यक एवं यथालाभ प्रयोग करे। इनका विशेप वर्णन परिशिष्ट मे देखे।

पित्त ज्वर मे प्राय अतिसार (मलातिवर्तन) होता है। अत अतिसार की अवस्था को देखकर ही पित्तहर औषधो का उपयोग श्रेयस्कर है। पित्त के सर गुण के कारण ही पित्त ज्वर मे मलातिनिसरण होता है। अत वृद्ध पित्त का निर्हरण अभीष्ट है। इसीलिए पित्त ज्वर मे मलातिसरण होने पर भी रेचन (मृदुरेचन) का विधान है परन्तु मृदु रेचन के चुनाव मे इस बात का सदा ध्यान रखना उचित है कि रेचन द्रव्य मधुर तथा तिक्त रसविशिष्ट एव शीतवीर्य हो।

पित्त ज्वर में रसौषधियों का प्रयोग—रसोपधियाँ प्राय व्याधि प्रत्यनीक होती हैं अत इनके चुनाव मे इनके घटकों का विचार कर ऐसे योगो का प्रयोग करे जिनमे पित्तहर द्रव्यो का योग अधिक हो तथा जिनके फलश्रुति मे पित्त ज्वर मे दृष्ट अधिक कष्टप्रद लक्षणो को शान्त करने का गुण वर्णित हो। पित्त ज्वर के प्रधान लक्षण ज्वर के वेग का तीक्ष्ण होना तथा तज्जन्य दाह, पिपासादि का उदय होना है। अत ज्वरहर औषधो का घटक ऐसा हो जो ज्वर के वेग को न्यून करनेवाला तथा दाह आदि को शान्त करनेवाला हो। जैसे—'गोदन्ती', जहर मोहरा, मुक्ता, चन्दन, उशीर, ह्रीवेरादि के योग। यादवजी कृत सिद्ध योग सग्रह मे वर्णित 'गोदन्ती मिश्रण' इसमे अच्छा लाभ करता है। इसी प्रकार (१) ज्वर केशरी का प्रयोग नारियल के पानी के साथ अथवा मिश्री या खाँड के साथ पित्त ज्वर मे अच्छा लाभ करता है। (रसोपधियो के प्रयोगार्थ परिशिष्ट देखे)।

पित्त ज्वर में पथ्य व्यवस्था—मधुर-तिक्त-कषाय रस विशिष्ट लघु एव सुजर आहार द्रव्यो का प्रयोग यथावश्यक यथाविधि करना चाहिए। पित्त के क्षपण गुण का ध्यान रखते हुए पित्त-ज्वरी को यथालाभ बृहण परन्तु सुजर आहार का प्रयोग अभीष्ट है।

कफ ज्वर :—

कफ प्रकोपक आहार-विहार के अति सेवन से प्रकुपित कफ आमाशय तथा पच्यमानाशय मे प्रवेश कर, **रस** धातु मे मिल, रस-स्वेदवह स्रोतो का अवरोध कर **पाचन सस्थान से** ऊष्मा को बाहर निकालकर जब सम्पूर्ण शरीर मे फैलता है तब कफ दोष के लक्षणवाला ज्वर उत्पन्न होता है। कफ ज्वर मे ये लक्षण होते

है।¹ एक साथ सम्पूर्ण शरीर मे ज्वर का उदय होना या हो तो बढना, विशेष करके भोजन के बाद, पूर्वाह्न, पूर्वरात्रि या वसन्त ऋतु मे ज्वर का आना अथवा आया हो तो बढना, शरीर का भारी अनुभव होना, अन्न मे अरुचि, मुख तथा नासिका से कफ नि सरण, मुख का स्वाद मीठा होना, उत्क्लेश (जी मिचलाना), छाती कफ से लिप्त या भरा अनुभव होना, गीले वस्त्र मे आच्छादित के समान शरीर का अनुभव होना, वमन, अग्निमाद्य, अधिक नीद आना, शरीर का जकडा हुआ-सा अनुभव होना, तन्द्रा, कास, श्वास, प्रतिश्याय, ठण्ड लगना, नख-नेत्र-मुख-मूत्र तथा त्वचा का श्वेत वर्ण होना, शरीर पर शीत पिडकाये (दाहरहित सफेद फुंसियाँ) निकलना, उष्ण पदार्थों की इच्छा, कफ ज्वर के जो कारण कहे गये हैं उनके सेवन से वृद्धि और उन विपरित गुण वाले द्रव्यो के सेवन से आराम मालूम पडना, रोमहर्ष, स्रोतो का अवरोध, शरीर मे मन्द पीडा, शरीर का अधिक उष्ण न होना। ये कफ ज्वर के लक्षण हैं।¹

कफज्वर के निदान²-आहार सम्बन्धी—

(१) मधुरातिसेवा	(१०) यवक
(२) लवणातिसेवा	(११) नैषध
(३) स्निग्धातिसेवा	(१२) इत्कट
(४) गुरुद्रव्यातिसेवा	(१३) माष
(५) पिच्छिलद्रव्यसेवा	(१४) महास्माष
(६) शीतद्रव्यसेवा	(१५) गोधूम
(७) अम्लातिसेवा	(१६) पिष्ट-विकृतिया
(८) अभिष्यन्दिद्रव्यसेवा	(१७) तिल ,,
(९) हायनक	(१८) दधि

१. (क) ××× 'श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स यदा प्रकुपित- प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्याहार-परिणामधातु रसनामानमन्वेत्य, रस-स्वेदवहानि स्रोतासि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य, प्रपीडयत् केवल शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति। तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभिगमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तमात्रे-पूर्वाह्णे-पूर्वरात्रे-वसन्ते वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वम्, अनन्नाभिलाषः, श्लेष्म-प्रसेक, मुखमाधुर्य, हृल्लास, हृदयोपलेप, स्तिमितत्व, छर्दि., मृद्वग्निता, ×××× उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो, विपरीतोपशयश्चेति।' (च. नि. अ. १)

२. (क) च नि. अ. १। (ख) सु. सू. अ. २१।

(१९) दूध
(२०) कृशरा
(२१) पायस
(२२) इक्षुरस
(२३) आनूपमांस
(२४) औदकमांस
(२५) वसा
(२६) विस
(२७) मृणाल
(२८) कसेरूक
(२९) शृङ्गाटक
(३०) मधुरफल
(३१) वल्लीफल
(३२) समशन
(३३) अध्यशन

विहारसम्बन्धी निदान—

(१) दिवास्वप्न (अधिक)
(२) प्रहर्ष ,,
(३) अव्यायाम (अधिक)
(४) आलस्य ,,

कफ ज्वर के लक्षण		चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
१—ज्वर					
(१) युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्यागमनम्		+	—	—	—
(२) शरीरे अभिवृद्धिर्वा	विशेषेण	+			
(३) भुक्तमात्रे ,,	विशेषेण	+			
(४) पूर्वाह्णे ,,	विशेषेण	+			
(५) पूर्वरात्रे ,,	विशेषेण	+			
(६) वसन्ते ,,	विशेषेण	+			
(७) स्तिमितो वेग: (मन्दवेग)	—	—	—	+ अल्पवेगता	+
(८) नात्युष्णगात्रता		—	+	—	+
२—उष्णाभिप्रायता		+			
३—गुरुगात्रत्वम्		+	+	+	+
४—अनन्नाभिलाष:		+			
५—अरुचि		—	+	+	+
६—श्लेष्मप्रसेक		+	—	—	
७—प्रसेक		—	+	+	+
८—मुखमाधुर्यम्		+	+	+	+
९—हृल्लास		+	—	+	
१०—हृदयोपलेप		+	—	+	

कफ ज्वर के लक्षण	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अन्य तंत्र
११—स्तिमितत्वम्	+	—	—	+
१२—छर्दि	+	+	+	+
१३—मृद्वग्निता	+	—	—	
१४—निद्राधिक्यम्	+	+	—	+
१५—(१) स्तम्भ	+	—	+	+
(२) जाड्यम्	—	—	+	
१६—तन्द्रा	+	—	+	
१७—कास	+	—	+	+
१८—श्वास	+	+	+	
१९—प्रतिश्याय	+	+	—	+
(क) पीनस	—	—	+	
२०—शैत्यम्	+	+	+	+
२१—श्वैत्यम्	+	—	+	+
(नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचाम्)				
२२—शीतपिडका	+	—	+	
२३—उत्क्लेश	—	+	—	+
२४—रोमहर्ष	—	+	—	+
२५—स्रोतोरोध	—	+	+	+
२६—रुगल्पत्वम्	—	+	—	+
२७—अङ्गसाद	—	+	—	
२८—अविपाकता	—	+	—	+
२९—अक्ष्णो शुक्लता	+	+	+	+
३०—उदर्द	—	—	+	
३१—आलस्यम्	—	—	—	+
३२—तृप्ति	—	—	—	+
३३—लवणास्यता	—	—	—	+
३४—लालास्राव	—	—	—	+

१ (क) 'गौरवं शीतमुत्क्लेशो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।
स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको मधुरास्यता ॥
नात्युष्णगात्रताच्छर्दिरङ्गसादोऽविपाकता ।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥' (सु. उ. अ. ३९)

विमर्श—कफज्वर की उपर्युक्त सम्प्राप्ति तथा कफप्रकोप के द्योतक या विशिष्ट लक्षण जैसे—दिन-रात, ऋतु तथा भोजन के कफवृद्धि काल मे इस ज्वर का विशेष रूप से आगमन तथा अभिवृद्धि, ज्वर के वेग का मन्द होना, नात्युष्णगात्रता, उष्णाभिप्रायता, गुरु गात्रता, अनन्नाभिलाष, अरुचि, श्लेष्म-प्रसेक, मुखमाधुर्य, स्तैमित्य आदि इस ज्वर की उत्पत्ति मे—कफ का आरम्भकत्व एवं प्रमुख भाग स्पष्ट कर देते हैं। ज्वर के अतिरिक्त इसमे दृष्टिगोचर होनेवाले सभी लक्षण कफ के ही प्रकोपक हैं। युगपद् सम्पूर्ण शरीर मे ज्वरागमन तथा अभिवृद्धि पित्तज्वर के समान होने पर भी आगमन तथा अभिवृद्धि-काल का वैशिष्ट्य एव ज्वर के वेग का मन्द होना तथा नात्युष्णगात्रता एव उष्णाभि-प्रायता पित्तज्वर से इसका पार्थक्य स्पष्ट कर देता है।

स्तैमित्य से यह स्पष्ट किया गया है कि इससे आक्रान्त ज्वरी अपने शरीर को आर्द्रवस्त्र से अवगुण्ठित सा अनुभव करता है।

प्रतिकार—जिस प्रकार वातज्वर की चिकित्सा मे—ज्वरहर औषधो का चुनाव करते समय रोग के आरम्भक दोष पर ध्यान आकृष्ट किया गया है उसी प्रकार कफज्वर मे भी कफ के आरम्भकत्व पर ध्यान रखना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि ज्वरहर सभी उपचारो का कफघ्न होना परमावश्यक है। ऐसे द्रव्य या उपचार जो कफवर्धक होगे वे कफज्वर को ज्वरहर होने पर भी शान्त करने मे समर्थ न होगे। पित्त से भी अधिक लघन सह्य कफज्वर होता है। क्योकि कफ द्रव होने के साथ २ गुरु और शीत गुण विशिष्ट होता है। इस ज्वर मे सामता अन्य ज्वरो की अपेक्षा अधिक होती है और कफ के मन्द गुण विशिष्ट होने से आम दोष के पाचन मे भी—अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। कफज्वर की सम्पूर्ण चिकित्सा अपतर्पण-प्रधान होती है। लघन,

---

(ख) 'विशेषादरुचिर्जाड्य स्रोतोरोधोऽल्पवेगता।
प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेपश्वासपीनसा॥
हृल्लासश्छर्दन कास स्तम्भ श्वैत्य त्वगादिपु।
अङ्गेपु शीतपिटकास्तन्द्रोदर्द कफोद्भवे॥' (अ ह नि २)

(ग) 'स्तैमित्य स्तिमितो वेग आलस्य मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्व स्तम्भस्तृप्तिरथापि च॥
गौरव शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
(स्रोतोरोधो रुगल्पत्व प्रसेको लवणास्यता॥
नात्युष्णगात्रताच्छर्दिर्लालास्रावोऽविपाकता।)
प्रतिश्यायोऽरुचि कास कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता॥' (मा. नि)

(घ) 'तेनाङ्गे पिडका शीत प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके।
हृद्युपलेप उष्णाभिलाषिता वह्निमार्दवम्॥' (मधुकोष.)

रूक्षण और स्वेदन इसके प्रधान अङ्ग हैं। दोषों के उत्कृष्ट होने पर वमन द्वारा कफ का शोधन भी कफज्वर के तरुण तथा अतरुण किसी भी अवस्था में विधेय होता है। परन्तु वमन के पूर्व यह अनिवार्य है कि दोष समग्र शरीर को छोड़कर केवल आमाशय में आकर स्थित हो गया हो तथा वह बहिर्गमनोन्मुख हो गया हो जिसकी प्रतीति हृल्लास आदि से होती है। यहाँ भी इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि रोगी वम्य अर्थात् वमन योग्य हो (गर्भिणी आदि निषिद्ध अवस्था न हो)।

अन्य ज्वरों के समान चिकित्सक को ज्वर की सामावस्था तथा निरामावस्था का विचार परमावश्यक है। सामावस्था में कफहर तथा ज्वरहर पाचनों की व्यवस्था करनी चाहिए। लंघन, स्वेदन, काल, तिक्त-कषायरस विशिष्ट, ज्वरहर द्रव्यों से सिद्ध यवागू का प्रयोग यथालाभ तथा यथावश्यक करना श्रेयस्कर है।

कफज्वर में प्रयुक्त होने वाले पाचन कषायें—

(१) मधुपिप्पली—मधु के साथ पिप्पली का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से कफज्वर में दोष का पाचन भलीभाँति होता है और तज्जन्य विकारों की शान्ति होती है। इसी प्रकार पिप्पल्यादि कषाय भी कफज्वर में श्रेष्ठ पाचन है।

(२) चातुर्भद्र—कायफल, पुष्करमूल, काकड़ा शृङ्गी और पिप्पली इनका क्वाथ मधु मिलाकर पान करने से दोष का शीघ्र पाचन होता है।

(३) सिन्दुवार क्वाथ—निर्गुण्डी के पत्तों का यथाविधि क्वाथ बनाकर मरिच के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर पीने से कफज्वर में दोषों का पाचन शीघ्र होकर ज्वर की शान्ति होती है।

(४) सप्तच्छदादि क्वाथ—सप्तपर्ण, गुडूची, नीम की छाल, तेन्दू की छाल, सम भाग लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे और मधु मिला कर सेवन करे। इससे भी अच्छा पाचन होता है।

(५) वासादि क्वाथ—अड़ूसे का पत्र, छोटी कटेरी तथा गुड़ूच का क्वाथ यथाविधि बना कर मधु मिला कर सेवन करने से कफ ज्वर में दोष का पाचन शीघ्र होता है।

इसी प्रकार (६) निम्बादि क्वाथ (७) मरिचादि क्वाथ (८) त्रिफलादि क्वाथ, (९) मुस्तादि क्वाथ, (१०) कटुत्रिकादि क्वाथ, आदि का यथावश्यक कफज्वर में व्यवहार करे।

कफज्वर के विकारों में प्रधानरूपेण अविपाक, अरुचि, कास आदि कष्ट तथा स्रोतोरोध और अग्निमांद्य आदि विकृतियाँ होती हैं। अतः इस ज्वर की चिकित्सा

मे सर्वथा ऐसे ही योगो का प्रयोग श्रेयस्कर है जो उक्त कष्टो मे लाभप्रद हो तथा उक्त विकृतियो को दूर करने वाला हो। तात्पर्य यह कि ज्वरहर योगो का कफघ्न होना भी आवश्यक है।

कफ ज्वर मे रसौषधियों का प्रयोगः—यद्यपि रसौषधियो के प्रयोग मे, इनके व्याधिप्रत्यनीक होने से दोपो का विचार अनिवार्य नही तथापि इनके योगो के घटको का दोषप्रत्यनीक होना श्रेयस्कर है। अत रसौषधियो के चुनाव मे इसका ध्यान रखना चाहिए। प्रधानरूप मे (१) कफ केतुरस, (२) श्लेष्म-कालानल रस, (३) कस्तूरी भैरव रस, इनका प्रयोग कफ ज्वर मे होता है। यो तो दोषप्रत्यनीक अनुमान से सभी ज्वरहर रस योगो का यथावश्यक प्रयोग किया जा सकता है। इनका विशिष्ट वर्णन परिशिष्ट मे देखे।

कफज्वर मे पथ्य—कफज्वर मे पथ्य की व्यवस्था करने मे पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। कफ तथा आम का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि थोडी भी असावधानी अनेक व्यापदो को उत्पन्न कर सकती है। कफज्वर सर्वाधिक लघन सह्य व्याधि है, अत लघन के अतियोग से उतना भय इसमे नही रहता जितना सतर्पण से रहता है। जब तक दोपो का पूर्ण रूप से पाचन तथा निर्हरण न हो जाय पथ्य की व्यवस्था निरापद नही। पथ्य की व्यवस्था करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि आहार द्रव्य कटु, तिक्त कषाय रस प्रधान हो तथा लघु, सुजर एव स्रोतोविशोधक हो।

द्वन्द्वज या संसर्गज ज्वर

द्वन्द्वज ज्वरो के हेतु और लक्षण—विषम भोजन (अधिक मात्रा मे अथवा अल्प मात्रा मे अथवा अकाल मे भोजन), अनशन (उपवास), सहसा असात्म्य आहार (खाना-पीना), ऋतुव्यापत्ति (ऋतुओ का विकृत रूप मे होना), असात्म्य गन्धसेवन, विषदूषित जल का उपयोग, कृत्रिम विष का सेवन, पहाडो की तराई मे निवास, विधि-विपरीत स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन-शिरोविरेचन प्रभृति कर्मों का करना तथा इन कर्मो के अनन्तर विधिवत् पथ्य आदि का सेवन न करना, स्त्रियो को विषम प्रसूति का होना, प्रसवानन्तर मिथ्योपचार, और पूर्वोक्त वातज्वर, पित्तज्वर, कफज्वर के हेतुओ को ससर्ग रूप मे (दो को मिलाकर) सेवन करने से यथानुकूल वातपित्त, वातकफ तथा पित्तकफ इन तीन द्वन्द्वो मे कोई दो मिलकर प्रकुपित होते है और उपर्युक्त सम्प्राप्ति के अनुसार द्वन्द्वज ज्वर को उत्पन्न करते है। इन तीन प्रकार के द्वन्द्वज ज्वरो मे यथानुक्रम पूर्वोक्त वातादि दोषो के मिले हुए लक्षण प्राय दृष्टिगोचर होते हैं। ये लक्षण प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वज ज्वरो के होते है।

विकृतिविषमसमवायारव्य द्वन्द्वज ज्वरो के लक्षणो मे कुछ विशेषता होती है—जिनका आगे वर्णन किया जायगा[1]।

विकृतिविषमसमवेत वात-पित्त ज्वर के लक्षण—विकृतिविषमसमवेत दोषो के लक्षणो मे विशेषता होती है। जैसे—रोमहर्ष, दाह, पर्वभेद (सन्धियो मे भेदनवत् पीडा), शिर शूल, कण्ठ तथा मुख का सूखना, वमन, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम (शिर मे चक्कर आना), अरति (बेचैनी), निद्रानाश, अधिक बोलना, जृम्भा तथा अरुचि ये वातपित्त ज्वर के लक्षण है[2]।

वातश्लेष्म ज्वर के लक्षण—इसी प्रकार विकृतिविषमसमवेत वात-

---

१ (क) 'विषमाशनादनशनादन्नस्य परिवर्तनादृतुव्यापत्तेरसात्म्यगन्धोपघ्राणाद्विषोपहतस्य चोदकस्योपयोगात्, गरेभ्यो, गिरीणां चोपश्लेषात्, स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामयथावत् प्रयोगान्मिथ्यासंसर्जनाद्वा, स्त्रीणां च मिथ्या प्रजननात् प्रजातानां च मिथ्योपचारात् यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथानिदानं द्वन्द्वानामन्यतमः (सर्वे वा) त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते। ते प्रकुपितास्तयैवानुपूर्व्या ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति। तत्र यथोक्तानां ज्वरलिङ्गानां मिश्रीभाव-विशेषदर्शनाद् द्वन्द्विकमन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यात्।' (च नि अ. १)

(ख) 'निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः। संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम्॥' (च चि अ ३) निदाने ज्वरनिदाने। प्रोक्ता—'तत्र यथोक्तानां ज्वरलिङ्गानाम्। इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागुक्तानामित्यर्थः। तथा चोक्तं स्वलक्षणमिति तथा द्वन्द्वरूपया द्वन्द्वलक्षणं सन्निपातरूपया च सन्निपातलक्षणमुक्तमित्यर्थः।' (चक्र.) द्विदोषोच्छ्रायलिङ्गास्तु। द्वन्द्वजास्त्रिविधाः स्मृताः॥ (सु उ. अ ३९) प्रकृतिसमसमवेतास्त्रिविधा द्वन्द्वज्वरा उच्यन्ते—'द्विदोषोच्छ्रायलिङ्गा इत्यादि। (डल्हन) सर्वजे सर्वलिङ्गानि।' (सु उ अ ३९) 'निद्रानाश' इत्यादिपाठेन विकृति विषम-समवेतस्य सन्निपातज्वरस्य लक्षणमभिधाय प्रकृतिसमसमवेतस्य लक्षणमाह—सर्वजे इत्यादि। (डल्हनः)

२ 'रोमहर्षश्च दाहश्च पर्वभेद शिरोरुजा। कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरति॥ स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः॥' (च नि अ. ३) 'तृष्णानाशो भ्रमो दाह. स्वप्ननाश' शिरोरुजा। कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तम॥ पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः।' (सु उ अ. ३९)

'इदानीं' विकृतिविषमसमवेतान् द्वन्द्वाञ्ज्वरानाह—तृष्णेत्यादि। यतोऽयं विकृतिविषमसमवेतः, अतो वातपैत्तिकज्वरे रोमहर्षारुच्योरभिधानम्, कफपैत्तिके तन्द्राभिधानम्।' (डल्हन.)

'शिरोऽर्तिमूर्च्छावमिदाहमोह-कण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदाः। उन्निद्रता—तृड्भ्रम-रोमहर्षा जृम्भातिवाक्त्वं च चलात् सपित्तात्॥' (अ हृ नि २)

श्लेष्म ज्वर मे शीत का अनुभव होना, शरीर मे गुरुता, तन्द्रा, स्तैमित्य (गीले कपडे से लपेटे हुए जैसा शरीर का अनुभव होना), प्रतिश्याय, कास, स्वेद का अधिक आना, ज्वर का सताप मध्यवेग होना आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते है[1]।

श्लेष्म-पित्तज्वर के लक्षण—विकृतिविषमसमवेत श्लेष्म-पित्त ज्वर मे कभी दाह और कभी शीत का अनुभव होता है। पसीना कम आता है तथा कभी-कभी विल्कुल नही आता। मूर्च्छा, कास, अरुचि, तृषा (प्यास), कफ और पित्त का वमन, मुख कफ से लिप्त अनुभव होना, पित्त के कारण कडुआ (तीता) स्वाद का अनुभव होना तथा तन्द्रा के लक्षण दृष्टिगोचर होते है।[2]

इन उपर्युक्त द्वन्द्वज ज्वरो के लक्षणो मे ऐसे लक्षणो का भी उद्भव सम्भव होता है जो आरम्भक दोषो के द्योतक नही होते, जैसे—वातपित्त ज्वर मे अरुचि, वात-कफ ज्वर मे स्वेद का अधिक आना, और पित्त-श्लेष्म ज्वर मे स्वेद का न आना तथा अनवस्थित शीत-दाह, शीत-दाह इत्यादि। ये लक्षण दोपो के विकृति-विषमसमवेतारब्ध होने से उत्पन्न होते है।[3]

---

१. (क) 'शीतको गौरव तन्द्रा स्तैमित्य पर्वणा च रुक्। शिरोग्रह. प्रतिश्याय कास स्वेदाप्रवर्तनम्॥ सतापो मध्यवेगश्च वात-श्लेष्मज्वराकृति ।' (च चि अ ३)

(ख) अ स नि अ २।

(ग) 'स्तैमित्य पर्वणा भेदो निद्रा गौरवमेव च। शिरोग्रह प्रतिश्याय —कास स्वेदाप्रवर्तनम्॥ सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृति ।' (सु उ अ ३९)

२ (क) 'मुहुर्दाहो मुहु शीत स्वेद' स्तम्भो मुहुर्मुहु ।
मोह. कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम्॥
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृति ।' (च चि अ ३)

(ख) 'लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोह. कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहु' शीत श्लेष्मपित्तज्वराकृति ॥' (सु उ अ ३९)

(ग) शीतस्तम्भ-स्वेद-दाहाव्यवस्था तृष्णा कास श्लेष्मपित्तप्रवृत्ति । मोहस्तन्द्रा लिप्ततिक्तास्यता च ज्ञेय रूप श्लेष्मपित्तज्वरस्य ॥' (अ हृ. नि अ २)

३. 'एतानि लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य ज्ञेयानि, विकृतिविषमसमवायारब्धत्व चेषा केवलवातिकपैत्तिकज्वरलक्षणाना म ये केषाचिदेव नियमेन पाठात्तदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च ज्ञेयम्। यथाऽत्रैव वातपैत्तिके ज्वरेऽरुचिरोमहर्षो वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेद. सन्तापश्च एव कफपैत्तिके अनवस्थितशीतदाहौ, एव सान्निपातिके (वक्ष्यमाणे) सास्राक्षि शिरोलोठनादि।' प्रकृति समवायारब्धे तु वातादिज्वरलिङ्गान्येव समस्तानि कतिपयानि वा भवन्ति। अत एव चिकित्सिते चरको विकृतिविषमसमवायारब्धाना द्वन्द्वसन्निपातज्वराणा लक्षणान्युक्तवान्।'
(इति मधुकोषव्याख्याया विजयरक्षित)

जेज्जटाचार्य ने द्वन्द्वज ज्वरो का पाठ भिन्न दृष्टि से दिया है जैसे— जृम्भा, आध्मान, मद, कम्प, पर्वभेद, परिक्षय (धातुओं का क्षय होना), तृष्णा, प्रलाप तथा अभिताप ये लक्षण वात-पित्त ज्वर में होते हैं। शूल, कास, कफोत्क्लेश, शीत का अनुभव, वेपथु (कम्प), पीनस, गौरव, अरुचि, विष्टम्भ ये लक्षण वात-कफ ज्वर मे होते है। शीत का अनुभव, दाह, अरुचि, स्तम्भ, स्वेद, मोह, मद, भ्रम, कास, अङ्गसाद, हृल्लास ये लक्षण कफ-पैत्तिक ज्वर मे होते है।'

द्वन्द्वज ज्वरों की चिकित्सा—संसृष्ट अथवा दो दोषो से उत्पन्न (द्वन्द्वज) ज्वरो म दोषो के तर, तम तथा सम अवस्था का ज्ञान कर उनके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए।' तात्पर्य यह कि द्वन्द्वज ज्वरों मे जिन-जिन दोषों का आरम्भकत्व हो उन-उन दोषो की यथोक्त चिकित्सा करनी चाहिए। जैसे—वात-पित्त ज्वर मे वात-पित्त के आरम्भकत्व होने से वातज-पित्तज ज्वरों की सम्मिलित चिकित्सा करनी चाहिए। इसी प्रकार वात-कफ ज्वर मे वातज-कफज ज्वरो की सम्मिलित चिकित्सा, पित्त-कफ ज्वर मे पित्तज तथा कफ ज्वर मे प्रोक्त चिकित्सा का सम्मिलित रूप मे प्रयोग करना चाहिए। द्वन्द्वज-ज्वरो की चिकित्सा मे इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस दोष के लक्षणो का प्राधान्य हो अथवा जिस दोष के लक्षण उग्र या गम्भीररूप मे दृष्टिगोचर हो— उसके प्रतिकार पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। उनमे भी विकृति, विषम, समवायारब्ध ज्वरो मे विशिष्ट चिकित्सा का प्रयोग करना श्रेयस्कर है। जैसे—

---

१ (क) 'जृम्भाध्मानमदोत्कम्पपर्वभेदपरिक्षयाः ।
तृट्प्रलापाभितापाः स्युर्ज्वरे मारुतपैत्तिके ॥
शूलकासकफोत्क्लेशशीतवेपथुपीनसाः ।
गौरवारुचिविष्टम्भा वातश्लेष्मसमुद्भवे ॥
शीतदाहारुचिस्तम्भाः स्वेदमोहमदभ्रमाः ।
कासाङ्गसादहृल्लासा भवन्ति कफपैत्तिके ॥'
(सु उ अ ३९ में प्रक्षिप्त पाठ)

(ख) 'जेज्जटाचार्यस्तु द्वन्द्वजरूपाण्येकमेव पठति। जृम्भेत्यादिना। अयं वा पाठः पठनीयः पूर्वो वा, न तु द्वयम्।' (डल्हन)

२ (क) 'संसृष्टान् (सन्निपतितान्) बुद्ध्वा तरतमैः समैः ।
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् ॥' (च चि अ. ३)

(ख) 'सर्वं द्विदोषजेषूक्तं यथादोषं विकल्पयेत्।' (सु उ अ. ३९)

(ग) 'द्वन्द्वजं द्वन्द्वजरेव दोषैश्चापि वदेत् कृतम् ।
द्वन्द्वजेषु तु संसृष्टं दद्यात्.. .... ॥' (सु उ. अ ३९)

वात-पित्त ज्वर मे—कफ के मन्द रहने पर तथा दोषो के परिपक्व हो जाने पर घृत का पान परमोत्तम है।[1]

इसी प्रकार वात-पित्त ज्वर से आक्रान्त पुरुष मे यदि विबन्ध तथा सृष्ट-दोषता दृष्टिगोचर हो और रोगी प्यास तथा दाह मे पीडित हो तो उसे दुग्धपान कराना आवश्यक होता है।

अन्य योग—(१) दाडिम, आमलक तथा मुद्गयूप, वात-पैत्तिक ज्वर मे लाभप्रद होता है।

(२) चिरैयता (किरात तिक्त), गुडूची, द्राक्षा, आमला, कचूर इनका यथाविधि निर्मित क्वाथ गुड के साथ पीने से वात-पित्त ज्वर शान्त होता है।

(३) रास्ना, वासक (अरूष), त्रिफला, अमलतास, इनका क्वाथ वात-पित्त ज्वर को नष्ट करता है।

(४) द्राक्षादि फाण्ट का हिम, जाती कुसुम (चमेली के फूल) से सुवासित तथा मधु, मिश्री और लाजा से युक्त वात-पित्त ज्वर को शान्त करता है।[3] इत्यादि।

वात-कफ ज्वर की चिकित्सा—(१) वात-कफ ज्वर मे उष्ण जल से तृष्णा की शान्ति होती है। लघुमूली का यूष वात-कफ ज्वर मे लाभप्रद होता है।[4]

---

१. 'अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पान यथामृतम्॥' (च चि. अ. ३)

२ (क) 'दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तर ज्वरम्।
बद्धप्रच्युतदोष वा निराम पयसा जयेत्॥' (च. चि. अ. ३)

(ख) 'विबद्ध सृष्टदोषश्च रूक्ष पित्तानिलज्वरी।
पिपासार्त सदाहो वा पयसा च सुखी भवेत्॥' (सु उ अ ३९)

(ग) 'धारोष्ण वा पय सद्यो वातपित्तज्वर जयेत्।' (च चि अ ३)

३ (क) 'दाडिमामलमुद्गाना यूपश्चानिल पैत्तिके।' (सु उ अ ३९)

(ख) 'किराततिक्तममृता द्राक्षामामलक शटीम्।
निष्क्वाथ्य वातपित्तोत्थे त क्वाथ सगुड पिबेत्॥' (सु उ. अ ३९)

(ग) 'रास्ना वृषोऽथ त्रिफला राजवृक्षफलै सह।
कषाय साधित पीतो वातपित्तज्वर जयेत्॥' (सु उ अ ३९)

(घ) 'फाण्टो हिमो वा द्राक्षादिर्जातीकुसुमवासित।
युक्तो मधुसितालाजैर्जयत्यनिल—पित्तजम्॥' (अ हृ चि. अ १)

४. (क) 'तृष्यते सलिल चोष्ण दद्याद् वातकफज्वरे।' (च. चि अ ३)

(ख) 'तृष्णगल्पाल्पमुष्णाम्बु पिबेद् वातकफज्वरे।' (अ. हृ चि. १)

(ग) 'ह्रस्वमूलकयूषस्तु वातश्लेष्माधिके हित.।' (सु. उ. अ ३९)

जैसे—(१) प्रकृति-सम-समवाय से तथा (२) विकृति-विषम-समवाय से। जब ये हेतु दोषो को प्रकुपित कर प्रकृति-सम-समवाय से त्रिदोषज ज्वर के आरम्भक होते है तब उनके लक्षण तीनो दोषो के समवायात्मक होते है, अर्थात् उनमे वातज आदि सभी ज्वरो के लक्षण सम्मीलित रूप मे दृष्टिगोचर होते है। परन्तु जब ये विकृति-विषम-समवायारम्भक होते है तो उनके लक्षण विशिष्ट रूप मे होते है।[1] काश्यप संहिता मे सन्निपात ज्वर के विशिष्ट कारणो का वर्णन भी उपलब्ध होता है। जैसे—प्रसूता तथा दुष्प्रजाता स्त्रियो के शीत उपचार, मद्य, विषमाशन, रात्रि-जागरण, दिवास्वप्न, चिन्ता, ईर्ष्या, जिह्वा लौल्य तथा अनशन से, नाना प्रकार के व्यभिचार से, बालक के दूषित दूध के पीने से, तथा गर्हित भोजन से, मनुष्यो के निरन्तर विरुद्ध कर्म, विरुद्ध पान एवं विरुद्ध भोजन से, भोजन न करने से, अध्यशन, विषम एव अजीर्ण भोजन से, अन्न पान एवं ऋतु के सहसा परिवर्तन से, विषदूषित वायु या जल के सेवन से, गरविष से, प्रतिकूल अवस्थाओ मे पर्वतो एव उपत्यका निवास से, स्नेहन तथा पञ्चकर्म के मिथ्या योग से, तथा उपर्युक्त हेतुओ के मिश्रित होने से सन्निपात ज्वर होता है।[2]

विकृति-विषम-समवेत सन्निपात ज्वर के लक्षण—क्षण मे शीत तथा दाह का अनुभव होना, अस्थि संधियो मे तथा शिर मे पीड़ा होना, नेत्र का अश्रुपूर्ण, मलिन, लाल और उद्घाटित-खुले के समान दृष्टिगोचर होना, कानो मे शब्द तथा पीड़ा का अनुभव होना, कण्ठ का शूको से आवृत प्रतीत होना, तन्द्रा, मोह (मूर्च्छा अथवा इन्द्रियो का मोह), प्रलाप कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वा जली हुई के समान काली तथा खुरदरी (खरस्पर्शा) मालूम होना, शरीर की शिथिलता, रक्त और पित्त मिश्रित कफ का ष्ठीवन, शिर का इधर-उधर हिलाना, प्यास अधिक लगना, नीद का न आना, छाती मे पीड़ा का अनुभव होना, स्वेद-मूत्र और मल (पुरीष) का विलम्ब से तथा अल्पमात्र मे प्रवृत्त होना, रोग के प्रमाण से शरीर का न्यून कृश होना, कण्ठ से सदा अस्पष्ट आवाज का निकलना अथवा सदा कूजन (कहरने की आवाज) होना, शरीर के विविध भाग पर श्याम तथा रक्तवर्ण के चकत्ते का निकलना, न बोलना, मुख तथा नासिका आदि स्रोतो का पाक हो जाना, उदर गौरव का अनुभव होना, दोषो का विलम्ब से पाक होना, मद (नशा का चढा होना-सा) स्तम्भ (शरीर का जकडा हुआ तथा शून्य-सा) अनुभव होना, उन्माद (पागल के समान चेष्टाये), दाँतो पर काला सा मैल जम जाना, वेहोशी होना, दिन मे खूब सोना, रात भर

---

१ च नि अ १, अ हृ. नि. अ २; च चि. अ ३, सु उ अ, ३९।

२. का स क विशेषकल्पाध्याय।

बिल्कुल नीद न आना, गाना, नाचना, हसना आदि विकृत चेष्टाओ का होना, मुँह का स्निग्ध प्रतीत होना, आवाज बैठ जाना, ये सब लक्षण सन्निपात ज्वर मे सामान्यत होते है।[1] यह सर्वदोषोल्वण सन्निपात ज्वर है। तन्त्रातरो मे इसका नाम 'कूट पालक' सन्निपात है।

सन्निपात ज्वर (त्रिदोष ज्वर) की अवधि—वातोल्वण सन्निपात ज्वर सातवे दिन, पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर दशवे दिन तथा कफोल्वण सन्निपात ज्वर बारहवे दिन शीघ्रकारी होने से वृद्धि प्राप्त हो (बढकर) उतर जाता है अथवा रोगी को मार डालता है। सन्निपात ज्वर मे दोषो के आम सम्पृक्त होने से वे दोष गुरु तथा स्तब्ध (ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से न निकलने वाले होने से निश्चल) और बलवान हो रसवाही स्रोतो द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे (रस-रक्तादि धातुओ तथा पुरीषादि मलो के स्रोतो) मे व्याप्त होकर त्रिदोषज सतत (सदा बना रहनेवाला) ज्वर उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार वातादि तीनो दोष रसादि, सातो धातुएँ तथा मूत्र-पुरीष दो मल, ये बारह सन्निपात ज्वर के आश्रय होते हैं। प्रावृड्, पूर्वाह्न, आदि काल, दूष्य (रसादि सात धातु तथा मूत्र और पुरीष ये दो मल) और वातल आदि प्रकृति, इनके संतत ज्वर मे तुल्य (समान) होने से यह निष्प्रत्यनीक (जिनका कोई प्रत्यनीक प्रतिकूल नही) होता है। अत त्रिदोषारब्ध सतत ज्वर या सन्निपात

---

१ (क) 'क्षणे दाह क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा।
मास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ, कण्ठः शूकैरिवावृतः।
तन्द्रा मोह प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रम॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्।
ष्ठीवन रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च॥
शिरसो लोठन तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणा चिराद्दर्शनमल्पश॥
कृशत्व नातिगात्राणा प्रतत कण्ठकूजनम्।
कोठाना श्यावरक्ताना मण्डलानां च दर्शनम्॥
मूकत्व स्रोतसा पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात् पाकश्च दोषाणा सन्निपातज्वराकृतिः॥' (च०चि० अ० ३)

(ख) 'निद्रानाशो भ्रम श्वासस्तन्द्रा सुप्ताङ्गताऽरुचिः।
तृष्णा मोहो मदः स्तम्भो दाहः शीत हृदि व्यथा॥
पक्तिश्चिरेण दोषाणा उन्माद श्यावदन्तता।
रसना परुषा कृष्णा सन्धिमूर्धास्थिजा रुज॥
निर्भुग्ने कलुषे नेत्रे कर्णौ शब्दरुजान्वितौ।
प्रलाप स्रोतसा पाक कूजन चेतनाच्युतिः॥
स्वेद-मूत्र पुरीषाणामल्पश सुचिरात् स्रुतिः।' (सु० उ० अ० ३९)

ज्वर दु:सह होता है। और अपनी अवधि (कालमर्यादा) तक दिन रात बना रहता है। किसी भी समय पूर्णरूपेण ज्वर का वेग उतरता नहीं। तात्पर्य यह कि यदि काल, दूष्य, प्रकृति इनमे से कोई भी प्रतिकूल होता तो ज्वर मोक्ष किसी काल मे होता। इसीलिए सन्निपात ज्वर मे संतता (अविसर्गोत्व) रसादि धातुओं और मलो की सम्यक् शुद्धि (दोषमुक्त होना) तथा दोषो के प्रकृतिगमन (अपने स्वाभाविक रूप मे आ जाने) होने पर सातवें, दसवें या बारहवे दिन ज्वर का वेग उतरता है। और जब उनकी सम्यक् शुद्धि तथा प्रकृति-गमन नहीं हो पाता है तब वह रोगी को मार डालता है। किन्तु जब धातु और मल बिल्कुल शुद्ध नहीं होते अर्थात् दोषमुक्त नहीं होते (कुछ दोष शेष रह जाते हैं) अथवा कुछ शुद्ध (दोषमुक्त) हो जाते है और कुछ अशुद्ध (दोषयुक्त) रह जाते है तब बारहवें दिन विसर्ग का अव्यक्त लक्षण दिखाकर अर्थात् ज्वर मोक्ष के जो लक्षण कहे गये हैं उन्हे स्पष्ट रूप मे न दिखाकर दीर्घकाल तक बना रहता है और उनका उपशम दुर्लभ हो जाता है। इस प्रकार सन्निपात ज्वर (त्रिदोष ज्वर) मे ज्वर मोक्ष दारुण (अर्थात् दारुण प्रकार से ज्वर का उतरना) होता है।[1]

---

१ (क) 'सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥' (सु. उ अ. ३९)

'सन्निपातज्वरस्य मोक्षवधयोरवधिमाह'—सप्तमे इत्यादि। 'शीघ्र मध्य-मन्दशक्तित्वाद् वातादीनां सप्तमे दिने वाताधिकः सन्निपातज्वरः, दशमे दिने पित्ताधिकः; द्वादशे दिने श्लेष्माधिको हन्ति, विमुञ्चति वा।' (डल्हन)

(ख) 'स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥
दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा ॥
कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्।
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥
यथा धातुस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥
स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥
यदा तु नातिशुद्ध्यन्ति न वा शुद्ध्यन्ति सर्वशः।
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयस्तदा ॥
विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः।
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥' (च. चि. अ. ३)

(ग) 'धातु-मूत्र-शकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः। तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः॥ बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः। सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वा

एकदोषोत्पन्न तथा द्विदोषोत्पन्न सतत वेग वाले ज्वर की अवधि—स्वल्प और दुर्बल कारणो से उत्पन्न तथा जिसमे दूष्य और प्रकृति अल्पतुल्य अर्थात् पूर्णरूपेण तुल्य नही हो ऐसा सन्तत स्वरूप ज्वर यदि वातोल्वण हो तो सात, पित्तोल्वण हो तो दश और कफोल्वण हो तो बारह दिन तक अविसर्गी—(नही उतरने वाला) होता है। अर्थात् ज्वर का वेग बना रहता है, परन्तु मारक नही होता। यह ज्वर सुखसाध्य तथा अल्प उपद्रवो वाला होता है।[1]

हारीत और भालुकि ने इस प्रकार की सतत ज्वर की मर्यादा मे कुछ और विशेष बाते कही हैं। जैसे—सात, नव, ग्यारह, चौदह, अट्ठारह और बाईस दिन की इनकी मर्यादा का उल्लेख किया है। अनुभव से भी ७, ९, ११, १४, १८, २२ तथा २८ दिनो की मर्यादा देखने मे आती है। कभी-कभी तो २८ दिन के बाद तक भी अर्थात् ३५, ४२, ४९, ५६ दिन तक ज्वर का वेग चलता रहता है तथा उसकी मर्यादा भी ७–७ दिन बढ़ती जाती है।[2]

सन्निपात ज्वर के भेद—दोषो की उल्वणता के अनुसार चरक तथा काश्यप ने १३ प्रकार के सन्निपात ज्वरो का वर्णन किया है।[3] जैसे—

(१) वातोल्वण सन्निपात ज्वर—इस मे ज्वर के अतिरिक्त सन्धियो, अस्थियो तथा शिर मे शूल होता है, प्रलाप, गौरव, भ्रम, तृष्णा, कण्ठ तथा

ज्वर कुर्युः मुहुर्महम्॥ मलाजरगोष्मा धातून् वा स शीघ्रं क्षपयन्नत.॥ सर्वाकार रसादीना शुद्ध्याऽशुद्ध्याऽपि वा क्रमात्। वातपित्तकफैः सप्त-दश-द्वादशवासरान्॥ प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च इत्यग्निवेश-मतम्।' (अ स नि अ. २ अ हृ नि. अ. २)

१ (क) सप्ताह वा दशाह वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सतत स निगद्यते॥' (सु उ अ ३९)

(ख) 'सन्निपाततारब्धस्य सन्ततज्वरस्य 'सप्तमेदिवसेप्राप्ते'—इत्यादिना मोक्षवध-योरवधि प्रतिपाद्येदानीमेक-द्विदोषजस्य विसर्गकालावधिद्वारेण लक्षणमाह—सप्ताहमित्यादि। सन्तत्या नैरन्तर्येण, अविसर्गी अविसर्जनशील। अय च सुखसाध्य। यदुक्त—सन्ततज्वर एवान्य स्वल्प. दुर्बलकारण.। एकदोषो द्विदोषो वा सुखसाध्य प्रकीर्तितः॥ (डल्हन.)
यत्तु तन्त्रान्तरे—'तथा सन्तत एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारण'।
एकदोषो द्विदोषो वा स्वल्पोपद्रवलक्षण॥' (च. द)

२ '× × × हारीतस्य पुन स्मृति'।
द्विगुणा सप्तमीयावन्नवम्येकादशी तथा॥
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च।
शुद्धाशुद्धौ ज्वर काल दीर्घमप्यनुवर्तते॥' (अ स नि. २)

३ (क) च चि अ३, (ख) का स क

मुख का सूखना ये लक्षण विशिष्ट रूप मे होते हैं। तन्त्रान्तरो मे इसको 'विस्फारक' सन्निपात ज्वर कहा है और इसमे श्वास, कास, मूर्च्छा, मोह, शरीर मे कम्प, पार्श्वरुक्, जृम्भा का अधिक होना तथा मुख का स्वाद कषैला हो जाना, ये लक्षण विशेष कहे हैं।[1]

(२) पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर—इस रोग से पीडित रोगी का मल-मूत्र रक्त वर्ण का होता है (रक्त विट मूत्रता)। दाह, स्वेद, तृषा, बलसक्षय तथा मूर्च्छा ये विशिष्ट लक्षण होते हैं। तन्त्रान्तरो मे इसको 'आशुकारी' सन्निपात ज्वर कहा है। इसमे अतिसार, भ्रम, मुखपाक, शरीर मे लाल चकत्ते का निकलना तथा तीव्र दाह ये लक्षणविशेष कहे हैं।

(३) कफोल्वण सन्निपात ज्वर—इसमे आलस्य, अरुचि, हृल्लास, दाह, वमन, अरति, भ्रम, तन्द्रा तथा कास ये लक्षण विशेषरूप मे होते हैं। तन्त्रान्तरो मे इसकी 'कम्पन' सन्निपात ज्वर सज्ञा है। इसके लक्षणो मे जडता, गदगद् वाणी, रात्रि मे अधिक नीद तथा नयनो का प्रस्तब्ध हो जाना, मुख का स्वाद मधुर रहना, ये लक्षण अधिक कहा है।[3]

(४) वातपित्तोल्वण मन्दकफज सन्निपात ज्वर—इस मे भ्रम, पिपासा, दाह, शरीर मे गुरुता, शिर मे अत्यधिक पीडा, ये लक्षण ज्वर के अतिरिक्त तथा सामान्य सन्निपात ज्वर के लक्षणो के अतिरिक्त विशिष्ट रूप मे होते है। तन्त्रान्तरों मे इस ज्वर को 'बभ्रु या बभ्वाख्य' सन्निपात ज्वर कहा है। इसके लक्षणो मे मद, मुखशोष, प्रमीलक, आध्मान, अरुचि, तन्द्रा, कास, श्वास, श्रम, ये लक्षण विशेष कहे हैं।[4] काश्यप ने अङ्गमर्द तथा तालुशोष ये लक्षण अधिक कहे हैं।[5]

---

१. (क) च. चि. अ ३; (ख) आ. वि,
२. (क) च. चि. अ ३, (ख) आ वि,
३. (क) च चि अ. ३, (ख) आ. वि,
४ (क) 'भ्रम. पिपासा दाहश्च गौरव शिरसोऽतिरुक्।
वातपित्तोल्वणे विद्यात् लिङ्ग मन्दकफज्वरे ॥' (च चि अ ३)
(ख) 'वातपित्ताधिको यस्तु सन्निपात. प्रकुप्यति।
तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोष प्रमीलक ॥
आध्मानारुचितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमा ।
मुनिभिर्बभ्रुनामाय सन्निपात उदाहृत ॥' (आयुर्वेद विज्ञान)
५ 'तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलिका. ।'
× × × × × (का स कृ)

(२) वातश्लेष्मोल्बण मन्द पित्त सन्निपात ज्वर—इसमें शैत्य का अनुभव, कास, अरुचि, तन्द्रा, पिपासा, दाह, रुक् तथा व्यथा, ये लक्षण विशिष्ट रूप में होते हैं। तन्त्रान्तरों में इसको 'शीतगामी' सन्निपात ज्वर कहा है और इसके लक्षणों में शीतपूर्वक ज्वर, मूर्च्छा, हृद्वैकल्य, गात्रावनिग्रह, शूल, अग्नि का नष्ट होना तथा श्वास ये कुछ विशेष कहे हैं।[1]

(३) पित्तश्लेष्मोल्बण, मन्द वातज सन्निपात ज्वर—इसमें रोगी शैत्य का अनुभव करता है तथा छर्दि, मुहुर्मुहुः दाह का होना, तृष्णा, मोह, अस्थि वेदना, ये लक्षण विशिष्ट रूप से होते हैं। तन्त्रान्तरों में इसकी संज्ञा 'मल्लु सन्निपात ज्वर' है। इसके लक्षणों में अन्तर्दाह तथा बहिः शीत का अनुभव, वृद्ध तृष्णा, दक्षिण पार्श्व में तोद, उरोग्रह, शिरोग्रह, गलग्रह, श्लेष्म पित्त का कृच्छ्रता से निष्ठीवन, कोठोत्पत्ति, विड्भेद, श्वास, हिक्का तथा प्रमीलक, ये लक्षण अधिक कहे हैं। माधव ने इसके लक्षणों में रक्तष्ठीवन भी कहा है।[2]

(४) हीनवात पित्तमध्य श्लेष्माधिक सन्निपात—इस ज्वर में प्रतिश्याय, छर्दि, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, अग्निमान्द्य, ये लक्षण विशिष्ट रूपेण होते हैं। तन्त्रान्तरों में इस को 'वैदारिक सन्निपात' ज्वर कहा है। इसके लक्षणों में मन्द मात्रा में शूल, कण्ठरोध, शरीर के मध्य भाग में दाह, रुजा, भ्रम, इन्द्रिय क्लम, शिर—अस्थि—मन्या—हृदय तथा वाणी में पीड़ा, प्रमीलक, श्वास, कास, हिक्का, जड़ता, सन्ताप, ये लक्षण कहे हैं। इसमें प्रायः कर्णमूल पिडका हो जाया करता है। यह कृच्छ्रसाध्य है।[4]

---

१. (क) 'शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासा दाहरुग्व्यथाः।
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं मन्दपित्ते ज्वरे॥' (च. चि. अ. ३)
(ख) 'वातश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति।
तस्य शीतज्वरो मूर्च्छाहृत्तृष्णा गात्रनिग्रहः॥
शूलमग्निविनाशश्च तन्द्रा श्वासश्च जायते।
कम्पश्च सन्निपातोऽयं शीतगामीति कथ्यते॥' (आ. वि.)

२. (क) च. चि. अ. ३;
(ख) 'पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति।
अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा प्रवर्धते॥
तुद्यते दक्षिणे पार्श्वे उरःशीर्षगलग्रहाः।
ष्ठीवति श्लेष्म पित्तं च कृच्छ्रात् कोठश्च जायते॥
विड्भेदः श्वासहिक्का च वर्धन्ते सप्रमीलकाः।
ऋषिभिः मल्लुनामायं सन्निपात उदाहृतः॥' (आ. वि.)

३. मा. नि. ज्व. ४. (क) च. चि. अ. ३; (ख) आ. वि;

(८) हीनवात मध्यकफ पित्ताधिक सन्निपात ज्वर—इस ज्वर मे मूत्र हारिद्रवर्ण का, नेत्र हारिद्रवर्ण का, दाह, तृष्णा, भ्रम और अरुचि, ये लक्षण विशिष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। तन्त्रान्तरो मे इस ज्वर को 'याम्य सन्निपात ज्वर' कहा है तथा इसके लक्षणो मे हृदयदाह, यकृत्, प्लीहा, अन्त्र और फुप्फुस का पाक होकर ऊपर के (मुख) मार्ग से तथा अधो मार्ग से (गुदा से) पूय तथा शोणित का निर्गम होना ये लक्षण अधिक दिये है। और भी कहा है कि इसमे आक्रान्त रोगी को दाँत शीर्ण हो जाते हैं तथा रोगी की मृत्यु हो जाती है।[1]

(९) हीनपित्त मध्यकफ वाताधिक सन्निपात ज्वर—इसमे शिर शूल, वेपथु (कम्प) श्वास, प्रलाप, छर्दि और अरुचि, ये लक्षण विशिष्ट रूप मे होते हैं। तन्त्रान्तरो मे इसको 'क्रकच सन्निपात' ज्वर कहा है। आयास, सम्मोह, मूर्च्छा, अरति, भ्रम, ये लक्षण अधिक दिये हैं। कहा है कि इसमे मन्यास्तम्भ से मृत्यु होती है।[2]

(१०) हीनपित्त वातमध्य कफाधिक सन्निपात ज्वर—इस ज्वर मे शीत का अधिक अनुभव होता है। गौरव, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थिरुक्, शिरोरुक्, ये लक्षण विशिष्ट रूप से होते है। तन्त्रान्तरो मे इसको 'कर्कटक सन्निपात ज्वर' कहा है। इसके लक्षणो मे अन्तर्दाह विशेष रूप से होने का वर्णन किया है। इससे आक्रान्त रोगी बोलने मे असमर्थता प्रकट करता है। आलक्तक के समान रोगी का मुखमण्डल रक्तवर्ण का हो जाता है। पित्त से आकृष्ट श्लेष्मा हृदय प्रदेश से निकलने नही पाती। त्राण से आहत के समान रोगी पार्श्वतोद का अनुभव करता है तथा उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका हृदय प्रदेश खोदा जा रहा हो। प्रमीलक, श्वास, हिक्का दिनानुदिन बढते जाते हैं। जिह्वा दग्धवत प्रतीत होती है तथा स्पर्श से खरता अनुभव होती है। गलप्रदेश शूको से आवृत

---

१. (क) 'हारिद्र मूत्रनेत्रत्व दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचि ।
हीनवाते मध्यकफे लिङ्ग पित्ताधिके मतम् ॥' (च चि. अ. ३)

(ख) 'हीन प्रवृद्ध मध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च य ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथा दोष बलाश्रया. ॥
हृदय दह्यतेचास्य यकृत्प्लीहान्त्र फुफ्फुसा' ।
पचन्त्यत्यर्थमूर्ध्वाधः पूयशोणित निर्गम. ॥
शीर्णा दन्ताश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषत. ।
भिषग्भि' सन्निपातोऽय याम्योनाम्ना प्रकीर्तित. ॥' (आ वि द्वि ख)

२. (क) 'शिरोरुग्वेपथु श्वास प्रलापच्छर्घरोचकौ ।
हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्ग स्यान्मारुताधिके ॥' (च चि. अ ३)

(ख) (आ वि द्वि खं अ. २)

प्रतीत होता है। इसमे ज्वर का संताप उतरता नही (अर्थात् अविसर्गी रहता है)। रोगी सदा कँहरता रहता है। उर प्रदेश कफ से परिपूर्ण रहता है तथा ओष्ठ और तालु, शुष्क तथा रक्तवर्ण के हो जाते है। रोगी अत्यधिक निद्रित रहता है तथा उसकी वाणी और प्रभा हत हो जाती है। वह सदा बेचैन रहता है तथा आयाम और रक्तष्ठीवन के लक्षण होते है।[1]

(११) कफहीन पित्तमध्य वाताधिक सन्निपात ज्वर—इस ज्वर मे श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुखशोष, तथा अत्यधिक पार्श्वरुक्, ये लक्षण विशेष रूप मे होते है। तन्त्रान्तरो मे इसका नाम (संज्ञा) 'सम्मोहक सन्निपात ज्वर' है। इनमे प्रलाप, आयास, सम्मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति, और भ्रम ये लक्षण अधिक कहे है। इस रोग से आक्रान्त रोगी को पक्षाघात (किसी एक पक्ष का आघात) होना है।[2]

(१२) कफहीन वातमध्य पित्ताधिक सन्निपात ज्वर—इसमे वर्चोभेद, अग्निदौर्बल्य, तृष्णा, दाह, अरुचि, और भ्रम, ये लक्षण विशिष्ट रूप से होते है। तन्त्रान्तरो मे इसकी संज्ञा 'पालक सन्निपात' है। मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ, शिरोग्रह, कास, श्वास, तन्द्रा सज्ञानाश, हृदय मे व्यथा, रक्तस्राव, आँखो

---

१. (क) 'शीतको गौरव तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्।
हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्ग श्लेष्माधिके विदु.॥' (च चि अ ३)

(ख) 'मध्यहीनप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च य ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोष-बलाश्रया.॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते ।
रक्तमालक्तकेनेव लक्ष्यते मुखमण्डलम् ॥
पित्तेनाकशिन. श्लेष्मा हृदयात्र प्रसिच्यते ।
इषुणेवाहत पार्श्व तुद्यते मन्यते हृदि ॥
प्रमीलकश्वासहिक्का, वर्द्धन्ते तु दिने दिने ।
जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा, गलः शूकैरिवावृतः ॥
नैसर्ग नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत् ।
अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्करक्तौष्ठतालुक ॥
तन्द्रानिद्रातियोगार्त्तो हतवाक् निहतद्युतिः ।
न रतिं लभते नित्य विपरीतानि चेच्छति ॥
आयम्यते च बहुशो रक्त ष्ठीवति चाल्पशः ।
एष कर्कटको नाम्ना सन्निपात उदाहृत ॥' (आ वि द्वि. ख)

२ (क) 'श्वास कास. प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्।
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्ग वाताधिके मतम्॥' (च. चि अ. ३)

(ख) आ. वि. द्वि. ख २ य अध्याय।

का लाल तथा स्तब्ध हो जाना, ये लक्षण इसके वर्णन मे अधिक दिए हैं। इस सन्निपात ज्वर से आक्रान्त रोगी तीन दिनो के अन्दर ही मर जाता है।[1]

(१३) सर्व दोषोल्वण सन्निपात ज्वर—चरक के अनुसार इसका लक्षण कहा जा चुका है। परन्तु तन्त्रान्तरो मे इसका 'कूटपालक सन्निपात ज्वर' के नाम से पृथक् वर्णन किया है। इसके वर्णन मे ऊर्ध्वश्वास, स्तब्धाङ्गता, स्तब्धलोचनता, ये लक्षण विशिष्टरूपेण दिए हैं। इसके लक्षणो का वर्णन करते हुए कहा है कि इससे आक्रान्त रोगी की आयु तीन रात की होती है। अर्थात् वह तीन रात मे मर जाता है। इसके लक्षणो को देखकर इसकी अपर सज्ञाये भी अज्ञ लोग करते हैं जैसे यक्षिणीगृहीत, ब्रह्मराक्षसगृहीत, पिशाचगृहीत तथा नक्षत्रदोषज पीडा इत्यादि।[2] इन लोगो का विश्वास है कि असमय मे वर्जित स्थानो पर गमन करने से तथा कुल देवता के अपमान करने से, तथा अशुद्धावस्था मे देवार्चन आदि करने से ये ग्रह, पिशाच, राक्षस तथा देवता रुष्ट होकर शरीर मे आविष्ट हो उक्त ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

तन्त्रान्तरो मे इन उपर्युक्त सन्निपात ज्वरो के अतिरिक्त विशिष्ट लक्षणो के आधार पर अन्य १३ प्रकार के सन्निपात ज्वरो का भी वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—(१) शीताङ्ग सन्निपात ज्वर, (२) तन्द्रिक सन्निपात ज्वर, (३) प्रलापक सन्निपात ज्वर, (४) रक्तष्ठीवि सन्निपात ज्वर, (५) भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर, (६) अभिन्यास सन्निपात ज्वर, (७) जिह्वक सन्निपात ज्वर, (८)

---

१ (क) 'वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रम ।
कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥' (च चि. अ ३)
(ख) आ वि. द्वि ख.

२ (क) च चि अ ३,
(ख) 'सर्वदोषोल्वणो यस्य सन्निपात प्रकुप्यति ।
त्रयाणामपि दोषाणा तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्रशस्त्राग्निसन्निभ ।
केवलोच्छ्वास. परमः स्तब्धाङ्ग. स्तब्धलोचन ॥
त्रिरात्रात् परमेतस्य जन्तोर्हरति जीवितम् ।
तदवस्थन्तु त दृष्ट्वा मूढो व्याहरते जन ॥
धर्षितो राक्षसैर्नूनमवेलाया चरन्ति ये ।
अथवा ब्रुवते केचिद् यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसै ॥
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथान्यैर्मस्तके हतम् ।
कुलदेवतार्चनाद्दीन धर्षित कुलदेवतै ॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्मेति चापरे ।
सन्निपातमिम प्राहुर्भिषज कूटपालकम् ॥' (आ. वि. द्वि ख.)

सन्धिग सन्निपात ज्वर, (९) अन्तक सन्निपात ज्वर, (१०) रुग्दाह सन्निपात ज्वर, (११) कर्णिक सन्निपात ज्वर, (१२) चित्त विभ्रम सन्निपात ज्वर और (१३) कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर।

इसी प्रकार अन्य तन्त्र मे (१) कुम्भीपाक सन्निपात ज्वर, (२) प्रोर्णुनाव सन्निपात ज्वर, (३) प्रलापिनी सन्निपात ज्वर, (४) अन्तर्दाह सन्निपात ज्वर, (५) दण्डपात सन्निपात ज्वर, (६) अन्तक सन्निपात ज्वर, (७) एणीदाह सन्निपात ज्वर, (८) हारिद्रक सन्निपात ज्वर, (९) अजघोष सन्निपात ज्वर, (१०) भूतहास सन्निपात ज्वर, (११) यन्त्रापीड सन्निपात ज्वर, (१२) सन्यास सन्निपात ज्वर तथा (१३) संशोषिणी सन्निपात ज्वर ये तेरह नाम प्राप्त होते है।

इन उपर्युक्त तन्त्रान्तरीय सन्निपात ज्वरो मे अनेक ऐसे है जो दोनो मे समान सज्ञा वाले हैं जैसे—(१) प्रलापक तथा प्रलापिनी और (२) अन्तक। यहा इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिये कि यह वर्गीकरण लाक्षणिक ही है।

(१) शीताङ्ग सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर से आक्रान्त ज्वरी अपने शरीर को बरफ से ढंके हुये के समान शीत का अनुभव करता है तथा श्वास, कास, हिक्का, मोह, कम्प और प्रलाप से पीडित होता है। क्लम (अनायास थकावट), दाह, वमन, अङ्गपीडा तथा स्वरविकृति ये लक्षण होते हैं। उसका सम्पूर्ण शरीर शिथिल तथा स्पर्श से शीतल प्रतीत होता है।[1] उग्रतापी ज्वर इसमे होता है।

(२) तन्द्रिक सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे रोगी सदा अति निद्रित सा रहता है तथा तृषा, अग्निसाद, अत्यधिक श्वास कष्ट, कास, पीडा, शरीर अत्यधिक सन्तापयुक्त, गला मे श्वयथु और कण्डू तथा कफ का अनुभव करता है। उसकी जिह्वा श्याम वर्ण की हो जाती है। वह अनायास थकावट का अनुभव करता है। उसकी श्रवण शक्ति कम हो जाती है तथा वह दाह का अनुभव करता है।[2]

---

१ (क) 'हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी य,
श्वसन-कसन-हिक्कामोहकम्पप्रलापै ।
क्लमवहुकफवाता दाहवम्यङ्गपीडा,
स्वरविकृतिभिरार्त शीतगात्रः स उक्त ॥' (आ वि द्रि स)

(ख) 'हिम सदृशशरीरो वेपथुश्वास हिक्का,
शिथिलितसकलाङ्ग खिन्ननादोग्रताप ।
क्लमथुदवथुकासच्छर्दतीसारयुक्त-
स्त्वरितमरणहेतु शीतगात्रप्रभाव ॥' (यो र)

२ (क) 'तन्द्रातीव ततस्तृषातिसरण श्वासोऽधिक कासरुक्।
सन्तप्तातितनुर्गले श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्डू कफ ॥

(३) प्रलापक या प्रलापी सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर मे सम्पूर्ण दोषो के प्रकोपवश रोगी क्रुद्ध हो सहसा उठकर बोलने लगता है तथा कम्प, व्यथा, पतन (जमीन पर गिरना), दाह (जलन) आदि से पीडित होता है तथा वेहोश हो जाता है उसको प्रलापक या प्रलापी सन्निपात ज्वर कहते हैं। इसमे स्वेदाधिक्य, भ्रम, अङ्गभेद, छर्दि, कण्ठ मे पीडा तथा गात्रगौरव ये लक्षण विशेष रूप मे होते हैं।[1]

(४) रक्तष्ठीवि सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस सन्निपात ज्वर मे रोगी रक्तष्ठीवन करता है। उसके शरीर पर लाल तथा कृष्ण चकत्ते निकल आते है। उसकी आँखे लाल हो जाती है। वह तृष्णा, अरुचि, छर्दि, श्वास, अतिसार, भ्रम, आध्मान, हिक्का, अङ्गपीडा इन लक्षणो से पीडित होता है। इससे आक्रान्त रोगी वेहोश हो जाता है तथा जमीन पर गिरने लगता है।[2]

(५) भुग्ननेत्र सन्निपात के लक्षण—इस ज्वर मे रोगी की आँखे अत्यधिक तिरछी (वक्र) हो जाती हैं। रोगी श्वास, कास, तन्द्रा इन लक्षणो से अधिक पीडित होता है। रोगी प्रलाप करता है तथा मद, कम्प और मोह से आक्रान्त होता है। उसकी श्रवण शक्ति हीन हो जाती है।[3]

सुश्यामा रसना क्लम. श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा।
यत्र स्यात् स हि तन्द्रिको निगदितो दोपत्रयोत्थो ज्वर ॥' (आ वि. द्वि ख)

(ख) 'प्रभूता तन्द्रार्तिज्वरकफपिपासाकुलतटो,
भवेच्छ्यामा जिह्वा पृथुलकठिना कण्टकवृता।
अतीसारश्वासक्लमथुपरितापश्रुतिरुजो,
भृश कण्ठे जाड्य शयनमनिश तन्द्रिकगदे ॥' (यो र.)

१ (क) 'यत्र ज्वरे निखिलदोपनिमित्तरोप-जाते प्रलापबहुला सहसोत्थिताश्च।
कम्प-व्यथा-पतन-दाह विसज्ञता. स्युर्नाम्ना प्रलापक इति प्रथित. पृथिव्याम् ॥'
(आ वि द्वि ख)

(ख) 'कम्पप्रलापपरितापनशीर्पपीडा प्रौढप्रभावपवमानपरोऽन्यचिन्ता।
प्रज्ञाप्रणाशविकल प्रचुरप्रवाद. क्षिप्र प्रयाति पितृपालपद प्रलापी ॥'
(यो र)

२ (क) 'निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृश कृष्ण तनौ मण्डल।
लौहित्य नयने तृपारुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः ॥
आध्मानञ्च विसज्ञता च पतन हिक्काङ्गपीडा भृश।
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्ग ज्वरे जायते ॥' (आ वि द्वि ख)

(ख) (यो र. पेज २४५)

३. 'भृश नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशम्
प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ।

(६) अभिन्यासज्वर के लक्षण—इस ज्वर का वर्णन आर्ष संहिता ग्रन्थो मे भी प्राप्त होता है। इस ज्वर मे सभी दोष अत्यन्त बली एवं तीव्रतर होने से लक्षण भी तीव्र एवं बली होते है। इससे आक्रान्त रोगी अत्यधिक मोहयुक्त, विचेष्ट और विकल रहता है। श्वास-कष्ट अत्यधिक होता है तथा रोगी बोलने मे भी असमर्थ रहता है। उसका आनन चिक्कन प्रतीत होता है। अग्निमान्द्य, दाह तथा बलक्षय, ये लक्षण विशेषरूप मे पाये जाते हैं।[1] माधवाचार्य ने सुश्रुतोक्त तथा वाग्भटोक्त अभिन्यास ज्वर का वर्णन इस प्रकार किया है जैसे—'तीनो दोष प्रकुपित होकर जब उर प्रदेश के स्रोतो (प्राणवह स्रोतो) मे प्रसार करते हुए (अर्थात् वक्षस्थल स्थित फुफ्फुस एवं हृदयगत स्रोतो मे फैलकर) प्रवृद्ध आम दोषो से सम्पृक्त होकर मन एवं ज्ञानेन्द्रियो पर प्रभाव डालते हैं तब 'अभिन्यास' नामक ज्वर को उत्पन्न करते हैं। इसमे रोगी की श्रवणशक्ति नष्ट हो जाती है, आँखे देखने मे असमर्थ हो जाती हैं, किसी प्रकार की चेष्टाये नही हो पाती, घ्राणशक्ति, स्पर्शज्ञान तथा शब्दज्ञान नष्ट हो जाते है। रोगी शिर को बार-बार इधर-उधर पटकता है। उसे भोजन की इच्छा नही होती तथा वह कपोत के सदृश कूजन ध्वनि करता है। उसके शरीर मे सूई चुभाने के समान पीडा होती है। रोगी बार-बार करवटे बदलने की चेष्टा करता है और बहुत कम बोलता है।' इस ज्वर को कई आचार्य 'हृतौजस ज्वर' भी कहते हैं। यह असाध्य माना गया है। इससे कोई ही रोगी भाग्य से बचता है।

पुरो निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्ग ज्वरे
पुरातनचिकित्सकै स इह भुग्ननेत्रो मतः ॥' (आदि)

१ (क) 'दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिन सर्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृश मूकता।
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्तित इह प्रज्ञैर्भिषग्भि पुरा ॥' (आ वि द्वि ख)

(ख) 'त्रय. प्रकुपिता दोषा उर स्रोतोऽनुगामिन।
आमाभिवृद्धया ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगता ॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यास ज्वर दृढम्।
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्ति स्यात्र चेष्टा काश्चिदीहते ॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने।
न घ्राण न च सम्पर्शं शब्द वा नैव बुद्ध्यते ॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहार नाभिनन्दति।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥
अल्प प्रभाषते किञ्चिदभिन्यास स उच्यते।' (मा नि.)

(ग) सु उ अ ३९,

सुश्रुत ने अभिन्यास ज्वर के लक्षणो मे कहा है कि इसमे रोगी का शरीर न अधिक उष्ण ही होता है न अधिक शीत। रोगी की सज्ञा अल्प हो जाती है। अर्थात् वह अर्धचेतन (Semiconcious) हो जाता है। रोगी भ्रान्तप्रेक्षी अर्थात् अयथार्थदर्शी तथा हतस्वर हो जाता है। उसकी जिह्वा स्पर्श मे खर तथा कण्ठ सूख जाते हैं। स्वेद-मूत्र तथा मल-निर्गम बन्द हो जाता है। उनकी आँखे अश्रुपूर्ण तथा हृदय की गति कुटिल हो जाती है। उसे भोजन से द्वेष हो जाता है तथा उसकी प्रभा नष्ट हो जाती है। श्वास-कष्ट से विकल होने के कारण वह सो नही पाता तथा प्रलाप आदि उपद्रवो से युक्त होता है। ऐसे रोगी को अभिन्यास से पीडित जाने। अन्य आचार्यो ने इसे 'हतौजस' कहा है।' पुन आगे कहा है कि इस सन्निपात ज्वर मे यदि असमस्त लक्षण होवे तो कृच्छ्रसाध्य और यदि समस्त लक्षण दृष्टिगोचर हो तो असाध्य समझे। इसके पुन तीन भेद कर दिये हैं। (प्रथम)—जब निद्रोपेत हो तो उसे 'अभिन्यास' कहे, (दूसरा)—यदि क्षीण हो तो हतौजस कहे और (तीसरा)—जब उसका गात्र संन्यस्त हो जावे तो 'सन्यास' कहे।'

सुश्रुत ने हतौजस सन्निपात के तन्त्रान्तरीय मत का भी उद्धरण किया है जैसे—जिस रोगी का पित्त और वायु के समुच्छ्रायवश ओज धातु विस्रसित हो जाता है वह गात्रस्तम्भ और शीत से पीडित होकर अचेतन और शयन करने की इच्छा वाला हो जाता है। वह जागता हुआ भी सोने के समान तन्द्रालु और प्रलाप करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उसे रोमाञ्च होते रहते है तथा उसका शरीर शिथिल पड जाता है। सन्ताप और वेदना मन्द होती है। ऐसे सन्निपात ज्वर को 'ओजोनिरोधज' सन्निपात जाने।[२]

---

१ (क) 'विशेष चात्र मे शृणु।

नात्युष्णशीतोऽल्पसज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतस्वर.।
खरजिह्व शुष्ककण्ठ. स्वेदविण्मूत्रवर्जित'॥
सास्रो निर्भुग्नहृदयो भक्तद्वेषी हतप्रभ।
श्वसन्निपतित शेते प्रलापोपद्रवायुत॥
तमभिन्यासमित्याहुर्हतौजसमथापरे।
सन्निपातज्वर कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदु॥
निद्रोपेतमभिन्यास क्षीणमेन हतौजसम्।
सत्यस्तगात्र सन्यास विद्यात्सर्वात्मके ज्वरे॥' (सु उ अ ३९)

(ख) 'असमस्तलक्षणत्वे कृच्छ्रसाध्यत्व, समस्तलक्षणत्वे विवृद्धदोषत्वेऽग्नौ च नष्टे सन्यसाध्यलक्षणम्। (डल्हन)

२ 'ओजो विस्रसते यस्य पित्तानिलसमुच्छ्रयात्।
स गात्रस्तम्भशीताभ्या शयनेप्सुरचेतन.॥

(७) जिह्वक सन्निपात के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर मे जिह्वा अत्यन्त वृत्त, कठिन तथा कांटो से आवृत के समान प्रतीत होती हो तथा रोगी बोलने मे असमर्थ (मूक) हो जाता हो, श्रवण शक्ति तथा बल का अत्यधिक क्षय हो जाता हो और रोगी श्वास तथा कास से पीडित होता हो उसको 'जिह्वक सन्निपात ज्वर' कहते है।[1]

(८) सन्धिग सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर मे सन्धियो मे शोथ के साथ-साथ अत्यधिक पीडा होती हो तथा मुख मे प्रभूत मात्रा मे कफ की उत्पत्ति होती हो और निद्रा नही आती हो तथा कास और सम्पूर्ण शरीर मे रुक् होता हो। उस ज्वर को 'सन्धिग सन्निपात ज्वर' जाने।[2]

(९) अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर मे रोगी अपने शिर को सदा धुनता रहता हो तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गो मे इतनी अधिक पीडा हो कि वह उससे सदा विकल रहता हो और कास, श्वास, हिक्का, दाह, मोह तथा शरीर सन्ताप से उद्विग्न रहता हो और व्यर्थ की बातो का आलाप करता रहता हो उसे 'अन्तक सन्निपात ज्वर' जाने। तन्त्रान्तर मे इसके लक्षणो मे कहा है कि इस रोग से आक्रान्त रोगी के सम्पूर्ण शरीर मे गाँठे उत्पन्न हो जाती है तथा उदर मे वायु भर जाती है। रोगी सदा श्वास से आतुर एव बेहोश रहता है।[3]

अपि जाग्रत् स्वपञ्जन्तुस्तन्द्रालुश्च प्रलापवान्।
सहृष्टरोमा स्रस्ताङ्गो मन्दसन्तापवेदन.॥
ओजोनिरोधजं तस्य जानीयात् कुशलो भिषक्।' (सु उ. अ ३९)

१. (क) 'त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृश।
वृता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता॥
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तापय. ।
पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वक चक्षते॥' (आ. वि द्वि ख)

(ख) 'श्वसनकासपरितापविह्वल कठिनकण्टकवृतातिजिह्वक'।
बधिरमूकबलहानिलक्षणो भवति कष्टतरसाध्यजिह्वक॥' (यो र)

२ (क) 'व्यथातिशयिना भवेच्छ्वयथुसयुता सन्धिषु,
प्रभूतकफता मुखे, विगतनिद्रता कासरुक्।
समस्तमिति कीर्तित भवति लक्ष्म यत्र ज्वरे,
त्रिदोषजनिते बुधै. स हि निगद्यते सन्धिग.॥' (आ वि. द्वि ख.)

(ख) 'पूर्वरूपकृतशूलसभव शोफवानबहुवेदनान्वितम्।
श्लेष्मतापबलहानिजागर सन्निपातमिति सन्धिक वदेत्॥' (यो र)

३ (क) 'यस्मिँल्लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीर्णे ज्वरेऽजस्र मूर्द्धविधूननं सकसन सर्वाङ्गपीडाधिका। हिक्काश्वाससदाहमोहसहिता देहेऽनिसन्तप्तना, वैकल्यञ्च

(१०) रुग्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर मे अत्यधिक दाह तथा तीव्र तृषा होती हो और रोगी श्वास, प्रलाप, अरुचि, भ्रम, मोह, पीडा से पीडित रहता हो, और उसे मन्या, हनु तथा कण्ठ मे रुक् होता हो एवं श्रम (थकावट) का अनुभव होता हो उसको 'रुग्दाह सन्निपात ज्वर' कहते है।[1]

(११) चित्तविभ्रम सन्निपातज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे रोगी गाना गाता है, नाचता है, हँसता है, प्रलाप करता है तथा विकृत रूप मे सभी वस्तुओ का निरीक्षण करता है। इसमे रोगी मोह को प्राप्त होता है तथा दाह व्यथा और भय से आर्त रहता है।[2]

(१२) कर्णिक सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे कर्णमूल प्रदेश मे सशोथ पीडा होती है। इसमे तीव्र ज्वर तथा कण्ठ मे ग्रहणवत् पीडा का अनुभव होता है। बाधिर्य, श्वासकष्ट, प्रलाप, प्रस्वेद, मोह, दाह आदि लक्षण इसमे पाये जाते है।[3] चरक संहिता मे भी इसका संकेत प्राप्त होता है। जैसे 'सन्निपात ज्वर के अन्त मे कर्णमूल प्रदेश मे यदि दारुण शोथ उत्पन्न हो जाय तो उससे कोई ही रोगी बचता है।'[4] तन्त्रान्तरो मे भी इसका पाठ प्राप्त होता है। जैसे—सन्निपात ज्वर के आदि मे होने वाला कर्णमूल शोथ साध्य, मध्य मे होने वाला कृच्छ्र साध्य तथा अन्त मे होने वाला असाध्य होता है।[5]

(१३) कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे ज्वरी बोलते समय ऐसा अनुभव करता है मानो उसका कण्ठ सैकड़ो शूको (काँटो) से अवरुद्ध है। उसे श्वास लेने मे अत्यधिक कष्ट अनुभव होता है। इसमे प्रलाप, अरुचि,

---

वृथा वचासि मुनिभि सकीर्तित सोऽन्तक ॥' (आ वि द्वि ख)

(ख) 'दाह करोति परितापनमाननोति मोह ददाति विदधाति शिर प्रकम्पम्।
हिक्का तनोति कसन च समाजुहोति जानीहि त विबुधवर्जितमन्तकाख्यम् ॥'
(यो. र)

१ (क) आ. वि द्वि ख; (ख) यो र पेज

२ (क) आ वि द्वि ख, (ख) यो र पेज

३ 'दोषत्रयेण जनिता किल कर्णमूले, तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च।
कण्ठग्रहो वधिरता श्वसन प्रलाप प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥'
(आ वि द्वि ख)

४ 'सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुण।
शोथ' सजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥' (च चि अ ३)

५ 'ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथ।
क्रमेण साध्यस्त्वथ कृच्छ्रसाध्यस्तथाप्यसाध्यः कथितो मुनीन्द्रै ॥' (मा नि.)

दाह, शरीर मे पीडा, पिपासा, हनुस्तम्भ, शिर शूल तथा मोह आदि लक्षण होते हैं।[1]

इन उपर्युक्त १३ प्रकार के सन्निपातो मे 'सन्धिग सन्निपात' को साध्य कहा है। तन्द्रिक, चित्तविभ्रम, कर्णिक, जिह्वक, कण्ठकुब्ज इन पाँचो को कष्टसाध्य कहा है। शेष सन्निपातो को अति कष्टसाध्य तथा असाध्य कहा है।[2]

तन्त्रान्तरो मे इनसे भिन्न सज्ञा वाले १३ प्रकार के सन्निपात ज्वरो का भी वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—

(१) कुम्भीपाक सन्निपात ज्वर—ऐसा सन्निपात ज्वरी जिसके नासा-छिद्रो मे काला और लाल वर्ण का गाढा रक्त अत्यधिक मात्रा मे स्रवित होता रहता हो और वह चारो तरफ अपने मस्तक को विलोठित (पटकता) करता रहता हो उसे 'कुम्भीपाक सन्निपात ज्वर' कहते है।[3]

(२) प्रोर्णुनाव सन्निपात ज्वर—जो ज्वरी अपने अङ्गो को ऊपर उठा-उठाकर नीचे की ओर फेकता रहता हो तथा सदा ऊपर की ओर श्वास लेता हो उस विचित्र कष्टप्रद ज्वर को 'प्रोर्णुनाव सन्निपात कहा है।[4]

(३) प्रलापी सन्निपात ज्वर—इसके लक्षण प्रलापक सन्निपात ज्वर मे कहे जा चुके हैं।[5]

---

१ (क) 'कण्ठ शूकशतावरुद्धवदनिश्वास प्रलापोऽरुचि-र्दाहो देहरुजा तृषापि च हनुस्तम्भ शिरोऽर्तिस्तथा। मोहो वेपथुना सहेति सकल लिङ्ग त्रिदोषज्वरे, यत्र स्यात् स हि कण्ठकुब्ज उदित. प्राच्यैश्चिकित्साबुधे ॥' (आ वि द्वि स)

(ख) 'शिरोऽर्तिकण्ठग्रहदाहमोहकम्पज्वरा रक्तसमीरणार्तिः। हनुग्रहस्तापविलापमूर्च्छा स्यात्कण्ठकुब्ज खलु कष्टसाध्य ॥' (यो र)

२. (क) 'सधिकस्तन्द्रिकश्चैव कर्णक' कण्ठकुब्जक.। जिह्वकश्चित्तविभ्रम. पट् साध्या सप्त मारका ।' (यो र)

(ख) 'सन्धिगस्तेपु साध्य स्यात् तन्द्रिकश्चित्तविभ्रमः।
कर्णिको जिह्वक' कण्ठकुब्ज पञ्चापि कष्टदा ॥
रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन ससाध्यस्तेपु भापित.।
रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्र ' प्रलापक ॥
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते पटसाध्या प्रकीर्तिता'। (आ वि द्वि ख)

३ 'घोणा विवरक्षरद्बहुशोणासितलोहित सान्द्रम्।
विलुठन्मस्तमभित कुम्भीपाकेन पीडित स स्यात् ॥ (आ वि. द्वि ख)

४ 'उत्क्षिप्य य स्वमङ्ग क्षिपत्यधस्तान्निनान्तमुच्छ्वसिति।
त प्रोर्णुनावजुष्ट विचित्रकष्ट विजानीयात् ॥' (आ वि. द्वि ख)

५ स्वेदभ्रमाङ्गभेदा' कम्पो दवथुर्वमिर्व्यथा कण्ठे।
गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापिजष्टस्य जायते लिङ्गम।' (आ वि द्वि ख)

(४) अन्तर्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे रोगी अन्तर्दाह (शरीर के आभ्यन्तर भाग मे) दाह (जलन) का अनुभव विशेष रूप मे करता है तथा शरीर के बहिर्भाग मे शैत्य का अनुभव करता है। वह शोथ अरति तथा श्वास से पीडित रहता है और उसे अपने अङ्गो को दग्ध (जले हुये) के समान प्रतीति होती है।[1] संहिता ग्रन्थो मे भी 'अन्तर्दाह ज्वर' का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे चरक मे अन्तर्वेग ज्वर का लक्षण बतलाते हुये कहा है कि इसमे रोगी को अन्तर्दाह, अधिक तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, सन्धियो तथा अस्थियो मे शूल स्वेदाभाव, दोष तथा मलो का निग्रह ये लक्षण होते हैं।[2]

(५) दण्डपात सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे रोगी ऐसा अनुभव करता है कि उसे आकाश मे उठाकर डण्डे से कोई पीट रहा हो और इससे व्याकुल होकर वह दिन रात इतस्तत भ्रमण करता रहता है। उसे दिन रात मे कभी भी नीद नही आती।[3]

(६) अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण जो पहले कहा जा चुका है उससे इसमे कुछ भिन्नता है जैसे—ग्रन्थिओ का सम्पूर्ण शरीर मे निकल आना।[4]

(७) एणीदाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे पीडित रोगी ऐसा कष्ट अनुभव करता है मानो उसके शरीर मे सर्प, पक्षी तथा हिरण दौड रहा हो। अर्थात् उसे उक्त प्रकार का गात्ररुक् अनुभव होता है। इसमे पीडित रोगी काँपता रहता है तथा दाह (जलन) से युक्त होता है।[5]

(८) हारिद्रक सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर मे रोगी का सम्पूर्ण शरीर हलदी (हरिद्रा) से पोते हुये के समान पीला दिखाई पडता है। उसकी आँखे भी हरिद्रावत पीली हो जाती हैं। मल-मूत्र मे भी अत्यधिक पीलापन दृष्टिगोचर होता है। अत्यधिक अन्तर्दाह तथा शरीर के बहिर्भाग मे शैत्य का

---

१ 'अन्तर्दाह शैत्य बहि श्वयथुररतिस्तथा श्वास ।
अङ्गमपि दग्धकल्प सोऽन्तर्दाहादिति कथित ॥' (आ वि द्वि स)

२ च चि अ. ३।

३. 'नक्त दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूर्धानमस्य ।
उत्थाय दण्डपातो भ्रमातुर सर्वतो भ्रमति ॥' (आ वि द्वि स)

४ 'सम्पूर्यते शरीर ग्रन्थिभिरभितस्तथोदर मरुता ।
श्वासातुरस्य सतत विचेतनस्यान्तकार्त्तस्य ॥' (आ. वि द्वि. स)

५ 'परिधावतीव गात्रे रुक्पात्रे भुजगपतगहरिणगण ।
वेपथुमत सदाहस्यैणीदाहज्वरार्त्तस्य ॥' (आ वि द्वि स)

अनुभव होता है।[1] वृद्ध वाग्भट्ट ने भी इसका वर्णन अष्टाङ्गसंग्रह में किया है तथा शार्ङ्गधर ने अपने 'त्रिशती' में इसका वर्णन किया है।[2]

(९) अजघोष सन्निपात ज्वर—इस ज्वर मे रोगी के शरीर से अजा (बकरी) के शरीर के गन्ध के समान गन्ध आती है तथा रोगी की आवाज भी बकरी की आवाज के समान हो जाती है। यह (आवाज) गले के (शोथवश) निरुद्ध हो जाने से होता है। उसकी आँखे ताम्र वर्ण की लाल हो जाती हैं तथा स्कन्धो मे पीड़ा होती है।[3]

(१०) भूतहास सन्निपात ज्वर—इस ज्वर मे रोगी अपने ही शब्दो को (अर्थात् कहे हुए को) नही समझता तथा असम्बद्ध बातो को बोलता रहता है। इस ज्वर से आक्रान्त रोगी की इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ) अपने विषयो का भी सम्यक् रूपेण ग्रहण नही कर पाती। रोगी हँसता रहता है, अधिक बोलता है तथा परुष वचनो का उच्चारण करता है।[4]

(११) यन्त्रापीड सन्निपात ज्वर—इसमे ज्वर से बार-बार आक्रान्त होने से रोगी ऐसा अनुभव करता है कि उसका शरीर किसी यन्त्र से दबाया जा रहा हो। उसे लाल तथा पीला वर्ण का वमन भी होता है।[5]

(१२) सन्यास सन्निपात ज्वर के लक्षण—इस ज्वर से पीड़ित ज्वरी को अतिसार तथा वमन अधिक होता है। रोगी कहँरता रहता है तथा अपने अङ्गो को सदा फेकता रहता है। वह सदा प्रलाप करता रहता है तथा उसकी आँखे उग्र एवं भयङ्कर रूप धारण कर लेती है।[6] यह 'सन्यास सन्निपात' सुश्रुतोक्त से भिन्न प्रतीत होता है।

---

१. 'यस्यातिपीतमङ्ग नयने सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम्।
दाहोऽतिशीतता बहिरस्य स हारिद्रको ज्ञेय ॥' (आ. वि द्वि ख)

२. (क) अ. स नि अ. २१
(ख) त्रिशती-ज्वराधिकारे।

३ 'शब्दादीनधिगच्छति न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामैः।
हसति प्रलपति परुष स ज्ञेयो भूतहासार्त्त ॥' (आ. वि. द्वि ख)

४. 'छगलक-समानगन्धः स्कन्धरुजावान् निरुद्धगलरन्ध्र ।
अजघोपसन्निपातात्ताम्राक्ष पुमान् भवति ॥' (आ. वि. द्वि ख)

५. 'येन मुहुर्ज्वरवेगाद् यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम्।
रक्त पीतञ्च वमेद् यन्त्रापीडः स विज्ञेय. ॥' (आ वि. द्वि. ख.)

६ (क) 'अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति।
संन्यास-सन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति ॥'
(आ. वि द्वि ख)

(ख) सु. उ. अ ३९।

(१३) सशोफी सन्निपात ज्वर के लक्षण— इस ज्वर से आक्रान्त रोगी का शरीर मेचक (नीलाञ्जन) के समान वर्ण का हो जाता है। उसकी आँखे भी नील वर्ण की हो जाती है। वह मल भी मेचक वर्ण का ही उत्सर्जन करता है। रोगी के शरीर पर श्वेत वर्ण की पिटकाये (चकत्ते) निकल आती है।[1] वेद (अथर्ववेद) मे 'शुष्मा' ज्वर का उल्लेख प्राप्त होता है। सायन ने इसे शरीर को सुखाने वाला ज्वर कहा है। परन्तु यह सन्निपात ज्वर उससे भिन्न प्रतीत होता है।

सन्निपात ज्वरों के भेद प्रदर्शक तालिका—

(१) प्रकृति सम समवेत सन्निपात (त्रिदोषज) ज्वर— इसमे वातादि सभी दोषो से उत्पन्न ज्वरो के गम्भीर तथा दुःसह लक्षण दृष्टिगोचर होते है।

(२) विकृति विषम समवेत त्रिदोषज या सन्निपात ज्वर जैसे—वातोल्वण सन्निपात ज्वर या विस्फोटक सन्निपात ज्वर। इस ज्वर मे (क) पार्श्ववेदना, (ख) जृम्भा, तथा (ग) कषायास्यता ये तीन लक्षण ऐसे होते हैं जो अन्यो मे नही दीख पडते।

(३) पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर या आशुकारी सन्निपात ज्वर—इसमे (क) मुख पाक (ख) शरीर मे रक्त बिन्दुओ की उत्पत्ति, तथा अत्यधिक दाह अन्यो की अपेक्षा विशिष्ट या विभेदक लक्षण होते हैं।

(४) कफोल्वण सन्निपात ज्वर या कम्पन सन्निपात—इसमे (क) गद्गद वाक्त्व, (ख) रात्रिनिद्रा, (ग) मुखमाधुर्य, ये तीन लक्षण विशिष्ट होते है जो अन्यो मे नही पाये जाते।

(५) वात-पित्तोल्वण वभ्रु नामक सन्निपात ज्वर—मे (क) मुख शोष, (ख) आध्मान, तथा (ग) भ्रम, ये तीन लक्षण विभेदक होते है।

(६) वात-कफोल्वण या शीघ्रकारी नामक सन्निपात ज्वर—इसमे (क) शीतज्वर, (ख) दवथु, (ग) पार्श्वनिग्रह, तथा (घ) अस्वेद ये चार लक्षण विशिष्ट रूप मे देखे जाते है। ये अन्यो मे नही होते।

(७) पित्त कफोल्वण या भल्लु नामक सन्निपात ज्वर —इसमे (क) दक्षिण-पार्श्वतोद, (ख) उरोग्रह, (ग) गलग्रह और (घ) कृच्छ्रता से श्लेष्मपित्त का निष्ठीवन, ये लक्षण अधिक होते है।

---

१ (क) 'मेचक-वपुरतिमेचक-लोचनयुगलो मलोत्सर्गात्।
सशोफिणि सितपिडकामण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति॥'
(आ वि द्वि. ख)

(ख) (अथ० वे० ··· ····)

(८) इसी प्रकार वैदारिक सन्निपात ज्वर मे परमोच्छ्वास एक विशिष्ट लक्षण के रूप मे दृष्टिगोचर होता है जो अन्यो मे नही होता ।

(९) याम्य नामक सन्निपात ज्वर मे एक पक्षाभिघात भेदक लक्षण होता है ।

(१०) क्रकच नामक सन्निपात ज्वर मे (क) रक्तस्तब्धनेत्रता, तथा (ख) शरीर छिद्रो से रक्त का निर्गम, ये दो लक्षण विशिष्ट होते हैं ।

(११) कर्कटक सन्निपात ज्वर मे (क) हृद्-दाह (ख) यकृत्प्लीहा तथा आँतो का पाक एवं (ग) ऊर्ध्वाधः मार्ग से रक्त-पूय का निर्गम तथा (घ) शीर्ण-दन्तता, विशिष्ट लक्षण के रूप मे पाए जाते हैं ।

(१२) सम्मोहक सन्निपात ज्वर मे रोगी सदा मोह और मूर्च्छा से अभिभूत रहता है ।

(१३) पालक सन्निपात मे तो रोगी बोलने मे असमर्थ रहता है, (क) उसका मुखमण्डल रक्ताभ हो जाता है और (ख) उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके हृदय मे कफ जकड गया है तथा निकलता नही है ।

(१४) कूटपालक सन्निपात ज्वर मे लगभग २७ ऐसे लक्षण होते हैं जो अन्यो मे नही होते । इसमे प्राय तीनो दोप समान रूपेण उल्वण होते हैं । अतः तीनो दोपो के सुदु सह एवं भयकर लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

यहा इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि विकृति-विपम-समवेत-सन्निपात ज्वरो मे अविसर्गी ज्वर प्रत्यात्म लिङ्ग के रूप मे दृष्टिगोचर होता है । दोषोल्वणता के अनुसार इसमे ज्वर का वेग सम तथा विषम दोनो प्रकार का होता है । तात्पर्य यह कि 'समवेगी' तथा 'विषमवेगी दोनो प्रकार के 'अविसर्गी ज्वर' सन्निपात ज्वर का प्रत्यात्म लिङ्ग है । उपर्युक्त सन्निपात ज्वरो के विशिष्ट लक्षण या भेदक लक्षण स्पष्ट रूपेण तत्तद्दोषो की उल्वणता के द्योतक होते हैं । जैसे—पार्श्ववेदना, जृम्भा, कषायास्यता, वातोल्वणता के, मुखपाक, रक्त बिन्दुओ का शरीर मे निर्गम, तथा दाहाधिक्य पित्तोल्वणता के और गद्गदवाणी, रात्रि-निद्रा, तथा मुखमाधुर्य कफोल्वणता के द्योतक होते है । इसी प्रकार अन्यो को भी समझे ।

इन लक्षण समुच्चयो को और भी स्पष्ट करने के लिये नीचे सारणी देखे । इस सारणी मे लक्षणो को क्रमश: देकर उनके आगे क्रमवार सन्निपात ज्वरो की सख्या देकर यह दर्शाया गया है कि वह लक्षण किन-किन सन्निपात ज्वरो मे उपलब्ध होते हैं ।

सन्निपात ज्वरो की क्रमवार संख्या इस प्रकार है—

(१) वातोल्वण सन्निपात ज्वर या विस्फारक ज्वर ।

(२) पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर या आशुकारी ज्वर।
(३) कफोल्वण सन्निपात ज्वर या कम्पन ज्वर।
(४) वातपित्तोल्वण सन्निपात ज्वर या बभ्रु सन्निपात।
(५) वात-कफोल्वण „ या शीघ्रकारी सन्निपात।
(६) पित्त-कफोल्वण „ या भल्लु „
(७) हीनवात-पित्तमध्य-श्लेष्माधिक सन्निपातज्वर या वैदारिक सन्निपात।
(८) हीनवात-मध्यकफ-पित्ताधिक सन्निपात ज्वर या याम्य सन्निपात।
(९) हीन पित्त मध्य कफ वाताधिक सन्निपात ज्वर या क्रकच सन्निपात।
(१०) हीनपित्त-वातमध्य-कफाधिक सन्निपातज्वर या कर्कटक सन्निपात।
(११) हीनकफ-पित्तमध्य-वाताधिक सन्निपात या सम्मोहक सन्निपात।
(१२) हीनकफ-वातमध्य-पित्ताधिक सन्निपातज्वर या पालक सन्निपात।
(१३) सर्वदोषोल्वण सन्निपात ज्वर या कूटपालक सन्निपात।

लक्षण-समुच्चय	सन्निपात ज्वर की क्रमवार संख्या
१ मोह	१, ८, ९, ११ तथा १३ मे।
२ प्रलाप	१, ८, ९, ११ तथा १३ मे।
३ कास	१, ४, ९ तथा १३ मे।
४ श्वास	१, ४, ५, ६, ९, १२, १३ मे।
५ भ्रम	१, २, ४, ८, ९, ११, १३ मे।
६ मूर्च्छा	१, २, ५, ८, ९, ११ मे।
७ वेपथु	१, ८, ९, ११ मे।
८ पार्श्ववेदना	१ मे।
९ जृम्भा	१ „
१० कषायास्यता	१ „
११ अतिसार	२, ६, मे।
१२ मुख पाक	२ मे।
१३ गात्र मे रक्त बिन्दुओ का निर्गम	२ „
१४ अतिदाह	२ „
१५ गद्गदवाणी	३ मे।
१६ रात्रि निद्रा	३ „
१७ प्रस्तब्धनेत्रता	३, ६ मे।
१८ मुखमाधुर्य	३ मे।
१९ मुखशोथ	४ मे।

२० आध्मान	४ मे।
२१ श्रम	४ ,,
२२ प्रमीलक	४, ६, १२, १३ मे।
२३ शीतज्वर	५ मे।
२४ क्षवथु (क्षुत्)	५ ,,
२५ पार्श्वनिग्रह	५ ,,
२६ अस्वेद	५ ,,
२७ शूल	५, १३ मे।
२८ दक्षिण पार्श्वतोद	६ मे
२९ उरोग्रह	६ ,,
३० गलग्रह	६ ,,
३१ कृच्छ्रात् श्लेष्मपित्तनिष्ठीवन	६ ,,
३२ अन्तर्दाह वहिःशीत	६, १२ मे।
३३ श्यावरक्त-मण्डल-कोठ दर्शन	६, १३ मे।
३४ निद्रानाश	४, ५, ६, १३ मे।
३५ तन्द्रा	४, ५, ९, १२, १३ मे।
३६ मद	४, १३ मे।
३७ स्तम्भ	३, ७, १३ मे।
३८ शीर्षग्रह	६, ९ मे।
३९ हिक्का	६, १२, १३ मे।
४० परमोच्छ्वास	७ मे।
४१ अरुचि	४, १३ मे।
४२ एकपक्षाभिघात	८ मे।
४३ अरति	८, ११, १२ मे।
४४ खेभ्योरक्त विसृति	९ मे।
४५ रक्तस्तब्धनेत्रता	९ ,,
४६ संज्ञानाश	९, १३ मे।
४७ मन्यास्तम्भ	९, ११ मे।
४८ आयास	९, ११ ,,
४९ हृदयदाह	१० मे।
५० यकृत्पाक	१० ,,
५१ प्लीहपाक	१० ,,

५२ अन्त्रपाक	१० मे।
५३ ऊर्ध्वाधः शोणित-पूय निर्गमन	१० "
५४ शीर्णदन्तता	१० "
५५ वक्तुमसामर्थ्य	१२ मे।
५६ रक्तमालक्ताभ मुखमण्डल	"
५७ हृदयाच्छ्लेष्मण. प्रसेचनम्	"
५८ इषुणाहत पार्श्वतोद	"
५९ श्लेष्म पूर्णगल.	"
६० शुष्क रक्तौष्टताळुक.	"
६१ अतिनिद्रा	"
६२ हतवाक्	"
६३ हतद्युति	"
६४ रक्तष्ठीवन	"
६५ प्रतत कण्ठकूञ्जन	१२, १३ मे।
६६ शुकपूर्णकण्ठता	"
६७ परिदग्धाजिह्वा	"
६८ खरस्पर्शाजिह्वा	"
६९ क्षणेदाह, क्षणेशीतानुभव	१३ मे।
७० अस्थि सधिरुक्	"
७१ शिरोरुक्	"
७२ अश्रुपूर्ण नेत्रता	"
७३ कलुष नेत्रता	"
७४ रक्त नेत्रता	"
७५ निर्भुग्ननेत्रता	"
७६ कर्णनाद	"
७७ कर्णरुजा	"
७८ स्रस्ताङ्गता	"
७९ कफमिश्रित रक्तष्ठीवन	"
८० शिरोलोठन	"
८१ तृष्णा	"
८२ हृद्व्यथा	"
८३ चिरात्स्वल्पस्वेद-दर्शन	"
८४ चिरान्मूत्र-स्वल्प-दर्शन	"

८५	चिरात्स्वल्पमल दर्शन	१३ मे।
८६	नाति-कृशगात्रता	,,
८७	मूकता	,,
८८	स्रोतो का पाक	,,
८९	उदर गौरव	,,
९०	चिरात् दोष पाक	,,
९१	सुप्ताङ्गता	,,
९२	उन्माद	,,
९३	श्यावदन्तता	,,
९४	कृष्णाजिह्वा	,,
९५	चेतनाच्युति	,,
९६	कटितोद	,,
९७	मध्येदाह	,
९८	क्लम	,,
९९	वस्तिरुक्	,,
१००	मन्यारुक्	,,
१०१	वाकरुक्	,,

सन्निपात ज्वर की चिकित्सा

सन्निपात ज्वर मे क्रियाक्रम—सर्व प्रथम यह निर्णय कर लेना परम आवश्यक है कि रोगी सम-सन्निपात ज्वर से पीडित है अथवा विषम-सन्निपात ज्वर से पीडित है। सम सन्निपात ज्वर मे संसृष्ट दोषो की चिकित्सा यथाक्रम से वातादि दोषो से उत्पन्न ज्वर मे विहित क्रियाक्रमो या योगो को सम्मिलित कर यथाविधि की जाती है। सम-सन्निपात-ज्वर मे तीनो दोषो का आरब्धकत्व समान रूप से होता है अत उसकी चिकित्सा मे भी समान रूपेण त्रिदोषहर ज्वरघ्न उपचारो तथा औषधो का उपयोग अपेक्षित होता है। परन्तु विषम सन्निपात ज्वरो मे तो चिकित्सा का विधान दोषोल्वणता के अनुसार करना पडता है।[1] इस चिकित्सा क्रम मे दोषो के तरतमत्व का विचार प्रति-

---

१ (क) सर्वदोषसमुत्थे तु संसृष्टानवचारयेत्। (सु उ अ. ३९)

(ख) 'सर्वदोषसमुत्थे समसन्निपाते। संसृष्टानवचारयेद् इति वातादिविहितान् कषायानेकीकृत्य प्रयुञ्ज्यात् ॥' (डल्हन)

कारायें परमावश्यक होता है। क्योंकि दोषों के बलाबलानुसार ही चिकित्सा को प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है।[1]

सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में शास्त्रों में दो प्रकार का विधान पाया जाता होता है जैसे—(१) सर्व प्रथम सन्निपात ज्वर में पित्त को शान्त करना उचित है। क्योंकि ज्वर में पीड़ित व्यक्तियों में पित्त का शमन ही दुष्कर होता है। किसी-किसी पाठ में तो पित्त के निर्हरण का भी आदेश है।[2]

(२) दूसरा विचार यह है कि सन्निपात ज्वर में सर्व प्रथम 'आम' और 'कफ' दोष का पाचन करना आवश्यक है। पश्चात् शान्त होने पर (आम क्षीण होने पर) पित्त तथा वायु का उपशम करे।[3]

इन उपर्युक्त उभय विध (विरोधि) विधानों से चिकित्सक का भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक है। उसके सामने यह विकल्प आ जाता है कि वह किस विधान का अनुसरण करे। पित्त को प्रथम शान्त करना अथवा आम एवं कफ दोष का पाचन करना ? इस भ्रम को निराकृत करने के लिये जो विचार आचार्यों ने किया है उसका सारांश यहाँ उपस्थित करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—ज्वर आमाशय तथा आम समुत्थ व्याधि है और आम कफ से साम्य रखने वाला दोष है तथा आमाशय कफ का स्थान है। अतः स्थान एवं स्थानी के विचार से सर्व प्रथम सन्निपात ज्वर में आम एवं कफ दोष का पाचन करना श्रेयस्कर है, परन्तु सन्निपात ज्वर में ज्वर का प्रभाव (सन्ताप) अत्यधिक हो तो सर्व प्रथम सन्ताप शान्त्यर्थ पित्त का शमन आवश्यक होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये ही आचार्य ने पित्त शमन के दुष्करत्व पर चिकित्सक का ध्यान आकृष्ट किया है। इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिये आचार्य ने कहा है कि ज्वर तथा अतिसार में यह नियम विशेष रूपेण उपादेय है। अन्यत्र तो वायु का शमन ही अपेक्षित होता है।[4] यहाँ शमन शब्द से प्रकृति स्थापन अपेक्षित है।

---

१ (क) 'यथादोषोच्छ्रायं चापि ज्वरान् सर्वानुपाचरेत्।' (सु उ ३९)
(ख) 'सर्वान् विषमसन्निपातान् ज्वरान्।' (डल्हन)
२ (क) 'शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु।
दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः॥' (सु उ. ३९)
(ख) 'समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च…… ॥' सु उ. अ ३९ पर (डल्हन)
३. 'सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्।
पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत्पित्तमारुतौ॥' (मे सं०)
४. (क) सु उ अ ३९ पर डल्हन।

विषम सन्निपात ज्वरो मे दोषानुपूर्वी चिकित्सा का विधान आचार्यो ने किया है। अर्थात् जो दोष उल्वण (बढा हुआ) हो उसको घटा (ह्रास) कर तथा जो दोष क्षीण हो उसको बढाकर सन्निपात हर ज्वरघ्न योगो द्वारा चिकित्सा करे। सम सन्निपात ज्वर मे तो कफस्थानानुपूर्वी चिकित्सा करे।[१]

हीन, मध्य तथा अधिक एव वृद्ध, वृद्धतर तथा वृद्धतम आदि दोषो की अवस्था के अनुसार सन्निपात ज्वरो के लक्षणो का वर्णन किया जा चुका है। ये सभी प्रकार के सन्निपात ज्वर विषम सन्निपातारब्ध होते है। अत इनकी चिकित्सा का विधान उन दोषो की उल्वणता आदि के अनुसार ही करना श्रेयस्कर है। जो दोष बढा हुआ हो उनका क्षपण कर तथा जो दोष हीनावस्था मे हो उन्हे बढाकर ज्वर को तुल्य कक्षा मे लाकर जीतने (शान्त करने) का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसी व्यवस्था न होने पर विषम सन्निपातारब्ध ज्वरो को जीतना (शान्त करना) कठिन हो जाता है। उदाहरण स्वरूप—यदि किसी सन्निपात ज्वर मे वात वृद्धतम, पित्त वृद्धतर और कफ वृद्ध हो अथवा कफहीन, पित्त मध्य तथा वात अधिक हो तो ऐसे सन्निपात ज्वर मे क्रमश वात तथा पित्त को क्षपण कर अथवा कफ को बढाकर दोषो को तुल्य कक्षा मे लाना (समता मे लाना) और तदनन्तर सन्निपातहर ज्वरघ्न औषधो का प्रयोग श्रेयस्कर है। जैसे—स्निग्ध, शीत, मधुर रस विशिष्ट ज्वरहर औषधो से प्रतिकार करने पर वृद्धतम वात का क्षपण होगा, साथ ही पित्त का प्रसादन होगा और कफ की ईषद् वृद्धि होगी जिससे दोष समता (तुल्य कक्षा) मे आ जायेंगे और ज्वरहर योग ज्वर को शान्त करने मे समर्थ होगा। इसी प्रकार वातहीन, पित्त मध्य और कफ वृद्ध सन्निपात ज्वर मे शीत, लघु और रूक्ष गुण विशिष्ट ज्वरहर द्रव्यो के प्रयोग से वात को बढाकर चिकित्सा करनेपर पित्त और कफ का स्वयं क्षपण हो (उक्त गुण विशिष्ट द्रव्यो के प्रभाव से) दोष तुल्य कक्षा मे आ जाते हैं और ज्वरहर औषध अपना प्रभाव उचित रूप मे दिखाते हैं। तीसरा उदाहरण—पित्त हीन, वातमध्य और कफ वृद्ध सन्निपात ज्वर मे तीक्ष्ण, उष्ण और कटु गुण विशिष्ट ज्वरहर द्रव्य के प्रयोग से पित्त को बढाकर चिकित्सा करने पर शेष दोष कफ और वायु का स्वयं क्षपण हो जाता है और दोषो के तुल्यकक्षा मे आ जाने से ज्वरहर औषधो का प्रभाव उचित रूप मे होता है।

(ख) 'समवाये तु दोषाणा पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥' (डल्हन सु उ. अ, ३९)

१ 'वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च।
कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यकक्षाञ्जयेन्मलान्॥' (अ हृ चि)

इसी प्रकार द्वयुल्वण विषम-सन्निपाताख्य ज्वरों के प्रतिकार की भी व्यवस्था करे।[1]

सम सन्निपात ज्वर के प्रतिकार में तो ज्वर के आमाशय समुत्थ होने से सर्वप्रथम स्थानानुपूर्वी चिकित्सा का विधान अर्थात् आम और कफ दोष के पाचन की व्यवस्था श्रेयस्कर है। एतदर्थ लंघन, वालुकास्वेद, नस्य, निष्ठीवन, अवलेह तथा अञ्जनों के प्रयोग विहित हैं। अतः इनका यथावश्यक प्रयोग करे।[2] इन प्रयोगों से कफ के क्षीण हो जाने पर तथा आमदोष के पाचनान्तर पित्त और मारुत दोष के शमन करने का उपचार करें।

लंघन—आवश्यकतानुसार तीन रात, पांच रात, अथवा दश रात तक सन्निपात ज्वरी को लंघन कराने की आवश्यकता होती है। इसमें दोषों का (आम तथा कफ का) पाचन होता है और तब तक रोगी की अवस्था औषध प्रयोग योग्य हो जाती है। यहां लंघन शब्द में उपवास तथा लघुभोजन दोनों ही अभिप्रेत हैं। इसका निर्णय दोषों की उल्वणता के अनुसार तथा रोगी के बल के अनुसार चिकित्सक को करनी पड़ती है। ज्वर के वेग को न्यून करने के लिये लंघन के अनन्तर स्वेदन करना भी आवश्यक होता है। स्वेदन भी एक प्रकार का लंघन ही है।[3]

स्वेदन—स्वेदन के बिना सन्निपात ज्वर में संताप की शान्ति प्रायः नहीं होती। कारण स्रोतः शुद्धि के लिये स्वेदन परमावश्यक है। ज्वर में रसवह

---

१ 'हीनाधिकभावत्वेन विषमदोषजे सन्निपाते वर्धनेनैकदोषस्यार्थात् क्षीणस्य क्षीणयोर्वा, उच्छ्रितस्योच्छ्रितयोर्वा क्षपणेन देशकालबलानि मत्वा जयेत्। कथं विषमदोषजे सन्निपाते वर्धनेनैकदोषस्य सन्निपातज्वरस्योपशान्तिस्तस्माद्वर्धनयुक्तम्। अत्राचक्ष्महे सन्निपातस्थेन क्षीणेन दोषेण सताऽक्षीणौ दोषौ ज्वरकारिणौ न तौ सुखेन जेतुं शक्येते विषमाश्रयत्वात्। क्षीणस्य दोषस्य वर्धनेन दोषसाम्यमुत्पाद्यैकत्वकल्पनया क्रियया सन्निपातः सुखेन जेतुं शक्यते। तस्माद् वर्धनेनैकदोषेणेति वक्तुं युक्तम्। तथा च। वाताख्ये यतो दोषे शीतलघुरूक्षादिभिर्द्रव्यैर्वृद्धिर्भवति।' इत्यादि।

(अ. हृ. चि. १-१४६ पर अरुणदत्त)

२ 'लंघनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा।
अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे॥
सन्निपाते ज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्।
पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत्पित्तमारुतौ॥' (भै. र.)

३ 'त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा।
लंघनं सन्निपातेषु कुर्याद्वारोग्यदर्शनात्॥
दोषाणामेव सा शक्तिर्लंघने या सहिष्णुता।
न हि दोषक्षये कश्चित् सहते लंघनादिकम्॥' (आ. त्रि.)

तथा स्वेदवह स्रोतो का अवरोध (सग) होता है। अतः इन स्रोतो के सङ्ग (अवरोध) को नष्ट करने के लिये वाह्य तथा आभ्यन्तर स्वेदन की आवश्यकता होती है। वालुका स्वेद द्वारा वाह्य स्वेदन का तथा स्वेद को उत्पन्न करने वाले औषध द्रव्यो का प्रयोग आभ्यन्तर स्वेदन के लिये परम आवश्यक है। रोगी के वलावल को देखकर यथावश्यक उभय विध स्वेदनो का ज्वर की शान्ति के लिये उपयोग करे।[1]

नस्य—सन्निपात ज्वर से आक्रान्त रोगी प्राय तन्द्रित रहता है तथा वह अर्धचेतन, अर्ध विक्षिप्त भी रहता है जिससे प्रलाप आदि उपद्रव होते हैं। अत.. इस अवस्था से मुक्ति पाने के लिये नस्य का प्रयोग अपेक्षित होता है। चिकित्सक रोगी की अवस्था के अनुसार यथायोग्य नस्य का यथाविधि उपयोग करे।[2]

निष्ठीवन—सन्निपात ज्वर मे कण्ठ, गल तथा जत्रूर्ध्वभाग मे कफ जमा हो जाया करता है जिससे रोगी को श्वासादि क्रिया मे कष्ट होता है। अत इस कफ को निकालने के लिये ऐसे औषध द्रव्यो का प्रयोग जो कफ को ढीला कर वाहर निकाल दे और उक्त स्रोतो को तथा प्राणवह स्रोतो को शुद्ध करे, परम आवश्यक होता है।[3]

अवलेह—कफ की वृद्धि होने पर तथा वायु के कफानुगत हो जाने पर हिक्का तथा श्वास-कष्ट होने लगता है। अत ऐसी अवस्था मे कफहर वातानुलोमन अवलेह का प्रयोग श्रेयस्कर होता है।[4]

अञ्जन—सन्निपात ज्वर मे जव रोगी वेहोश होता है तथा मोह को प्राप्त होता है। तव सज्ञा लाने के लिये तथा मोहनाश के लिये अञ्जन की आवश्यकता होती है।[5]

---

१ 'न स्वेदव्यतिरेकेण सन्निपान. प्रशाम्यति।
तस्मान्मुहुर्मुहु. कार्य स्वेदन सन्निपातिनाम्॥
सन्निपाते जलमयो नराणा विग्रहो भवेत्।
विना वह्न्युपचारेण कस्त शोषयितु क्षम.॥' (अ नि द्वि स)

२. 'नस्य निवारयति शीघ्रमचेतनत्व,
तन्द्रा प्रलाप-सहित शिरसो गुरुत्वम्।
× × ×
दु साधन-सन्निपात प्रवलोऽप्याश्वेव शममेति।' (अ वि वि द्वि स)

३ 'तेनास्य हृदयाच्छ्लेष्मा मन्यापार्श्वशिरोगलात्।
लीनोऽप्याकृष्यते शुष्को लाघव चास्य जायते॥'

४ एषाऽवलेहिका हन्ति सन्निपात सुदारुणम्।
हिक्का श्वास च कासञ्च कण्ठरोग नियच्छति॥'

५ 'अञ्जनाद् वोधयेन्मुग्ध तद्दिन सन्निपातिनाम्॥'

अवधेय—लंघन से उपवास तथा लघुभोजन दोनो का ग्रहण है। स्वेदन कर्म अनग्नि तथा साग्नि दोनो प्रकार का यथावश्यक अपेक्षित है। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो प्रकार के स्वेदो का उपयोग यथावश्यक करना चाहिये। स्वेदन का तात्पर्य शरीर से स्वेद निष्कासन है। अत. इस उभयविध क्रियाओ से पर्याप्त मात्रा मे स्वेद का निर्गमन होना चाहिये।

नस्य के लिये—(१) सैंधव, श्वेत मरीच, सर्षप कुष्ठ, इनका चूर्ण कर बकरी के मूत्र मे पीस लेवे और उसका यथाविधि प्रयोग करे। इसी प्रकार (२) मुलेठी, सैंधव, वचा, मरिच और पिप्पली को सम भाग लेकर पानी मे खूब पीस कर नस्य देने से लाभ होता है। (नस्य के अन्य योगो को परिशिष्ट मे देखे)। **निष्ठीवन** के लिये त्रिकटु तथा सेंधानमक को आर्द्रक स्वरस मे भिगो कर मुख मे रखने से गले तथा कण्ठ मे जमा हुआ कफ का निर्गम होने लगता है। इसे मुख मे बार-बार रखने को देवे और कुछ काल तक रखने के बाद निष्ठीवन करने का आदेश करे। इसके प्रयोग से स्रोतो की शुद्धि होती है। **अवलेह** के लिये—पुष्करमूल, काकडा शृङ्गी, कायफल, त्रिकटु, यवासा, कालाजीरा इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर चूर्णकर ले और इसे मधु मे मिलाकर चाटने (लेहार्थ) को देवे। इससे हिक्का, कास और श्वास कष्ट शान्त होता है। **अञ्जनार्थ**—शिरीषबीज, गोमूत्र, पीपल, मरिच, सेंधानमक और लहसुन इन्हे खूब बारीक पीसकर अञ्जन बना ले और सन्निपातज्वर से पीडित रोगी को सज्ञा बोधनार्थ अञ्जन करे। इसके प्रयोग से रोगी होश मे आ जाता है।[1]

सन्निपात ज्वरो की विशिष्ट चिकित्सा—सन्निपात ज्वरो की विशिष्ट चिकित्सा सन्निपात ज्वर के विशिष्ट प्रकारो के अनुसार तथा उनकी विशिष्ट अवस्थाओ के अनुसार होती है। क्योकि सन्निपात ज्वरो मे दोषो की उल्वणता आदि के अनिश्चित होने से प्राय चिकित्सक मोह मे पड जाते हैं। ऐसी अवस्था

---

१ (क) 'सैन्धव श्वेतमरिच सर्षप कुष्ठमेव च।
वस्तमूत्रेण सपिष्य नस्य तन्द्राविनाशनम्॥'

(ख) 'मधूकसारसिन्धूत्थवचोषणकणा समा.।
श्लक्ष्ण पिष्ट्वाम्भसा नस्य कुर्यात सज्ञाप्रबोधनम्॥'

(ग) 'आर्द्रकस्वरसोपेत सैन्धव सकटुत्रयम्।
आकण्ठ धारयेदास्ये निष्ठीवेच्च पुन पुन॥'

(घ) 'कट्फल पौष्कर शृङ्गी व्योष यासश्च कारवी।
श्लक्ष्णचूर्णीकृत चैतन्मधुना सह लेहयेत्॥'

(ङ) 'शिरीषबीजगोमूत्रकृष्णामरिचसैन्धवै।
अजन स्यात प्रबोधाय सरसोनशिलावचै.॥' (आ वि)

मे कौन सा प्रतिकार कब करना उचित है इसका निर्णय न कर सकने पर रोगी का जीवन संशय मे पड जाता है। अत. कुछ चिकित्सकों का मत है कि सन्निपात से आक्रान्त रोगियो के लक्षणो को देख कर जिस दोष की उल्वणता (वृद्ध) के लक्षण देखे उनके शमन का प्रयत्न करे। परन्तु जीवक ने इस विचार का विरोध किया है और निर्देश किया है कि सर्वप्रथम श्लेष्मा का ही प्रतिकार करना चाहिये। कारण, कफ के निर्हरण हो जाने पर तथा शान्त हो जाने पर सभी स्रोते खुल जाती हैं और स्रोतो के खुल जाने पर प्रतिकार का प्रभाव पूर्णरूपेण होता है।[1]

सन्निपात ज्वर मे जब रोगी अत्यधिक प्रलाप करता हो तथा काँपता हो तो उसे भूलकर भी बृंहण औषध न देवे। ऐसी अवस्था मे तृष्णा तथा दाह से पीडित होने पर भी शीतल जल पीने को न देवे।[2]

यदि रोगी वात पित्तोल्वण हो तो उसका उपचार पुरातन घृत से करें। दारुण सन्निपात भी इस घृत के अभ्यङ्ग से शान्त हो जाता है। इन प्रयोगो से स्वेदोद्गम होने पर भृष्ट कुलत्थ चूर्ण कर प्रयोग करे।[3]

सन्निपात ज्वर में 'दशमूल क्वाथ' का प्रयोग—ह्रस्व तथा वृहत् पञ्चमूलों के औषधो को मिला देने पर दशमूल क्वाथ की औषधियाँ बन जाती हैं। महा या वृहत पञ्चमूल दीपन, तथा कफ वातघ्न होता है। ह्रस्व या लघु पञ्चमूल वात पितघ्न एवं वृष्य होता है। दोनो पञ्चमूलो को सम्मिलित करने

---

१. (क) 'सन्निपाते समुत्पन्ने किमादावभ्युपक्रमेत् ।
एतत्प्रश्नमतश्चोर्ध्वं चिकित्सोपक्रमं शृणु ॥
सम्मोहमत्र भूयिष्ठं भिषजो यान्त्यनिश्चिताः ।
अग्रे मूले च भेषज्यं कुर्वतो घ्नन्ति मानवान् ॥'

(ख) 'यं दोषमुद्बलं पश्येत् सन्निपाते स्वलक्षणैः ।
तस्याग्रे निग्रहं कुर्यादित्यन्ये भिषजो विदु. ॥
वृद्धजीवक ! नैव तु वयं कुर्मश्चिकित्सितम् ।
असम्यग्दर्शिनस्ते तु य एव भिषजो विदु. ॥
श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद्व्याधौ त्रिदोषजे ।
निरस्ते श्लेष्मणि ह्यस्य स्रोत'सूद्घाटितेषु च ॥' (का. क्र विशेष)

२. आ. वि. हि. ख पे ४१, ।

३. 'सन्निपाते प्रकम्पन्तं प्रलपन्तं न बृंहयेत् ।
तृष्णादाहाभिभूतेषु न दद्याच्छीतलं जलम् ॥
वातपित्तोल्वणे चैव घृतं भोज्यं पुरातनम् ।
अभ्यङ्गाच्छमयत्याशु सन्निपातं सुदारुणम् ॥
स्वेदोद्गमे ज्वरे देयश्चूर्णो भृष्टकुलत्थज ।' (आ वि हि ख)

पर निर्मित दशमूल सन्निपात ज्वरहर कहा गया है। विशेषकर ऐसा सन्निपात जिसमे कास, श्वास, तृष्णा तथा पार्श्वशूल हो। कण्ठग्रह तथा हृद्ग्रह को नष्ट करने के लिये इस मे पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप अपेक्षित होता है।[1]

इस उपर्युक्त दशमूल क्वाथ के अतिरिक्त 'चतुर्दशाङ्ग, भूनिम्बादि, अष्टादशाङ्ग, बृहत् कट्फलादि क्वाथो का प्रयोग भी यथा आवश्यक करना चाहिये। (इन क्वाथो का विशेष वर्णन परिशिष्ट मे देखे)।

(१) वातोल्वण सन्निपात ज्वर चिकित्सा—दोष के बलाबल का विचार कर अत्यन्त उष्ण अथवा सुखोष्ण बृहत्पञ्चमूल क्वाथ का प्रयोग करे।[2]

(२) पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर मे परुषकादि तथा चन्दनादि क्वाथ का प्रयोग करे।[3] इस क्वाथ का प्रयोग क्वाथ के शीतल हो जाने पर ही करना चाहिये।

(३) कफोल्वण सन्निपात ज्वर मे बृहत्यादि क्वाथ का प्रयोग श्रेयस्कर है।[4]

(४) इसी प्रकार वात-पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर मे मधु के साथ बृहत्पञ्च-मूल क्वाथ का तथा चातुर्भद्र क्वाथ का प्रयोग प्रशस्त है।[5]

(५) पित्तकफोल्वण सन्निपात ज्वर मे पर्पटादि क्वाथ का प्रयोग करने का विधान है।[6]

(६) वात-कफोल्वण सन्निपातज्वर को शीघ्रकारी होने से आचार्यो ने असाध्य कहा है।[7]

(७) त्रिदोषोल्वण सन्निपात ज्वर मे योगराज क्वाथ देने का विधान।[8]

---

१ (क) '(उभय) दशमूलं हि सन्निपातज्वरापहम्।
कासे श्वासे च तृष्णाया पार्श्वशूले च शस्यते॥
पिप्पलीचूर्णसयुक्त कण्ठहृद्ग्रहनाशनम्।' (आ वि हि स)
(ख) आ वि. हि. रा पे ८१,

२ 'पञ्चमूलीकषायन्तु दद्याद्वातोत्कटे ज्वरे।
भृशोष्ण वा सुखोष्ण वा दृष्ट्वा दोष बलाबलम्॥'

३ (क) भ र,
(ख) भै र (ज्वराधिकारे)

४ 'बृहत्यादिर्गण प्रोक्त सन्निपाते कफोत्तरे।' (भ. र)

५ 'वातपित्त-हर वृष्य कनीय पञ्चमूलकम्।
तत्क्वाथो मधुना हन्ति वातपित्तोल्बण ज्वरम्॥' (भै र)

६ भै र (ज्वराधिकार)

७ 'चिकित्सा नोदिता वैद्यैर्वातश्लेष्मोल्बणे ज्वरे।
शीघ्रकारितया तस्यासा-ध्यत्वस्यैव दर्शनात्॥' (भै र)

८ 'योगराज क्वाथ.' (भै र)

आवस्थिकी चिकित्सा—सन्निपात ज्वर के अन्त मे यदि दारुण कर्णमूल-शोथ हो जाय तो रोगी के बचने की आशा कम रहती है। ऐसी अवस्था मे शीघ्र रक्तावसेचन कर सर्पिष्पान कराने का विधान आचार्यो ने किया है। इस अवस्था मे यथावश्यक प्रदेह, कफपितघ्न नावन (नस्य) तथा कवलग्रह का भी प्रयोग कर रोग को जीतने का आदेश किया है।[1]

आचार्य ने चिकित्सको का ध्यान इस तथ्य पर भी आकृष्ट किया है कि ऐसे अनेक दारुण कष्ट होते है जो साध्य होने पर भी उचित प्रतिकार के अभाव मे अर्थात् यथा समय जो उपचार अपेक्षित है उसके न करने पर वह असाध्य तथा प्राण-घातक सिद्ध होता है।[2] अत चिकित्सक को सदा सतर्क एव सावधान होकर समय पर यथोचित चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। इनका तात्पर्य यह है कि चिकित्सक को कष्टो या व्याधियो के दारुण या भयङ्कर होने पर घबडाना नही चाहिये। उनका उचित प्रतिकार यथासमय करना चाहिये। इसी प्रकार असाध्य रोगो के प्रतिकार म भी उदासीन नही होना चाहिये। क्योकि कभी-कभी दृष्ट अरिष्ट वाले व्याधि भी अच्छे हो जाते है।

सन्निपातज्वर के अन्त मे उत्पन्न होने वाला दारुण कर्णशोथ असाध्य माना गया है परन्तु यदि सावधान होकर शास्त्रविहित क्रियाक्रम का बुद्धिपूर्वक अनुसरण किया जाय तो सफलता प्राप्त होती है। ऐसी दशा मे कर्णमूलशोथ पर कुलथी, कायफल, सोठ, मँगरैला (इनको समभाग लेकर शील पर पीस लेवे और इनका) सुखोष्ण लेप वार-वार करे तो इससे पर्याप्त लाभ होता है। यदि इस के तथा अन्य शोथहर लेपों मे लाभ न दीख पडे तो पाचनार्थ अलसी का उपनाह (पोलटीस) लगावे और पक जाने पर व्रणशोथवत् उपचार करे। यहाँ पर सभी व्रणशोथोक्त विधि का अनुसरण अभीष्ट है।

रक्तावसेचनार्थ जलौका का प्रयोग श्रेयष्कर होता है। सम्प्रति आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा आविष्कृत आयन्टी बायोटिक्स (Antibiotics) पेनेसीलीन (Penecelin) आदि का प्रयोग ऐसी अवस्था मे परम सुलभ तथा सफल पाया गया है। इस का प्रयोग विधि आकर ग्रन्थो से प्राप्त करे।

सन्निपातज्वरो मे जब प्रकुपित वायु कफ को अपने स्थान मे विचलित कर पार्श्व तथा हृदय मे विष्टब्ध होता है तथा पित्त जब कफ को सुखाकर उसे कठोर (खरीभूत) बना देता है तब वह कफ शल्य रूप हो रोगी को कष्ट पहुंचाने लगता है। अत ऐसी अवस्था मे उस कफ को निकालने के लिये

---

१. च चि अ ३-२८७, २८८,

२ (क) च चि अ पर चक्र।

(ख) च सू. अ १८-३७।

तीक्ष्ण औषध द्रव्यो के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय शेष नही रह जाता। अत ऐसी अवस्था मे तीक्ष्ण नस्य, कवलग्रह तथा स्वेद का प्रयोग करना पडता है।[1] इस कार्य के लिये कोष्ण बिजौडे तथा आर्द्रक स्वरस मे तीनो लवणो (सैंधव सामुद्र और विड् लवण) को मिलाकर नस्य तथा कवल-ग्रहण का प्रयोग करे। इसके प्रयोग से श्लेष्मा का भेदन हो जाता है तथा भिन्न श्लेष्मा (कफ) स्वेदन द्वारा स्विन्न होकर शरीर से बाहर निकल जाता है। श्लेष्मा के निर्हरण से तज्जन्य बाधाये दूर हो जाती है। इसी प्रकार अन्य तीक्ष्ण कवलग्रह का भी यथावश्यक प्रयोग करे। सैंधव तथा त्रिकटु मिले हुए आर्द्रक स्वरस का कवलग्रह तब तक करे जब तक कफ का निर्हरण न होजाय।[2]

श्लेष्मोल्बण सन्निपातज्वर में तृष्णा का प्रतिकार—श्लेष्मा से आकृष्यमान्—जिस सन्निपातज्वर से आक्रान्त रोगी का मुख, हृदय, कण्ठ, गला तथा तालु सुखता हो और उसके परिणाम स्वरूप सदा अत्यधिक प्यास लगता हो उन्हे दीपन, कफवातघ्न अथवा त्रिदोषघ्न, पेय द्रव्य का उपयोग तृष्णा शान्ति के लिये यथाविधि करे। इसके प्रयोग से श्लेष्मा का पाक हो जाता है और श्लेष्मा के पाक हो जाने पर वह अपना स्थान छोड देती है। इस प्रकार कफ के अपने स्थान से हट जाने पर वायु की गति का अनुलोमन हो जाता है अर्थात् वायु उचित मार्ग से उचित रूप मे नीचे की ओर गति करने लगती है। कफ तथा वायु के अनुलोमन हो जाने पर पित्त का बल भी अल्प हो जाता है तथा सन्निपात की चिकित्सा सुविधायक हो जाती है क्योकि सन्निपात ज्वर मे कफ का ही अनुबन्ध होता है।[3]

---

१ 'कफो हि वायुना क्षिप्तो विष्टब्ध पार्श्वयोर्यदि।
खरीकृतश्च पित्तेन शल्यवद् बाधते नरम्॥
तस्याशुष्कस्य लीनस्य विलग्नस्य कृशात्मन.।
दु खनिर्हरण कर्त्तुं तीक्ष्णादन्यन्न भेषजम्॥
तस्य तीक्ष्णानि नस्यानि तीक्ष्णाश्च कवलग्रहा.।
स्वेद दिवा जागरण विदध्यात् पार्श्वशूलिन॥' (का क वि)

२ (क) 'मातुलुङ्गार्द्रकरस कोष्ण त्रिलवणान्वितम्।
अन्यद्वा सिद्धविहित तीक्ष्ण नस्य विधापयेत्॥
तेन प्रभिद्यते श्लेष्मा प्रस्विन्नश्च प्रसिच्यते।' (का क वि)
(ख) का. क विशेषकल्पाध्याय,

३ 'श्लेष्मणा कृष्यमाणस्य सतत सन्निपातिन।
तृष्णा भवति शुष्कास्यहृत्कण्ठगलतालुनः॥
तस्य तृष्णाप्रशमन पानीयमुपदेक्ष्यते।
दीपन कफवातघ्न त्रिदोषघ्नमथापि वा॥

सन्निपात ज्वर मे प्यास, पार्श्वशूल और तालुशोथ उत्पन्न हो जाय तो भूलकर भी रोगी को शीतल जल पीने को न देवे। क्योंकि ऐसी अवस्था मे शीतल जल का प्रयोग घातक होता है।[1]

(१) शीताङ्ग सन्निपातज्वर की चिकित्सा—आक की जड, जीरा, सोठ, पीपर, मिरच, नारंगी, कटेरी, सोठ पुष्करमूल इन सब द्रव्यो को समभाग मे लेकर यथाविधि गोमूत्र के साथ क्वाथ बनावे। इस क्वाथ को रोगी के बलाबल का विचार कर उपयुक्त मात्रा मे पिलाने से शीताङ्गज्वरजनित पीडा, मोह, श्वास, कास तथा कफोद्वेग शान्त होता है। शीताङ्ग सन्निपातज्वर मे उद्वर्त्तन का भी विधान है। जैसे—कर्कोटिका (चठेडल) के कन्द का चूर्ण, कुलथी, पीपल, वच, कायफल, कालाजीरा, चिरैता, चित्रक, सुगन्धबाला और हरड इनका यथाविधि उबटन बनाकर लगावे।[2]

(२) तन्द्रिक सन्निपात ज्वर में निम्नलिखित—नस्य तथा अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये :—

(i) छोटी कटेरी, गिलोय, पुष्करमूल, सोठ, हरड, इनका क्वाथ पीने से तथा सोठ, पीपल, मरिच, अगस्त्य के फूल का रस, इनका नस्य बनाकर देने से तन्द्रा का नाश होता है।

(ii) घोडे की लाला (लार), सेंधानमक, कर्पूर, मैनशिल, पीपल और मधु इन सबो को एकत्र पीसकर यथाविधि नेत्रो मे अञ्जन करने से तन्द्रानाश होता है।[3]

तेनास्य पच्यते श्लेष्मा पक्वः स्थानं विमुञ्चति।
कफे विमुक्ते च ततो याति वातोऽनुलोमताम्॥
कफानिलानुलोम्येन पित्तमल्पबलीकृतम्।
सुचिकित्स्यं भवत्यस्य नस्यं त्वनुबलः कफः॥' (का क वि)

१ 'सन्निपातेषु तृष्यन्तं पार्श्वरुक्तालुशोषिणम्।
यः पाययेज्जलं शीतं स मृत्युर्नरविग्रहः॥' (का भ. वि)

२ (क) भास्वन्मूलं जीरकव्योषभार्गी, व्याघ्री शुण्ठी पुष्करं गोजलेन।
सिद्धं मथ्यं शीतगात्रार्त्तिमोहश्वासश्लेष्मोद्रेककासान्निहन्ति॥' (भै र)
(ख) कर्कोटिकाकन्दरजः कुलत्थ-कृष्णावचाकट्फलकृष्णजीरैः।
किराततिक्तानलकट्फलाम्बु-पथ्याभिरुद्वर्त्तनमत्र शस्तम्॥' (भै. र)

३ (क) क्षुद्रामृतापौष्करनागराणि शृतानि पीतानि शिवायुतानि।
शुण्ठीकणाऽगस्तिरसोषणानि नस्येन तन्द्राविजयोल्बणानि॥' (भै र.)
(ख) 'तुरङ्गलालालवणोत्तमेन्दुमनःशिलामागधिकामधूनि।
नियोजितान्यक्षिणि निश्चितं च तन्द्रां च निद्रां च निवारयन्ति॥' (भै. र.)

(३) प्रलापक या प्रलापी सन्निपातज्वर की चिकित्सा—तगरादि काथ के पिलाने से अतिशीघ्र प्रलापक सन्निपातज्वर मे लाभ होता है।[1]

(४) रक्तष्ठीवि सन्निपात की चिकित्सा—इस ज्वर मे 'रोहिषादि क्वाथ' तथा 'पद्मकादि क्वाथ' से अच्छा लाभ होता है। इसके प्रयोग से रक्तष्ठीवन बन्द हो जाता है। इसमे (i) रोहिषतृण, धमासा, अड्सा, पित्तपापडा, फूलप्रियङ्गु तथा कुटकी ये ६ द्रव्य होते है। (ii) दूसरे मे पद्माख, लालचन्दन, पित्तपापडा, नागरमोथा, चमेली के पत्ते, जीवक, सफेदचन्दन, सुगन्धवाला, मुलहठी और नीम की छाल, ये द्रव्य होते हैं। इन दोनो क्वाथो को यथाविधि प्रस्तुत कर रोगी के बलानुसार उपयुक्त मात्रा मे प्रयोग करे।[2]

(५) भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—इसमे अश्वगन्ध, सेधानमक, वच, महुए का सार (सुरा), कालीमिर्च, पीपल, सोठ और लहसुन इन सब द्रव्यो को बकरे के मूत्र मे पीसकर नस्य देने से लाभ होता है।[3]

(६) अभिन्यास सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—इसमे कारव्यादि क्वाथ तथा शृङ्ग्यादि क्वाथ प्रयोग से अच्छा लाभ होता है।

कारव्यादि क्वाथ—कलौंजी, पुष्करमूल, एरण्ड की जड, त्रायमाना, सोठ, गुडूची, दशमूल, कचूर, काकडाशृङ्गी, दुरालभा, भार्गी और पुनर्नवा, इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर षोडशगुण गोमूत्र मे पकावे। चतुर्थांश रहने पर उतार कर स्वाङ्गशीत होने पर पिलावे। (इसमे क्वाथ्य द्रव्य २ तोला, गोमूत्र ३२ तोला शेष ८ तोला रहेगा।

शृङ्ग्यादिक्वाथ—काकडाशृङ्गी, भारङ्गी, हरड, स्याहजीरा, चिरायता, पित्तपापड़ा, देवदारु, वच, कूठ, जवासा, कायफल, सोठ, नागरमोथा, धनिया, कटुकी, इन्द्रजौ, पाठा, रेणुका, गजपीपल, अपामार्ग, पिपरामूल, चित्रक, इन्द्रायन, अमलतास, नीम, कचूर, वाकुची, कायफल, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, अजवायन तथा अजमोद। इन सबो को समान भाग लेकर यथाविधि क्वाथ बनाकर उपयुक्त मात्रा मे प्रयोग करे।[4]

(७) जिह्वक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—इस ज्वर मे किरातादि कवल और क्षुद्रादि तथा विश्वादि क्वाथ के प्रयोग से लाभ होता है।[5]

(८) सन्धिक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—इस ज्वर मे वचादि क्वाथ तथा मुस्तादि क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये।[6]

---

१ 'सतगरवरतिक्ता देवताम्भोदतिक्ता, नलदतुरगगन्धाभारतीहारहूरा।
मलयजदशमूलीशङ्खपुष्पीसुपक्का', प्रलपनमुपहन्यु· पाननो नातिदूरात ॥' (यो र.)

२ भै र अ. ५, ३ भै र. अ. ५, ४ भै र. अ ५।

५ भै र अ ५. ६ भै र अ ५,

(९) अन्तक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—यह असाध्य होता है अत: इसकी चिकित्सा का वर्णन नही है।[1]

(१०) रुग्दाह सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—इसमे षडङ्गपानीय, चन्दन आदि शीतल द्रव्यो का लेप, शीतावगाहन तथा शीतावगुण्ठन से लाभ होता है।[2]

(११) चित्तविभ्रम सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—इस ज्वर मे 'प्रचेतना' वटी के अञ्जन से लाभ देखा गया है।[3]

(१२) कर्णिक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—कर्णमूल-शोथवत् प्रतिकार करने से इसमे लाभ होता है।[4] देखे कर्णमूलिक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा।

(१३) कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर की चिकित्सा— इसमे फल-त्रिकादि क्वाथ के प्रयोग मे लाभ होता है।[5]

काश्यप संहिता के कल्पस्थान—विशेषकल्पाध्याय मे सन्निपातज्वर की चिकित्सा का विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। भार्गव के प्रश्नो का उत्तर देते हुए प्रजापति कश्यप ने सन्निपात ज्वर के भेदो का तथा उनके कारणो का वर्णन किया है। साथ सन्निपात ज्वरकी निरुक्ति को भी सुन्दर रूप मे बतलाया। जैसे—

"सगता नियत यस्मात् पातयन्ति कलेवरम्।
अन्यच्चाशु संनिपतत्यतो वा सन्निपातिता॥"

अर्थात् तीनो दोष मिलकर निश्चित रूप से शरीर को गिरा देते हैं अत इस व्याधि को सन्निपात कहा गया है। अथवा शीघ्र ही शरीर का पात (नाश) करने के कारण इसका नाम सन्निपात है। काश्यप सहिता मे इस ज्वर के पूर्व-रूप का भी वर्णन प्राप्त होता है—जैसे—इस व्याधि के उत्पन्न होने के पहले सहसा इन्द्रियो के विषयो की प्रवृत्ति होती है तथा सहसा मूत्र की प्रवृत्ति होने लगती है और स्वभाव मे भी सहसा परिवर्तन होने लगता है।[6] इसकी भयङ्करता का वर्णन करते हुए कहा है कि—जिस प्रकार अग्नि, वज्र एवं पवन के द्वारा आहत वृक्ष जीवित नही रहता उसी प्रकार वात-पित्त-कफ आदि तीनो दोषो के प्रकुपित हो जाने से व्यक्ति (रोगी) जीवित नही रहता। जिस प्रकार विष,

---

१ भै. र. अ. ५। २ भै. र. अ. ५।
३. भै. र. अ. ७। ४ भै. र. अ. ५। ५ भै. र. अ. ५।
६ 'अकस्मादिन्द्रियोत्पत्तिरकस्मान्मूत्रदर्शनम्।
अकस्माच्छीलविकृतिः सन्निपाताग्रलक्षणम्॥' (का. क. वि)

अग्नि एव शस्त्रो के द्वारा एक साथ आहत हुआ व्यक्ति जीवित नही रहता, उसी प्रकार सन्निपात के द्वारा पीडित हुआ रोगी भी जीवित नही रहता। इत्यादि।[1]

सन्निपात ज्वरो की चिकित्सा मे प्रयोज्य कुछ विशिष्ट योगो का वर्णन—सन्निपात ज्वरो की चिकित्सा के लिये कुछ क्वाथो, नस्यो, अवलेहो, स्वेदन द्रव्यो, तथा अञ्जनो का वर्णन उदाहरण स्वरूप किये गए हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि ये उल्लिखित क्वाथादि ही चिकित्सा की इयत्ता नही। अपितु ये निदर्शनार्थ हैं। कुशल एव बुद्धिमान चिकित्सक इनके आधार पर अन्य अनेक आवश्यक योगो का निर्माण कर सकते है।

कर्णमूलिक शोथ की चिकित्सा—सन्निपात ज्वर के अन्त मे उत्पन्न होने वाले कर्णमूल मे सुदारुण शोथ को असाध्य कहा है। यहा पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कोई भी व्याधि तब तक असाध्य समझी जाती है जब तक उसकी सफल चिकित्सा उपलब्ध नही होती। इस सन्निपात ज्वर मे आचार्यो ने शोथहर प्रदेहो का तथा कफपित्तघ्न नस्यो एव कवलग्रहो के उपयोग का आदेश किया है। इसमे यथावसर रक्तावसेक तथा सर्पिष्पान का भी विधान है।[2] इसमे कुलत्थादि लेप, गैरिकादि लेप, अतस्यादि लेप का प्रयोग करे।[3] इससे यदि शोथ की शान्ति न हो तो पाचन लेप देकर पकाने का प्रयत्न करे। पक जाने पर व्रणशोथवत् पाटन क्रिया करे। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान द्वारा आविष्कृत ऐन्टिबायोटिक्स—पेनसीलीन आदि के प्रयोग से इसमे अच्छा लाभ होता है।

सन्निपात ज्वर मे जब रोगी की जिह्वा अत्यधिक शुष्क हो जाय तथा फट जाय तो उस पर द्राक्षा को पीस कर मधुमिश्रित कर लेप करे। उदुम्बर सार को भी मधुमिश्रित कर लेप करने से लाभ होता है।[4]

सन्निपात ज्वर मे निम्नलिखित विशिष्ट योगो का व्यवहार यथावश्यक करे।

(१) अष्टादशाङ्ग क्वाथ	(२) दार्व्यादि क्वाथ
(३) ग्रन्थ्यादि क्वाथ	(४) अर्कादि क्वाथ
(५) दशमूलाद्य क्वाथ	(६) बृहत्कस्तूरीभैरव

---

१ 'यथाग्निशस्त्रपवनैर्न स्यादभिहतो द्रुम.।
वातपित्तकफैस्तद्वत् क्रुद्धैर्देही न जीवति ॥
विषाग्निशस्त्रैर्युगपद्व जीवन्ति यथा हता.।
सन्निपातार्दितस्तद्वत् जीवन्त्यतपस्विन ॥' (का क वि)

२ च चि. अ ३। ३ आ वि द्वि. स।

४ इसके लिये चौखम्बा प्रकाशन—भैषज्यरत्नावली द्वितीय सस्करण का अनुभूत योग प्रकरण द्रष्टव्य है।

(७) चक्रिका रस
(८) त्रैलोक्यसुन्दर रस
(९) मृतोत्थापन रस
(१०) मृतसंजीवनी रस
(११) सन्निपातभैरव रस
(१२) सूचिकाभरण रस
(१३) चिन्तामणि रस
(१४) रसराजेन्द्र
(१५) प्राणेश्वर रस
(१६) कस्तूरीभूषण रस
(१७) लक्ष्मीविलास रस
(१८) हेमगर्भपोट्टली
(१९) पूर्णचन्द्रोदय रस
(२०) सूतशेखर रस इत्यादि ।

सन्निपात ज्वर मे प्रयोज्य कुछ सिद्ध योगो का यहा नामोल्लेख किया गया है ।,इनका विशिष्ट वर्णन परिशिष्ट मे देखे । इनके अतिरिक्त भी सन्निपात ज्वर मे उत्पन्न होनेवाले उपद्रवो की शान्ति के लिये योगो का वर्णन परिशिष्ट मे दिए गये हैं जैसे—प्रलापान्तक रस, निद्रोदय रस, सज्ञासस्थापक नस्य, दाहान्तक योग, वेदनान्तक वटी इत्यादि ।

ऐसे आधुनिक सज्ञक ज्वर जिनकी गणना अथवा जिनका अन्तर्भाव सन्निपात ज्वर में सभव है :—ये ज्वर इस प्रकार हैं—(१) टाइफायड फीभर (Typhoid fever) (२) पारा टाइफायड फीभर (Paratyphoid fever) (३) न्युमोनिया (Pneumonia) (४) इन्फ्लुयेन्जा (Influenza) (५) सेरेब्रो-स्पाइनल फीभर (Cerebro-spinal fever),

टाइफायड फीभर

इस ज्वर का प्राचीन लाक्षणिक नाम 'मन्थर ज्वर' है । यूनानी चिकित्सको ने इसे 'मोतीझरा मुबारकी' कहा है । महामहोपाध्याय आचार्य गणनाथसेन जी ने इसका नामकरण इसके विकृत्यधिष्ठान के अनुसार 'आन्त्रिक ज्वर' किया है जो आधुनिक सज्ञा एन्टरिक (Enteric fever) के अनुसार है । इस ज्वर मे आँतो मे प्रधानरूपेण विकार उत्पन्न होता है अत' इसकी 'आन्त्रिक' (Enteric) सज्ञा अन्वर्थक है । इस विकार की उत्पत्ति मे तीनो दोषो का प्रकोप होता है अतः त्रिदोषारब्ध होने से इसकी त्रिदोषज या सन्निपात ज्वर मे गणना युक्तियुक्त है । तीनो दोषो के प्रकोप होने से लक्षण भी इस ज्वर मे तीनो दोषो के प्राप्त होते हैं । ये लक्षण तत्तद् दोषो की उल्वणता के अनुसार प्रकट होते है । इस ज्वर मे रोगी की दशा बादल (मेघ) की तरह धूमिल तथा अर्धचेतन रहती है । इसके अतिरिक्त यह मरकरूप (Epedemic) मे उत्पन्न होता है तथा सक्रामक (Contagious) होता है । इस ज्वर से आक्रान्त रोगी के शरीर पर मन्थरी दाने या पिटकायें निकल आती हैं अत. इन उपर्युक्त कारणो से इनकी सज्ञा

'मन्थर ज्वर' या 'टाइफायड' फीभर हुइ ह। इन्ही लक्षणो के कारण इस रोग के जीवाणु का नामकरण भी 'वैसीलस् टाइफोसस्' हुआ है। प्राचीन आचार्यों ने भी शरीर पर मन्थरी दानो के उत्पन्न होने से इसका नाम 'मन्थर ज्वर' रखा है। इन उपर्युक्त वर्णनो के आधार पर ही परवर्ती लेखको ने भी माधवनिदान के परिशिष्ट मे श्लोकवद्ध इसका वर्णन किया है।[1]

इसके जीवाणु आकृति मे 'दण्डाकार' आंतो के प्रकृत निवासी 'अन्त्र दण्डाणु' (Bacillus coli) के सदृश होते हैं। ये परम गतिशील जीवाणु हैं। चूंकि ग्राम महोदय की विधि से रञ्जित कर अलकोहल से धोने पर अपना रङ्ग छोड देते हैं अतः इन्हे ग्राम नीगेटिभ जीवाणु भी कहा गया है।

मन्थर ज्वर के कारण—सामान्यरूपेण ऐसे पुरुषो को जो अत्यधिक मार्ग चलने से क्लान्त हो गए हो अथवा अधिक उपवास करने के कारण कृश हो गए हो अथवा अस्वस्थ वातावरण एवं दुर्गन्धपूर्ण स्थानो मे निवास करते हो, इस रोग से आक्रान्त पुरुषो के मल-मूत्रादि से दूषित भक्त या पेय पदार्थों का सेवन करने पर यह भयङ्कर व्याधि उत्पन्न होती है। यह व्याधि सामान्यरूपेण सभी ऋतुओं मे उक्त कारणों से हो सकती है परन्तु विशेष रूप मे ग्रीष्म, वर्षा, तथा शरद ऋतु मे इसकी संभावना अधिक रहती है। आधुनिक खोज के अनुसार 'वैसिलस टाइफोसस्' नाम का दण्डाकार जीवाणु के सक्रमण से इस व्याधि की उत्पत्ति होती है।[1] भक्ष्य, पेय, मक्षिका, गन्दगी तथा अङ्गुलिया, ये पाँच इस रोग के उपर्युक्त जीवाणु के परिवाहक होते हैं।[2]

सम्प्राप्ति—इन उपर्युक्त कारणो तथा माध्यमो से जब इस रोग के जीवाणु शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं तब सर्वप्रथम क्षुद्रान्त्र की भित्तियो मे स्थित पायर ग्रन्थियो को आक्रान्त कर शोथयुक्त कर देते हैं तथा तदनन्तर क्रमश रस-रक्त स्रोतो मे प्रवेश कर अपने विष से उनको तथा उनमे वहने वाले रस-रक्त को दूषित कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। पश्चात् शनै. शनै. क्षुद्रान्त्र के

---

१. सि नि. प्र. भा,। (क) यो र.।

२. 'अध्वोपवासक्लिष्टाना दुर्गन्धाभ्यर्णवासिनाम्।
प्रायो मलादिससृष्टभक्ष्यपानोपयोगत.॥
सर्वेष्वृतुषु भूम्ना तु ग्रीष्मे शरदि वार्षिके।
आन्त्रिकाख्यो ज्वरः कृच्छ्रो दृश्यते घोरलक्षण.॥
तस्य जीवाणव. केचिन्मलमूत्रादिसम्भवाः।
विशिष्टं तु निदान स्युः·····················॥' (सि नि.)

अन्तिम प्रदेशो को क्षतयुक्त कर देते है।[1] प्रतिकार के अभाव मे उक्त शोथ तथा क्षत वढ कर आँतो को छेदकर पार कर जाता है जिससे उदरस्थ कला मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह अवस्था अन्त्रक्षत या व्रण की (Perforation) हो जाती है जिस अवस्था मे शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है तथा जो प्रायः असाध्य हो जाता है। इस रीति से क्षत के वढ जाने पर मल मे अर्थात् पुरीष-त्याग के साथ रक्तस्राव होने लगता है जो उक्त असाध्यावस्था का सूचक होता है। दोषो को आँतो तक, स्रोतों एवं स्रोतोगत धानुओ तक पहुंचाने वाला वात; ज्वर, दाह, क्षत तथा रक्तस्राव उत्पन्न करने वाला पित्त; तथा आँतो मे शोथ उत्पन्न करने वाला कफ दोष होता है। इस प्रकार यह व्याधि त्रिदोषज होती है।[2]

संक्रमण विधि तथा संक्रान्त अवयवो मे उत्पन्न विकृतियां—

यहाँ इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है कि यह विकार मानव मे ही दृष्टिगोचर होता है। इस रोग के उत्पादक तीन प्रकार के जीवाणुओ का उपसर्ग देखा गया है। जैसे—(i) एब्रेथेला टायफी (Ebrathela typhi), (ii) साल्मोनेला टायफी (Salmonela typhi) और (iii) साल्मोनेला स्कौट मुयेलेरी (S. Scott muelleri) आन्त्रिक ज्वर का उपसर्ग प्रायः दूषित जल मे ही होता है। अनेक प्रकार की सावधानी के रखने पर भी जल तथा अन्य पेय एवं भोज्य पदार्थों का इस रोग के जीवाणुओ से संक्रान्त होना संभव ही रहता है।[3]

व्याधिवश तथा अधिक जल के प्रयोग से जब आमाशयिक अम्लद्रव न्यून अथवा अल्प वीर्य हो गया होता है तथा उपर्युक्त एब्रेथेला टायफी नामक जीवाणु किसी माध्यम से महास्रोत मे प्रवेश कर आमाशय से सचरण करता हुआ क्षुद्रान्त्रो मे पहुँचता है तव वह अपना प्रभाव स्थानीय पायर्स ग्रन्थिओ तथा लसग्रन्थियो पर उत्पन्न करता है। सर्वप्रथम यह जीवाणु स्थानीय क्षारमाध्यम मे वृद्धि को प्राप्त होता है तथा क्षुद्रान्त्र के लसग्रन्थियो एवं पायर्स ग्रन्थियो मे प्रविष्ट हो उन्हे आक्रान्त करता है। इन स्थानों पर अनुकूल परिस्थिति होने से

---

१. '× × अथान्त्राश्रयिणश्च ते।
रसं रक्तं च दोषाश्च कोपयन्त्यचिरादपि।
क्षिण्वन्ति चान्तिम भाग क्षुद्रान्त्राणा शनैः शनैः॥ (सि नि)

२. 'क्षिण्वन्ति चान्तिमं भागं क्षुद्रान्त्राणा शनैः शनैः।
ततोऽन्त्रक्षतसंवृद्धौ क्वचिद् रक्तस्य निःस्रवः॥
भिन्नान्त्रनाभवाऽसाध्येत्येप वैकृतनिश्चयः॥' (सि. नि)

३. Text book of Pathology and bactriology by Dr. Benerge.

ये जीवाणु पनपते (अर्थात् अनेक सख्याओ मे उत्पन्न होते) हैं। अर्थात् इन स्थानो मे क्षारीय माध्यम होने से वृद्धि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इनके सक्रमण का मुख्य मार्ग महास्रोतस (Alimentary chanal) तथा प्राथमिक स्थान या अधिष्ठान प्रायः लघ्वन्त्र या क्षुद्रान्त्र के लसिका तन्तु आदि होते हैं। परन्तु इनका प्रसार उदरावरणीस्थ ग्रन्थियो तथा प्लीहा तक भी होता है। यह अवस्था आयुर्वेद-वाङ्मय के अनुसार सचय से प्रसरावस्था तक की है। इसको आधुनिक चिकित्सा-विज्ञ इन्क्युबेशन पिरीयड' (Incubation period) कहते हैं। इस काल मे ज्वर के अव्यक्त लक्षण अङ्गमर्द, शिर शूल प्रभृति दृष्टि-गोचर होते हैं। पुन' ये जीवाणु प्लीहा तथा लसवह-प्रणालियो से रस-प्रपा द्वारा सामान्य रक्तानुधावन मे चले जाते है और सभी अवयवो मे प्रवाहित होते हुए अन्त मे अर्थात् द्वितीय तथा तृतीय सप्ताह मे मूत्र द्वारा बहिर्निष्कासित होते हैं। इस अवधि मे इनमे मे अनेक मर जाते हैं तथा विषोत्सर्जित करने लगते हैं जो शरीर मे सतापोत्पत्ति का कारण होता है। द्वितीय सप्ताह मे ये जीवाणु यकृद् द्वारा पित्ताशय मे पहुँच जाते है और वहाँ से पुन' आँतो मे प्रवेश करते हैं। अधिकसंख्यक जीवाणु रक्तानुधावन मे नष्ट हो जाते हैं तथा अपने विष को उत्सर्जित करते हैं जिसका परिणाम वक्ष्यमाण लक्षण होते हैं। उपर्युक्त प्रसार का प्रमाण यह है कि इस काल मे रक्त-परीक्षण से शत-प्रतिशत इन जीवाणुओ का (E typhi) रक्त मे दर्शन होता है। बाद मे तो रोगी के मल तथा मूत्र मे भी इनका दर्शन परीक्षण से (अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा) होने लगता है।

विषवमन—इस जीवाणु द्वारा उत्सर्जित (वमित) विष का प्रभाव प्रधानत. अन्त.कोषीया (Intracellular) होता है और आँतो पर बिना क्षत उत्पन्न किए हुए भी ये रक्त-विषमयता (Septicemia) उत्पन्न कर देते है। इस टाइफायड ज्वर मे विशेषरूपेण विकृति आँतो के लसतन्तुओ (Lymp tissues) मे तथा उदरावरणीस्थित ग्रन्थियो (mesentric glads) मे दृष्टिगोचर होती है। आँतो मे भी क्षुद्रान्त्र का अध'प्रदेश विशेष रूप से आक्रान्त होता है। सर्वप्रथम आक्रान्त स्थान पर रक्तसचयाधिक्य (Stage of hyperaemia) होता है। तत्पश्चात् स्थानीय लसग्रन्थिया (Lymphatic glands) शोथयुक्त हो जाती हैं (Swelling of glands)। प्रतिकार के अभाव मे सक्रमण के बलाबल के अनुसार आक्रान्त स्थान की तन्तुओ की मृत्यु हो जाती है (Stage of necrosis)। इस अवस्था मे जब मृत तन्तुएँ पृथक् होने लगती हैं तब कभी-कभी आँतो से भयङ्कर साघातिक रक्तस्राव होने लगता है। यह अवस्था प्रायः द्वितीय और चतुर्थ सप्ताह के अभ्यन्तर देखी जाती है।

जब क्षत या व्रण गम्भीर होता है तब उसका प्रसार उदरावरणी तक होकर उदरावरण-शोथ (Peritonitis) अथवा उदरावरण-व्रण (Perforation) उत्पन्न होता है। यह अवस्था प्राय: तीसरे सप्ताह मे होती है। यह व्रण भाव प्रायः आँत के (क्षुद्रान्त्र के) आधे भाग मे (one foot of the illium) देखा जाता है। यदि प्रकृति रक्षिणी या क्षमता सबला रही तो उपर्युक्त अवस्था के निरापद् व्यतीत हो जाने पर आन्त्रस्थ श्लेष्मल कलाएँ (mucous membrane) पुनर्जीवित हो जाती है और रोगमुक्ति के पश्चात् आँतो की परीक्षा करने पर उनमे किसी प्रकार की ऐसी विकृति का चिह्न भी अवशेष नही दृष्टिगोचर होता। इस अवस्था को 'रोपण की अवस्था' (Stage of healing) कहा गया है।

लक्षण—'मन्थर ज्वर' के लक्षणो को तीन विभागो मे विभक्त कर समझा जा सकता है जैसे—(i) व्यापी लक्षण, (ii) आन्त्र-सम्बन्धी लक्षण और (iii) रक्तनिर्मापक संस्थान सम्बन्धी लक्षण।[1]

व्यापी लक्षण—इनमे प्रमुख रूप से ज्वर, शिर शूल, सदन (malaise), मन्दता, दीनता, तन्द्रा, आदि होते हैं। तन्द्रा के कारण रोगी अर्धनिद्रित वा अर्धचेतन अवस्था मे पडा रहता है तथा उसकी मानसिक क्रियाये भी बादल (मेघ) के समान धूमिल (धुँधली) या अभ्रिल हो जाती हैं। ग्रीक भाषा के टाइफस (Typhus) शब्द, जिसका अर्थ बादल या मेघ होता है तथा 'वायड' (oid) शब्द, जिसका अर्थ सदृश होता है, के योग से 'टाइफायड' (Typhoid) पद बनता है। इस रोग से आक्रान्त रोगी धूमिल या अभ्रिल, अथवा अर्धचेतन तथा तन्द्रिल अवस्था मे पडा रहता है। अतः इस रोग का नाम 'टाइफायड फीभर' हुआ है। 'मन्थर' शब्द से भी यही भाव अभिव्यक्त होता है। 'मन्थर' शब्द का अर्थ मन्द या मन्दता होता है। इस रोग से आक्रान्त रोगी की चेष्टा आदि सभी मन्द पड जाते हैं। जीवाणुओ द्वारा रक्त मे उत्सर्जित विष के कारण ही ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन विषो के प्रभाव से ही उदरपृष्ठ पर लाल या गुलाबी दाने निकलने लगते है। भारतवर्ष मे इन दानो का रङ्ग मोती के दानो जैसे दीख पडता है, अत. इसको 'मोतीझरा' ज्वर भी कहते हैं।[1]

पूर्वरूपावस्था मे शिरःशूल, अरुचि, तमःप्रवेश, कोष्ठबद्धता, अरति आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। किसी-किसी रोगी मे श्वासप्रणालियो मे शोथ तथा नासा से रक्तस्राव के लक्षण भी उपलब्ध होते हैं।[2]

---

१. विकृति विज्ञान—प. ब्रह्मदत्त शर्मा।

२ (क) 'पूर्वरूप तु तस्येद शिरोरुगरुचिस्तम.।
अरतिर्विड्विबन्धश्च स्यात्सप्ताहं स्फुटास्फुटम् ॥' (मा. नि. परि.)

अन्त्र सम्बन्धी लक्षणें—प्रधान लक्षण इसमे कोष्ठबद्धता होती है। प्रारम्भ मे तो कोष्ठबद्धतामात्र रहती है परन्तु पीछे मल की गाँठें बन जाती हैं जिससे बडी कठिनाई से तीसरे-चौथे दिन मल नि सरण होता है। कभी-कभी एतदर्थ ग्लीसरीन की पिचकारी भी देने की आवश्यकता पडती है।

कभी-कभी इस विबन्ध के कारण जब मल सड जाता है तब मलभेद उत्पन्न होकर अतिसार के लक्षण होने लगते हैं। किसी-किसी रोगी मे प्रारम्भ से ही अतिसार के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। मलसम्बन्धी विकार इस रोग से आक्रान्त पुरुषो मे प्राय प्रारम्भ से अन्त तक बना रहता है। आध्मान, आटोप, आदि उदरविकार भी सदा दृष्टिगोचर होते हैं।

रक्तनिर्मापक-संस्थान सम्बन्धी विकार—इसमे प्रधान विकार 'प्लीहाभिवृद्धि' है। इसके तथा विषम ज्वर के अभिवृद्ध प्लीहा मे यह अन्तर होता है कि इसकी प्लीहा (वृद्ध) स्पर्शाक्षम (Tender) होती है परन्तु विषम ज्वर मे अभिवृद्ध प्लीहा स्पर्शाक्षम नही होती। कभी-कभी स्पर्शाक्षम यकृद्वृद्धि भी देखी जाती है। इसके अतिरिक्त इस ज्वर मे श्वेताणुन्यूनता (Lucopenea) भी होती है। इस विकार मे बहुन्यष्ठिक एव उपसि रञ्ज्य (Poly morpho nuclear and esinophil) श्वेताणु लुप्त हो जाते हैं।

इस ज्वर मे आठवे दिन पूर्वोक्त पूर्वरूप व्यक्त हो लक्षण का रूप धारण कर लेता है अर्थात् इस रोग के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस समय रोगी के ज्वर का तापमान १०४ या १०५ डीग्री (फा०) तक होने लगता है। प्लीहा भी स्पर्शापलभ्य हो जाती है तथा जघा, ग्रीवा और उदर भाग मे मोती के समान दाने निकल आते है। पुन ये दाने विलीन भी हो जाते हैं। यूरोप देशवासियो मे इन दोनो का रङ्ग गुलाबी होता है।

पाच दिन के पश्चात् तथा कभी-कभी विलम्ब से चना या मूग के यूप के समान द्रवमलातिवर्तन भी प्रारम्भ हो जाता है। जिह्वा मैली, रूक्ष तथा रक्त-वर्ण के अङ्कुरो से व्याप्त दीख पड़ती है। कभी-कभी जिह्वा परुषा तथा स्फुटिता भी हो जाती है। उदर आध्मान युक्त होता है। यह दशा ज्वर होने के प्रथम सप्ताह मे रहती है। द्वितीय सप्ताह मे ज्वर का तापमान पूर्वोक्त सीमा पर तो बना ही रहता है किन्तु रोगी को प्रलाप, तन्द्रा, कास, प्रमोह, आक्षेप, दौर्बल्य, मुखशोष, तथा अरति विशेष रूप मे होते हैं। जिह्वा का किनारा रक्तवर्ण का तथा मध्यभागमे मैली तथा कर्कश एव फटी हुई दीख पडती है। नेत्र स्तब्ध तथा

(ख) 'शिरोरुगरुचिः सादो विड्विबन्धोऽरतिस्तम. ।
स्फुटास्फुटं पूर्वलिङ्ग प्रायः स्यादान्त्रिके ज्वरे ॥' (सि. नि.)

तेजहीन हो जाते हैं। ज्वर का तापमान अत्यधिक रहने पर भी नाडी की गति अपेक्षाकृत न्यून रहती है। इस प्रकार सन्निपात के सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। तृतीय तथा चतुर्थ सप्ताह मे दोपपाकानन्तर ज्वर के वेग तथा उपद्रव क्रमश: शनै. शनैः न्यून होने लगते हैं। कभी-कभी ज्वरमोक्ष तथा उपद्रव शान्त होने मे इससे अधिक समय भी लग जाता है।'

असाध्य लक्षण—आन्त्रिक ज्वर मे जब रक्त मे इसके जीवाणु अत्यधिक विप का उत्सर्जन करते हैं तथा इस उत्सर्जित विष के कारण रक्त मे विषमयता (Toxemia) उत्पन्न हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप जब तापमान (ज्वर का) १०५ डीग्री (फायरन हीट) से न्यून नही होता तथा उससे भी अधिक तापमान होने लगता है और यह तापमान अधिक काल तक रहने लगता है तब रोगी की अवस्था चिन्तनीय हो जाती है। अत्यधिक तथा उग्ररूप का अतिसार, रक्तातिसरण तथा अत्यधिक प्रलाप या अवसन्नता होने पर रोगी अचिकित्स्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त आँतो मे उत्पन्न क्षत जब व्रणभाव को प्राप्त हो (Perforation) आँतो को छेद कर उदरावरणी कला मे शोथ उत्पन्न (Peritonitis) कर देता है तब भी यह रोग असाध्य की कोटि मे चला जाता है। उचित प्रतिकार के अभाव मे तथा कुपथ्य-सेवा से अन्त्रगत क्षय या यक्ष्मा हो जाने पर भी यह रोग असाध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब अन्य रोगो का उपसर्ग हो जाता है और जब फुफ्फुस आदि प्राणायतन दूपित हो जाते हैं तब भी यह रोग असाध्य हो जाता है।[2]

---

१. (क) 'तदेव सज्वरं रूपमष्टाहेन स्फुटीभवेत्।
ज्वरश्च वर्द्धते नित्यं क्रमारोहेण लक्षित॥
प्रायशो दृश्यते किञ्चित् प्राङ्घश्चाप्यभिमर्द्दनम्।
कश्चिच्च सम्भवत्यौ गात्रेष्वारक्तलक्ष्मगाम्॥
पक्षाहात् परत. प्राय. कश्चिन्नेव चिरेण वा।
चणमुद्गादियूपाभ साऽमानमतिसार्यते॥
अथ द्वितीये सप्ताहे प्रवृद्धस्तिष्ठति ज्वरः।
तदा स्युररनिस्तन्द्रा मुखशोप प्रमीलक॥
कासः प्रलापो दौर्बल्यमाध्मानञ्च विक्षेपन॥
जिह्वा च रक्तपर्यन्ता कर्कशा स्फुटितोपमा॥
सन्तापोऽप्यधिकश्चापि धमनी नातिचञ्चला।
सान्निपातिकलिङ्गानामन्येषाञ्चापि सम्भव.॥' (इत्यादि सि नि)

(ख) योगरत्नाकर।

(ग) Clinical medecine by shavil.

२ 'यदा कुपथ्याचरणैरतस्य ज्वरार्दितस्यान्त्रगतो हि यक्ष्मा।

यहा इस तथ्य पर ध्यान रखना परम आवश्यक है कि असाध्य शब्द सापेक्ष्य है।

प्रतिकार—सन्निपात ज्वर की सामान्य चिकित्सा-विधि का अनुसरण इसमे भी करना चाहिये। 'आयन्टि वायोटिक्स के आविष्कार के पूर्वकाल तक आधुनिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा-क्रम मे कोई भेद न था। दोनो ही उस ज्वर से आक्रान्त रोगी को सर्वप्रथम दोपपाचनार्थ लघन का आदेश करते थे। यहा लघन से लघु भोजन तथा उपवास दोनो का ग्रहण है। आधुनिक चिकित्सक भी किसी प्रकार के दुर्जर तथा ठोस एव गुरु पदार्थो (भोज्य द्रव्यो) का निषेध करते थे। तरुण ज्वर की पूर्वोक्त विधि इसमे भी लागू होती है। त्रिकृतिविषम-समवायारब्ध होने से लक्षणो के आधार पर दोषो के हीन, मध्य तथा आधिक्य का तथा वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम का विचार इसमे भी आवश्यक है। ज्वर के उग्र तथा तीव्र वेग काल मे सर्वप्रथम पित्त का शमन करना, पश्चात् कफ तथा वायु का प्रतिकार इसमे भी अभीष्ट है। सामान्य दशा मे कफानुपूर्वी अर्थात् कफ और आम दोष का पाचन कर पुन. पित्त और वात का उपक्रम श्रेयस्कर है।

वात के लक्षणो की उल्वणता रहने पर सर्वप्रथम लघु भोजन स्निग्ध तथा मधुर गुणविशिष्ट फलो का रस तथा लाजपेया आदि का प्रयोग अभीष्ट है। इसमे उपवास अभीष्ट नही, क्योकि वात क्षणभर भी लघन (उपवास) सहन नही करता। वातोल्वण आन्त्रिक ज्वर मे कोष्ठवद्धता, अङ्गरुक् तथा प्रलापादि लक्षण अधिक होते है। ज्वर का वेग विषम पर अविसर्गी होता है। अत कोष्ठ-शुद्धि के लिये स्रसन (सर) द्रव्यो का प्रयोग रोग तथा रोगी के वल को देखकर करना चाहिये। एतदर्थ द्राक्षा, अञ्जीर, आरग्वध आदि का कषाय यथावश्यक प्रयोग कर सकते हैं। वाह्य प्रयोग से अर्थात् निरूह बस्ति के प्रयोग से जैसे ग्लीसरीन का पिचकारी से गुदामार्ग द्वारा प्रवेश करना, कोष्ठशुद्धि के लिये निरापद है। इस रोग मे भूल से भी रेचन औषध का प्रयोग नही करना चाहिये। विष्टम्भ के अधिक होने पर उदर प्रदेश को सेकना (तारपीन के तेल और उष्ण जल से—Turpentine stoup) अच्छा है। 'खूबकला' फाण्ट का प्रयोग इसमे लाभप्रद होता है। 'देवदार्व्यादि अर्क' तथा 'षडङ्गपानीय', का प्रयोग तृषा एव ज्वर की शान्ति के लिए करना चाहिये। इसके अतिरिक्त ज्वर-सताप

भवेत्तदा तेन च फुफ्फुसद्वय ध्रुव समाक्रान्तमपि प्रदृश्यत ॥
तथा प्रजातैरितरैरुपद्रवैर्युतोऽयमान्त्रक्षयनामभाग्भवन् ।
असाध्यता प्राप्य तदा तु याप्यता लभेत रोगी बहुयत्नतः क्वचित् ॥' इत्यादि।
(मा. नि. परिशिष्ट)

को कम करने के लिये आचार्य यादव जी द्वारा निर्दिष्ट औषध 'गोदन्ती मिश्रण' का प्रयोग श्रेयस्कर एव निरापद है। इससे ज्वर का ताप न्यून हो जाता है। प्रलाप आदि के अधिक होने पर 'बृ० कस्तूरी भैरव' का प्रयोग श्रेयस्कर है। रोगी की आन्त्र की दशा को ठीक रखने के लिये 'रससिन्दूर' तथा 'मकरध्वज' का प्रयोग भी आवश्यक होता है। इसके प्रयोग से हृदय की दशा भी अच्छी रहती है।

इन औषधो से भी अधिक लाभ रोगी को पूर्ण विश्राम से तथा उपयुक्त पथ्य व्यवस्था एवं समुचित शुश्रूषा से होता है। अत परिचारक को चाहिये कि सावधानीपूर्वक रोगी की परिचर्या करे और उसे पूर्ण विश्राम देवे। पित्तोल्वण आन्त्रिक ज्वर मे ज्वर का वेग अत्युग्र होता है। अत तापाधिक्यवश सर्वाङ्गदाह तथा तृषा आदि पित्त के लक्षण अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। विड्भेद (अतिसार) भी प्रारम्भ मे ही दृष्टिगोचर होने लगता है। अत सर्वप्रथम इसमे पित्तहर द्रव्यों के प्रयोग से (बाह्य तथा आभ्यन्तर उपचार से) ताप की तीव्रता को न्यून करने का प्रयास करना चाहिये। आँतो मे उत्पन्न प्रदाह को शान्त करने के लिये शीत, तिक्त तथा मधुर गुण विशिष्ट द्रव्यो का उपयोग होना चाहिये। 'किराताद्यर्क', तथा 'मुस्तादि क्वाथ' से अच्छा लाभ होता है। 'चन्दनादि क्वाथ' भी इसमे अच्छा लाभ करता है। पूर्वोक्त 'गोदन्तीमिश्रण' का प्रयोग ज्वर शान्ति के लिये इसमें भी करना चाहिये। तृष्णा के लिये 'षडङ्गपानीय' का व्यवहार श्रेयस्कर है। अतिसार अधिक उग्ररूप मे हो तो 'आनन्दभैरव' तथा 'सिद्ध प्राणेश्वर' के व्यवहार से अच्छा लाभ होता है। पित्तदोष की शान्ति के लिये 'सूतशेखर' के प्रयोग से अच्छा लाभ देखा गया है। इससे पित्त की उग्रता नष्ट हो जाती है। यह पित्तोत्पत्ति का नियमन करता है। यह हृद्य तथा सग्राही होने से पित्तोल्वण आन्त्रिक ज्वर (मन्थर ज्वर) मे लाभ करता है। इससे दाह की भी शान्ति होती है तथा ज्वर का सताप न्यून हो जाता है।

'मधुरान्तक' वटी के प्रयोग से भी इसमे लाभ होता है। यह औषध मन्थर ज्वर के (मधुरा) विष को निकालने के लिये परम उपयोगी है।

कफोल्वण आन्त्रिक ज्वर मे सर्वप्रथम रोगी को लघन करावे। लघन (उपवास) इसमे परम आवश्यक है। इसमे अपेक्षाकृत ज्वर का ताप मन्द रहता है तथा रोगी शरीरगौरव अरुचि तथा तन्द्रा आदि लक्षणो से अधिक पीडित रहता है। इसमे आम दोष के सर्वाधिक लक्षण होते हैं। अत तिक्त कषाय तथा कटु रस विशिष्ट ज्वरहर द्रव्यो से इसकी चिकित्सा करनी चाहिये। इसमे उपर्युक्त 'मधुरान्तक वटी' परमोपयोगी है। 'लक्ष्मीनारायण रस के साथ

इसका प्रयोग करने पर इसमे सत्वर लाभ होता है। 'कस्तूरी भैरव' का प्रयोग भी इसमे लाभप्रद होता है। 'लक्ष्मीविलास' रस के प्रयोग से हृदय को बल प्राप्त होता है। यह आन्त्र मे उत्पन्न दोषो को भी शान्त करता है। द्वितीय तथा तृतीय सप्ताह मे उत्पन्न शुष्क एवं त्रासदायक कास के वेग को यह शान्त करता है।

आधुनिक चिकित्सक इस रोग मे सम्प्रति 'क्लोरोमायेमेटीन' का सफलता-पूर्वक प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से ज्वर ७२ घण्टे के अन्दर अपने प्रकृत ताप पर प्रायः आ जाता है। परन्तु इसके प्रयोग मे अनेक सावधानी की आवश्यकता होती है। (देखे परिशिष्ट)।

सेवील ने इसमे पञ्चसूत्री चिकित्सा का निर्देश किया है जैसे (१) रोगी की शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करे तथा तीसरे या चौथे सप्ताह मे सभावित रक्तस्राव या अन्त्रच्छिद्र (Perforation) को सतर्क शुश्रूषा से रोकने का प्रयत्न करे। (२) पथ्य की सुव्यवस्था तथा उदर मे वायु सचय न होने देने (आटोप न होने देने) की व्यवस्था करे। (३) ऐसे औषधो का प्रयोग करे जो रोगी को बल देने वाला हो और अतिसार तथा विष्टम्भ को दूर करने वाला हो। (४) सीरम चिकित्सा (Serum therapy) की व्यवस्था करे। (५) शुश्रूषा तथा परिचर्या की समुचित व्यवस्था। प्रथम कार्य सम्पादनार्थ रोगी को सुव्यवस्थित मृदु गद्देदार शय्या पर पूर्ण विश्रामपूर्वक सुरक्षित सोलावे। प्राय ६ सप्ताह तक रोगी को शय्या पर सुलाये रखने की आवश्यकता होती है। तीसरे तथा चौथे सप्ताह मे जब रक्तस्राव का या आन्त्रच्छिद्र होने का भय रहता है उस समय रोगी को किसी प्रकार के श्रम से अर्थात् उठने-बैठने या सहसा स्वत. करवट बदलने मे भी सुरक्षा रखे। शय्या व्रण से भी बचाये रखने का प्रयत्न रखे। मुख की शुद्धि पर भी सदा ध्यान रखें। दूसरे कार्य के सम्पादनार्थ सुजर सुपुष्ट एव बलदायक द्रव आहार देने की व्यवस्था करे। एतदर्थ दुग्ध का देना परम श्रेयस्कर है। फलरस तथा कागजी निम्बू का रस जल मे ग्लुकोज मिलाकर देवे। अनेक प्रकार सुपच आहार सस्कृत कर (Predigested) उपलब्ध होता है उन्हे देवे। (३) क्लोरोमायेसीटीन का तथा अन्य रसौषधो का (Chemotherapy) यथायोग्य व्यवहार करे। यदि कोष्ठबद्धता हो तो ग्लीसरीन की पिचकारी देवे। हृदय को बल देने वाली औषधो का व्यवहार करे। (४) फेलिक्स द्वारा आविष्कृत सीरम का यथाविधि उपयोग करे। (५) परिचर्या तथा शुश्रूषा की सुव्यवस्थायुक्त आतुरालय मे रखे।

पारा टाइफायड ज्वर

(Para-typhoid fever)

यह भी पाराटायफोसस नामक जीवाणु (B Paratyphosus) ए वी या सी के सक्रमण से उत्पन्न होने वाला ज्वर है। ए जाति की पाराटायफोसस् जीवाणु का सक्रमण सामान्यरूपेण फ्रास, इटली, वालकन प्रदेश, सोभीयेट रूस और उष्ण कटिवन्धो मे देखा जाता है। पारा टाइफायड बी का सक्रमण अव इस देश मे भी दृष्टिगोचर होने लगा है। पाराटायफायड सी, जो अत्यल्प होता है उसका प्रसार मध्य-पूर्वी देशो तथा मेडीट्रेनियन देश मे देखा गया है। पारा-टाइफायड ए, और वी का सक्रमण इतना प्रचलित हो गया है कि उसके लिये टाइफायड के समान ही प्रतिषेधक चिकित्सा की आवश्यकता पडती है। वीडाल परीक्षा तथा रक्त की कल्चर से इसका पार्थक्य टाइफायड से हो जाता है। लक्षणो से इसका पार्थक्य कठिन होता है। कारण दोनो के लक्षण प्राय. एक समान होते है। फिर भी पारा टाइफायड के संक्रमण से उत्पन्न ज्वर के लक्षण अपेक्षाकृत मृदु और अल्प होते है और इसकी अवधि भी अपेक्षाकृत न्यून होती है। इसमे ज्वर का सताप प्राय दूसरे तथा तीसरे सप्ताह मे प्रकृत ताप पर आ जाता है। यह भी देखा गया है कि पारा टाइफायड के सक्रमण से उत्पन्न ज्वर मे शरीर के मध्य भाग मे पिडकाये निकलती हैं और अपेक्षाकृत वे स्पष्ट होती है। इसमे औपद्रविक लक्षण अपेक्षाकृत अल्प तथा मृदु होते है। इतना होने पर भी इसकी चिकित्सा मे सावधान होना परम आवश्यक है। इसके निदान तथा चिकित्सा मे सदा सतर्क रहना चाहिये जिससे रक्तस्राव तथा अन्त्रच्छेद (Haemorrhage and Perforation) का अवसर न आने पावे। अव तक की आकडो से इससे मृत्यु की सख्या १–२ प्रतिशत दृष्टिगोचर हुई है। इस बात का भी यहा ध्यान रखना चाहिये कि कभी-कभी मिश्र सक्रमण भी देखने मे आता है।

प्रतिकार—सामान्यरूपेण इसका प्रतिकार आन्त्रिक ज्वर के प्रतिकार के सदृश ही है। प्रतिषेधात्मक चिकित्सा मे भी भेद नही है। इसके लिये विशिष्ट भैक्सीन प्राप्त होता है जिसमे दोनो (टाइफायड और पाराटाइफायड) के प्रतिषेध की औषध होती है। इसको टी ए वी भैक्सीन (T. A B vaccin) कहते है। इसकी दो इन्जेक्सन ५०० तथा १००० मिलियनस की क्रमश दस दिन के अन्तर से देनी पडती है। आयुर्वेदीय औषध विधान आन्त्रिक ज्वरवत् लक्षणो के बलावल के अनुसार। पथ्य तथा शुश्रूषा एव परिचर्या की व्यवस्था सुचारु रूप मे होनी चाहिये। रोगी को पूर्ण विश्राम देना परम आवश्यक है।

श्वसनक ज्वर

(Pneumonia)

यह भी सन्निपात ज्वर का ही एक अवान्तर रूप है। यह विषाभिषङ्गज ज्वर प्रायः 'न्यूमो कोकस' नाम जीवाणु के सक्रमण से उत्पन्न होने वाला ज्वर है। इसमे रोगी लाक्षारस के समान समिश्रित कफ निरन्तर निष्ठीवन करता रहता है। इसमे ज्वर सताप के साथ-साथ रोगी श्वास-कष्ट से भी पीडित होता है। इसमे फुप्फुस का मूल भाग स्त्यान या संहत हो जाता है।[1] प्राय शब्द का यहाँ यह अभिप्राय है कि कभी-कभी रक्तमिश्रित निष्ठीवन । होने पर भी फुप्फुस-परीक्षा से फुप्फुस के मूल भाग की या किसी खण्ड विशेष की स्त्यानता या संहति-भाव (Consolidation) प्राप्त होता है। यहा लाक्षारस से ईषत् कृष्ण मिश्रित रक्तवर्ण का ग्रहण है। श्वास की गति इसमे द्रुत हो जाती है तथा तापमान बढ जाता है। श्रावणी परीक्षा से (Auscaltation) फुप्फुस के मूल भाग मे नाली धमनवत् शब्द (Tubular breathing) तथा सूक्ष्म बुद्बुदोद्गम ध्वनि (Fine cripatation) सुनाई पडती है। फुप्फुस के मूल प्रदेश पर अङ्गुली रख अङ्गुल्याघात करने (आहनन–Percusion) मे पाषाण प्रतिघातवत् मन्द ध्वनि (Dull sound) होती है। श्वसन यन्त्र के आक्रान्त होने से इसकी संज्ञा 'श्वसनक' हुई है। यह संज्ञा अन्यत्र भी प्राप्त होती है। जैसे–भैषज्यरत्नावली मे। इसके लक्षण 'कर्कटक' सन्निपातज्वर से मिलता जुलता है।[2]

---

१ (क) लाक्षारसाभ यः ष्ठीवेद् रक्तश्वास-ज्वरार्दित ।
स्त्यानफुप्फुसमूलस्य नस्य श्वसनको ज्वरः ॥
(गणनाथ.) सि नि

(ख) लाक्षारसप्रतिमरक्तयुत कफ य ष्ठीवेज्ज्वरेण बहुश· श्वसनेन युक्तः ।
स्त्यानो भवेदपि च कश्चन फुप्फुसीयो भागस्तु यस्य कथित. श्वसनज्वरी सः ॥
(मा नि परिशिष्ट)

२. (क) भैषज्यरत्नावली ।
(ख) इषुणेवाहत पार्श्वं तुद्यते वन्यते हृदि ।
प्रमीलक -श्वास-हिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने ॥
जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गल शूकैरिवावृत. ।
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत् ॥
अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुक. ।
तन्द्रा निद्रातियोगार्तो हतवाग् निहतद्युति ॥
न रतिं लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति ।
आयम्यते च बहुशो रक्त ष्ठीवति चाल्पश· ॥
एषु कर्कटको नाम्ना सन्निपात· सदारुण. ।

निदान—ऐसे पुरुषो या स्त्रियो को जिनके पास शरीर को ढँकने के लिये वस्त्रो का अभाव होता है तथा जो दुर्बल, दु खी, चिन्ताग्रस्त, अजीर्ण से पीडित तथा अधिक मद्य सेवन करने वाले होते है अथवा जिन्हे वृक्क तथा यकृत् का शोथ होता है, यदि वे मिथ्या आहार-विहारवश शीत तथा वर्षा आदि से पीडित हो जावे अथवा क्वचित् उपर्युक्त श्वसनक के जीवाणुओ से आक्रान्त हो जावे तो यह ज्वर उत्पन्न हो जाता है। इसका आक्रमण प्राय. सभी ऋतुओ मे होता है परन्तु शिशिर, वसन्त और वर्षा ऋतु मे विशेषरूप मे देखा गया है।[1]

सम्प्राप्ति तथा विकृति विज्ञान—इस रोग के जीवाणु (न्यूमो कोकस) जब बाये या दाहिने फुफ्फुस के अथवा दोनो फुफ्फुसो के मूलभाग या अन्य भाग के रक्तवाहिनियो मे प्रवेश कर वहा के रक्त लसिका को दूषित कर उनमे स्त्यानता या सहतिभाव (गाढापन) उत्पन्न करते हैं तथा अपने विषो के प्रभाव से उस प्रदेश मे सूत्रिमय-शोथस्रावो तथा कुछ पूयकोषाणुओ से फुफ्फुसकाठिन्य उत्पन्न कर देते है तब श्वास कष्ट तथा ज्वर के साथ यह रोग उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि श्वास मार्ग मे लब्धप्रवेश जीवाणुओ के विष प्रभाव से प्रकुपित वातादि दोष श्वास-यन्त्र फुफ्फुस को क्षत-विक्षत कर नष्ट करना चाहते हैं। परिणाम स्वरूप श्वास कष्टादि लक्षण समन्वित श्वसनक नाम का सन्निपात ज्वर उत्पन्न होता है। इसमे प्रथम प्राय फुफ्फुस का दक्षिण भाग ही संहती भाव को प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा कोई नियम नही।[2]

प्रकार—श्वसनक ज्वर के मुख्य दो भेद होते हैं। जैसे—(१) खण्डीय श्वसनक ज्वर और (२) प्रणालीय श्वसनक ज्वर। पुन खण्डीय श्वसनक के ५ उपभेद हो जाते है जैसे—(१) शिखरीय (Apical), (२) सचारी (Creeping), (३) केन्द्रीय (Central), (४) द्वितय (Donble) और (५) प्रग्राही (Massive)। प्रणालीय श्वसनक के भी दो उप भेद होते हैं जैसे—(१) मुख्य (Primary) और (२) गौण (Secondary)।

पूर्वरूप—इस रोग के प्रकट होने के पूर्व रोगी पार्श्वपीडा, श्वासकष्ट, तथा कास का कष्ट अनुभव करता है। कभी-कभी कम्प और अवसाद का कष्ट

---

१ सि नि (गणनाथसेन कृत) भावप्रकाश.।

२ (क) 'सहत्यासृङ् मूलत. फुफ्फुसस्याऽसव्ये पार्श्वे सव्यतो वा द्वयोर्वा।
जिघासन्ति श्वासयन्त्र विषोत्था दोषास्तस्माच्छ्वास कष्टं ज्वरश्च॥'
(सि. नि. प्र. ख)

(ख) Chunilal midecine Shavi

भी रोगी को होता है। बालकों में कभी-कभी छर्दि के लक्षण पूर्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं।[1]

लक्षण - प्रायः इस ज्वर मे रोगी पहले शीत का अनुभव करता है, पुनः तीव्र ज्वर से वह आक्रान्त होता है। तदनन्तर अरुचि, पार्श्वशूल, तृष्णा, कास तथा श्वासवृद्धि के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कास मे कभी-कभी ष्ठीवन मे रक्त मिश्रित कफ का निर्गम होता है। ष्ठीवन का रक्त श्याम तथा सान्द्र (लालारसाभ) एवं बार-बार आता है। श्वासकाल मे नासापार्श्व निरन्तर स्फुरित होती (फरकती) रहती है। ललाट पर स्वेद निकलने लगता है तथा अङ्गों मे सदा दाह का अनुभव होता है। शरीर पर गौर सर्षप के समान श्वेत पिडकायें दृष्टिगोचर होती हैं। दुर्बलता, मन साद, मोह, प्रलाप, कण्ठ कूजन, ये लक्षण होते हैं। रोगी की जिह्वा परुष, कर्कश, तथा मलीन हो जाती है। नाडी (Pulse) की गति युग्म (Diacoatic) हो जाती है। स्पर्श मे नाडी कोमल, स्थूल तथा चञ्चल प्रतीत होती है। यह अवस्था ज्वरमुक्ति पर्यन्त बनी रहती है। ज्वरमुक्ति के अनन्तर नाडी की गति मन्द हो जाती है। यह अवस्था प्रायः सातवें, आठवे या नवबे दिन होती है। ज्वरमुक्ति होने पर नाडी की गति विशेष मन्द हो जाती है अर्थात् स्वाभाविक गति मे भी क्षीण हो जाती है। इस ज्वर मे ज्वरमोक्ष दो प्रकार का देखा जाता है जैसे—(१) अदारुण मोक्ष और (२) दारुण मोक्ष। दारुण मोक्ष मे अकस्मात् अत्यधिक स्वेद प्रवृत्ति के साथ ज्वर निर्मुक्ति होती है। इस अवसर पर चिकित्सक के सतर्क नही रहने से रोगी के प्राण नष्ट हो जाने का भय रहता है। यदि सावधानीपूर्वक इसका प्रतिकार किया गया तो रोगी शीघ्र ही नीरोग हो जाता है।[2]

---

१. (क) 'पार्श्वार्त्ति श्वासकासौ च क्वचित् कम्पोऽवसन्नता।
प्रागूरूपमाहुर्निपुणाः प्रायः श्वसनके ज्वरे॥' (सि. नि)

(ख) यस्मिन् फुफ्फुसे व्रणशोथस्तत्रैवार्त्तिः पुफ्फुसच्छदकलाया व्रणशोथस्य प्रसर्पणात्।' (गणनाथ.)

२. (क) प्राक् प्रायः शीतमत्यर्थं ज्वरस्तीव्रोऽरुचिस्तृषा।
पार्श्वशूलमथो कासः श्वासवृद्धिक्रमेण च॥
कासतः शोणितं श्याम मुहुः सान्द्रं प्रवर्तते।
स्वेदो ललाटे गात्राणि भृशं स्विद्यन्ति चाऽनिशम्॥
गौरसर्षपसंस्वेदपिडिकानाञ्च दर्शनम्।
दौर्बल्यं सदनं मोहः प्रलापः कण्ठकूजनम्॥
परुषा कर्कशा जिह्वा मलिना च भवेद् भृशम्।
धमनीं युग्मनामेति कोमला स्थूल चञ्चला॥

सुख साध्य तथा असाध्य के लक्षण—इस रोग मे जब तक एक ही फुफ्फुस आक्रान्त रहता है तथा ज्वर का वेग तीव्र नही रहता और पादत्रय गुणवान् रहता है तो रोग सुखसाध्य होता है। परन्तु ज्वर वेग के तीव्र होने पर तथा स्वेदाधिक्य होने पर वृद्ध तथा क्षीण रोगी का उपर्युक्त पादत्रय के अभाव मे रोग असाध्य हो जाता है।

अरिष्ट लक्षण—जिस रोगी के दोनो फुफ्फुस तथा एक ही फुफ्फुस समग्ररूपेण आक्रान्त होते हैं, रोगी नासा से अत्यधिक श्वास लेता है अर्थात् अधिक श्वास के कारण जिसके नासापुट अत्यधिक विस्तृत होते हैं, अत्यधिक स्वेदनिर्गम होता है (पसीना निकलता है) उस रोगी का जीवन दुर्लभ हो जाता है। जो रोगी मन्द-मन्द प्रलाप करता है तथा स्वेदाधिक्य हो मोह को प्राप्त होता है और उसके हाथ-पैर काँपते हैं ऐसे रोगी का प्राण नष्ट हो जाता है। अथवा जो रोगी अतिसार से आक्रान्त हो जाता है और प्रतिकार करने पर भी अतिसार शान्त नही होता, अत्यधिक जो क्षीण हो जाता है, तथा जिसकी इन्द्रिया चेष्टारहित हो जाती है और जो श्वास कष्ट से पीडित होता है वह भी मृत्यु को प्राप्त होता है।[1]

उग्र खण्डीय-फुफ्फुस प्रदाह या श्वसनक ज्वर—(Acute lobar pneumonia)—यह प्राय फ्रान्केल नामक न्युमोकोकस के सक्रमण से हुआ करता है। इसमे फुफ्फुस के खण्डो मे (Lobes) मे प्रधान रूपेण विकृति पाई जाती है। प्रदाह-

---

यावन्न ज्वरमुक्तिः स्याद् ज्वरमुक्तेरनन्तरम्।
विशेषान् मन्दतामेति रोगोऽस्मिन्निति निश्चय ॥
सप्तमे दिवसे प्रायश्चाष्टमे नवमेऽथवा।
अकस्माज्ज्वरमुक्ति स्यात् स्वेदप्राचुर्यमेव च ॥
प्राणा वा तत्र मुच्यन्ते रोगी वा तत्र मुच्यते।
मुच्यमानस्तु नैरुज्य शीघ्रमेव समश्नुते ॥' (सि नि)

१ (क) 'एकत. फुफ्फुसे दुष्टे ज्वरेऽतीव्रे स्थिते बले।
सम्यक् पादत्रये लब्धे मन्तव्या सुखसाध्यता ॥
स्वेदो भृश ज्वरस्तीव्रो वृद्ध. क्षीणोऽथवातुरः।
पादत्रयस्य सम्पत्त्या स तु जीवेत् कदाचन ॥'

(ख) 'द्वावेव फुफ्फुसौ दुष्टौ समग्रौ यस्य वैकृत।
नासाश्वासो भृश स्वेदो दुर्लभ तस्य जीवितम् ॥
मन्दं किञ्चित् प्रलपति स्वेदस्नातः प्रमुह्यति।
वेपते करपादश्च प्राणास्तस्यापि दुर्लभाः ॥
अतिसारेण वाऽऽक्रान्ता दुर्वारेण भवेद्यदि।
क्षीण. श्वसनकेनार्त्तो दक्षिणाभिमुखो हि सः ॥' (सि. नि. क रा)

जन्य स्रावो से फुफ्फुस खण्डगत वायुकोष इस प्रकार भर जाते है कि उनमे शोथ उत्पन्न हो जाता है जिससे वायु प्रवेश का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और वायुकोषे प्राय: वायुरहित हो जाती हैं। पुनः स्त्यानीभूत उक्त वायुकोषो की तन्तुएँ उनमे एकत्र कफ को बाहर निकालने का प्रयत्न करती है (Autolysis) जिससे (स्थानीय पित्त की सहायता से) वायुकोषो मे सञ्चित स्त्यानीभूत कफ पिघल कर बाहर निकलने लगता है (Resolution)। यह प्रतिक्रिया स्वत. होती है अर्थात् स्थानीय (प्राण) वायु द्वारा सम्पन्न होती है (Alergic phenomena) रोग के विष प्रभावजन्य लक्षण का सम्बन्ध इन स्त्यानीभूत (Consolidated) फुफ्फुस खण्ड पर निर्भर नही करता है, क्योंकि ऐसा देखा गया है कि अल्प स्त्यानीभूत फुफ्फुस खण्डो मे भी अत्यधिक रोग विष प्रभाव के लक्षण उदय होते हैं तथा अधिक स्त्यानीभूत फुफ्फुस खण्ड मे भी विष प्रभाव (Toxaemia) के लक्षण अल्प दृष्टिगोचर होते है।

विकृति विज्ञान—उग्र या तीव्र (Acute) खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह या श्वसनक मे सम्पूर्ण खण्ड आक्रान्त होता है। आक्रान्त स्थल के अनुसार ही इसकी सज्ञा होती है जैसे—'शिखरीय' (Apical) जब शिखर प्रदेश आक्रान्त होता है, 'प्रदाही' (Massive)—जब फुफ्फुस का एक या दोनो खण्ड का अधिक क्षेत्र आक्रान्त होता है, 'केन्द्रीय' (Central)—जब फुफ्फुस का केन्द्र (खण्ड के केन्द्र) प्रदेश मे अधिक या गम्भीर रूप मे प्रदाह (Inflamation) होता है, और जब दोनो फुफ्फुसो के खण्ड आक्रान्त होते है तब उसे द्विगुण या डबल (Double) श्वसनक ज्वर कहते हैं। जब प्रदाह (Iflamation) सचार करता रहता है अर्थात् स्थानसश्रयी नही हुआ होता तो उसे सचारी (Creeping) श्वसनक कहते है। खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह के सभी दशाओं मे फुफ्फुस शोथयुक्त होने से आकृति मे बडा (Enlarged and bulky) तथा भारयुक्त हो जाता है। स्त्यानीभूत होने से अपेक्षकृत वह ठोस (Solid) भी हो जाता है। यकृत् के समान ठोस हो जाने के कारण ही इस अवस्था को यकृतिभवन (Hepatisation) कहते हैं। इस अवस्था मे पर्शुकान्तराल उत्सेधयुक्त हो जाता है और ठेपन करने पर मन्द ध्वनि (Dull note) निकलती है। शवोत्तर परीक्षण मे फुफ्फुस खण्ड जल मे डूब (निमग्न हो) जाता है तथा चाकू से उसका विभाजन सरलता से हो जाता है। काटने पर उसके अन्दर से स्कन्धित रक्ताश (Fibrin) निकलता है। देखने पर फुफ्फुस खण्ड का वर्ण रक्त या रक्तधूसर प्रतीत होता है। अत इस अवस्था को रक्त या धूसर यकृतिभवन (Red and gray hepatisation) कहा जाता है। फुफ्फुसावरण भी उस रक्ताश के एकत्र हो जाने से स्पर्श मे रूक्ष हो जाता है।

परीक्षण की सुविधा के लिए ही उपर्युक्त सभी अवस्थाओ को पाच भागो मे विभक्त कर दर्शाया गया है जैसे—(१) अभिसचयावस्था (Stage of Congestion), (२) रक्तघनीभवनावस्था (Stage of hepatrisation), (३) धूसरघनीभवावस्था (Grey Hepatisation), (४) निवृत्तावस्था (Stage of Resolution) और (५) सुधारावस्था (Stage of Repair)। यहा इस तथ्य पर ध्यान रखना परमावश्यक है कि यह विकृति खण्ड के किसी एक क्षुद्राश मे प्रारम्भ होकर शनै. शनै· सम्पूर्ण खण्ड मे फैल जाती है। अतः एक ही समय उक्त सभी अवस्थाएँ उपलब्ध नही होती। तात्पर्य यह कि परीक्षणो से ऐसा प्रतीत होगा कि खण्ड का कोई प्रदेश किसी अवस्था मे है तो अन्य प्रदेश उस से भिन्न अवस्था मे है। तात्कालिक विकृतियाँ प्राय प्रान्तभागो मे (Periphery) दृष्टिगोचर होती है।

(I) **तीव्र अभिसंचयावस्था** (Stage of acute Congestion)—इस अवस्था मे केशिकाओ (Capilaries) मे रक्तातिसंचय होने लगता है जिससे वे फैल जाती हैं। इनके फैल जाने से रस का स्राव होने लगता है (Exudation of serum)। फलस्वरूप वायु कोषो से (Alveoles) परच निकलने लगता है (Disquamination) और रक्तस्राव भी होता है।

(II) **रक्तघनीभवन** (Red Hepateisation)—इस अवस्था मे फुपफुस खण्ड कठोर (स्त्यानीभूत) हो जाता है तथा देखने मे रक्तवर्ण का प्रतीत होता है। फुपफुस खण्ड अति भङ्गुर हो जाता है तथा उसके तन्तुओ मे विकृति आ जाती है। फुपफुस खण्ड की वृद्धि होने से पर्शुकान्तराल उत्सेधयुक्त दृष्टिगोचर होता है। उरच्छदा गर्तो मे सौत्रिक स्राव तथा रक्त के भर जाने से ठेपन करने पर मन्दध्वनि (Dull) आती है। फुपफुस खण्ड के वायुकोषो से रक्तातिसचय होने से तथा सूक्ष्म एव अतिरिक्त रक्तवाहिनियो के निर्माण हो जाने से फुपफुस खण्ड रक्तवर्ण का दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अवस्था मे ष्ठीवन मे रक्त आने लगता है। ष्ठीवन (निष्ठ्यूत कफ) की आनुवीक्षण परीक्षा करने पर उसमे रक्तकण (R B C) और सौत्रिक तन्तु दृष्टिगोचर होते हैं। ष्ठीवन अत्यधिक फाइब्रीन के कारण पिच्छिल होता है। ष्ठीवन मे श्वसनक के जीवाणुओ के भी दर्शन होते है।

(III) **धूसर रक्तघनीभवन** (Grey Hepatisation)—यह अवस्था प्राय. पाँचवे दिन होती हैं। इसमे फुपफुस का वर्ण धूसर हो जाता है तथा फुपफुस की तन्तुएँ और अधिक भङ्गुर हो जाती है। रक्तकणो के लुप्त हो जाने से इसमे वर्ण विकृति आ जाती है वायुकोष मे सचित द्रव्य न्यून होने

लगते है, रक्तकण शोषित होने लगते हैं तथा पौलीमार्फ की संख्या अधिक हो जाती है। वायुकोषो के आन्तरभित्तीय रक्तसंचय न्यून हो जाता है। रक्तवर्ण से धूसरवर्ण होने का कारण रक्तकणो का नाश, श्वेतकणो की अधिक उपस्थिति एवं रक्तसंचय का न्यून हो जाना, इत्यादि होता है।

(iv) **निवृत्तावस्था** (Stage of Resolution)—यह अवस्था अपने विशिष्ट लक्षणो से परिलक्षित होती है, जैसे ज्वर का ताप न्यून हो जाना (प्रकृत हो जाना तथा कभी-कभी उससे न्यून हो जाना) तथा अन्य वेदनाओ मे भी न्यूनता होना। यह अवस्था स्वाभाविक किण्वीभवन के कारण होती है जो वहाँ उपस्थित श्वेतकणो के कारण होता है। इस अवस्था मे वायुकोषो मे जमा हुआ कफ पिघलने लगता है और निष्ठीवन द्वारा बाहर निष्कासित होता है। विषमयता के प्रभाव न्यून हो जाते है। वायुकोषे (alveolular cells) जो मृत हो गई होती है उनका पुनर्जीवन होने लगता है। धूसर यकृवनीभवन (Grey hepatisation) तथा विलयनावस्था या निवृत्तावस्था का (Resolution) स्पष्ट प्रार्थक्य रेखा खीचना कठिन है। इस अवस्था मे क्रमश. वायुकोषो मे जमा कफ पिघल कर शोषित होने लगता है जिससे वायुकोषे शनै शनै. प्रकृत अवस्था मे आने लगती हैं। परन्तु कभी-कभी इससे विपरीत अवस्था भी देखी जाती है। यह अवस्था तब होती है जब विलयनीकरण (Resolution) अपूर्ण रह जाता है। इस अवस्था मे वायुकोषो मे जमा सौत्रिक स्राव (Fibrinous exudation) आचूषित नही हो पाता, जिससे स्थानीय विकृति (Fibrosis, induration or carnification) उत्पन्न हो जाती है, जिनके परिणाम स्वरूप अनेक उपद्रव होने लगते हैं।

(v) **सुधारावस्था** (Stage of Repair)—जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि पूर्ण विलयनीभवन (Resolution) के परिणाम स्वरूप वायुकोषो मे जमा विकृत कफ (Fibrinoun exudation) पूर्णरूप से जब आचूषित हो जाता है तब वायुकोष रिक्त होने पर पुन: प्राणवायु से पूर्ण हो जाता है। तथा नष्ट हुए वायुकोषाशो का भी पुनर्जीवन होने लगता है। परन्तु जब यह प्रक्रिया अपूर्ण रह जाती है तब वहाँ उपर्युक्त विकृतियो की सम्भावना रहती है जिनका परिणाम यह होता है कि फुफ्फुस के वायुकोषो मे सौत्रिक तन्तुओ (Fibrosis) का निर्माण हो जाता है जिससे वायुकोषो की भित्तियाँ उर च्छदा कला के साथ चिपक जाती है।

उपद्रव—कुछ रोगियो मे जब निवृत्ति या विलयन (Resolution) उचित रूप मे नही होती अर्थात् घनीभूत कफ पिघल कर आचूषित नही हो पाता तो

संगठन (Organisation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । इस अवस्था मे वायुकोषो मे नये केशिकाङ्कुरो का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है तथा वायुकोषीय भित्तियो मे सयोजक तन्तुओ की उत्पत्ति होने लगती है (Profoliration of connective tissue cells) । इसका परिणाम यह होता है कि पुन: वाहिनियो का विघटन (Devascularisation) हो सौत्रिक तन्तुओ (Fibrosis) का निर्माण हो जाता है । इस अवस्था मे तन्तुओ का स्वरूप मासवत हो जाता है (Carnification) । प्रतिकार के अभाव मे वायुकोषो मे विद्रधि बनकर पूय का निर्माण होने लगता है (Suppuration) । यह दशा दो अवस्थाओ के कारण होती है जैसे (i) या तो रोग का विष अति उग्र हो अथवा (ii) रोगी की क्षमता अति न्यून हो गई हो । यह ठीक है कि यह अवस्था अपेक्षकृत विरल होती है । इस अवस्था मे वायुकोषो की भित्तियाँ भग्न होकर पूय का रूप धारण कर लेती हैं । यदि यह अवस्था भी अप्रतिकृत रही तो वहाँ कोथ प्रारम्भ हो जाता है (Gangrene of the lung) । ये सब विरल उपद्रवे है । यह अवस्था विशेषकर सुरापायी तथा मधुमेह से पीडित रोगियो मे दृष्टिगोचर हुई हैं । यह अवस्था प्राय: साघातिक प्रमाणित हुई है । इसका संक्रमण हृदयावरणी कला मे होने पर हृदयावरणी प्रदाह (Pericarditis) हो जाता है । इसमे उचित प्रतिकार के अभाव मे अन्य उपद्रव भी होते हैं जैसे—(i) पूयोरस (Empyema), (ii) मस्तिष्कावरणी प्रदाह (Menengitis), (iii) जीवाणु जन्य हृदयाकान्तरिक शोथ (Bacterial endocarditis) प्रभृति ।

लक्षण—श्वास लेनें मे स्थानीय पीडा का होना । परीक्षण से घनीभवन (Consolidation) के लक्षण प्राप्त होना जैसे—ठेपन से मन्द ध्वनि (Dull note) तथा स्पर्श मे वृद्ध शब्दलहरी सुनाई पडती है, श्रवण से फुत्कार ध्वनि (Blowing sound), निवृत्तावस्था मे (Resolution period मे) आर्द्र बुद्बुद् ध्वनि (Moist rals) श्रवण से सुनाई पडती है तथा निष्ठीवन धूसर वर्ण का (Rusty) होता हे । कभी-कभी रक्त निष्ठीवन भी होता है । ज्वर, श्वासकष्ट, विष प्रभाव के लक्षण (Toxaemia) तथा रक्त परीक्षण से श्वेतकणाभिवृद्धि (Leucocytosis) की उपलब्धि होती है । ज्वर का सन्ताप सातवें तथा आठवें दिन अकस्मात् न्यून हो जाता है अर्थात् दारुण मोक्ष होता है । उग्र विषमयता का प्रभाव हृदय पर भी पडता है जिससे रोगी की मृत्यु प्रतिकार के अभाव मे हृच्छेद (Heart failure) से होती है ।

प्रतिकार—सर्वप्रथम रोगी को पूर्ण विश्राम देने की व्यवस्था करे । ऐसे स्थान मे रोगी की शय्या का प्रबन्ध करे जहा स्वच्छ वायु का सचार हो परन्तु

शीत वायु तथा प्रवात न लगती हो। रोगी का निवासस्थान आर्द्र नहीं होना चाहिए। धूल तथा धूम से वह स्थान वर्जित होना आवश्यक है। रोगी के पथ्य की सुव्यवस्था भी परमावश्यक है। सुजर तथा पौष्टिक द्रव-प्राय लघु भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। इसमे कफस्थानानुपूर्वी चिकित्सा का प्रयोग श्रेयस्कर है। सर्वप्रथम कफघ्न सन्तापहर हृद्य औषधो का चुनाव करना चाहिये। एतदर्थ 'बृहत् कस्तूरीभैरव' 'नारदीय लक्ष्मी विलास', 'त्रिभुवनकीर्ति' तथा 'त्रैलोक्य चिन्तामणि रस' का यथावसर यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए। इस अवस्था मे अभ्र, कस्तूरी, मुक्ता तथा मकरध्वज का एकाकी वा सम्मिश्रित प्रयोग यथावसर यथायोग्य करने से लाभ होता है। औषधो के चुनाव मे फुफ्फुस शोथ या प्रदाह को दूर करने वाले, सन्तापहर एव कफ विलायक तथा नि सारक योगो का ध्यान रखना परमावश्यक है। रोग के विष प्रभाव को उदासीन करने वाले योग यथा शृङ्गभस्म, निर्विषी, तगरादि क्वाथ, प्रभृति का प्रयोग लाभप्रद होता है। वातकफोल्वण सन्निपात ज्वर का क्रियाक्रम यहाँ अपेक्षित है। वक्षस्थल पर शोथहर लेप यथा—अतसादि लेप, दशाङ्ग लेप तथा उपनाह ऐन्टीफ्लोजेस्टीन का लेप यथाविधि लगावे। प्रथम अवस्था मे कर्पूरादि लेप, पचगुण तैल का अभ्यङ्ग तथा पुरातन घृत मे कर्पूर और सैंधव मिलाकर कोष्ण अभ्यङ्ग करने से भी लाभ होता है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति मे सम्प्रति पेनेसेलीन प्रयोग सफलता से होता है। परन्तु इसके प्रयोग के लिये इसका साहित्य सावधान मनसा अध्ययन कर लेना चाहिये। इसके प्रयोग मे रोगी के प्रकृति आदि का विचार परमावश्यक है। अन्यथा इसके प्रयोग से अनेक व्यापदो की भी सम्भावना रहती है। इस औषधी के पूर्व 'सल्फा ड्रग्स' के योगो का भी सफलतापूर्वक प्रयोग होता था। जैसे—सल्फा थायजोल, सल्फा डायजेन प्रभृति। इनका विस्तृत वर्णन परिशिष्ट मे देखे।

इस रोग से आक्रान्त रोगी की मृत्यु प्रायः दो कारणो से देखी जाती है जैसे (१) हृद्भेद (Heart failure) जिसका सकेत पहले कर चुके हैं। (२) दूसरा श्वासावरोध (respiratory failure)। इन दोनो अवस्थाओ से रोगी की रक्षा आवश्यक होती है। हृदय को बल देने वाली औषधियो का प्रयोग यथावसर आवश्यक होता है। एतदर्थ हृद्रोग रत्नाकर हेमगर्भ पोट्टलीरस, जवाहर मोहरा और एकूति का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये। (इनका विस्तृत गुण-कर्म वर्णन परिशिष्ट में देखे)। श्वासावरोध से बचने के लिये प्राण-वहस्रोतो को विशुद्ध करने वाले योगो का प्रयोग अपेक्षित है। विपन्नावस्था मे

प्राणवायु (Oxygen) का देना अनिवार्य होता है। औषधो मे ऐसी अवस्था मे 'समीर पन्नगरस' का उपयोग लाभकर होता है। इसके प्रयोग से प्राण वहस्रोत शुद्ध होती हैं। यह कफस्राव करा कर श्वासनलिकाओ को तथा वायुकोषो को शुद्ध कर देता है तथा स्थानीय प्रदाह एव शोथ को दूर करता है। इसके साथ गोजिह्वादि क्वाथ का अनुपान रूप से प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है।

पथ्य व्यवस्था—शीत पदार्थों से रोगी की सदा रक्षा करनी चाहिये। रोगी का निवासस्थान उष्ण तथा स्वच्छ वायु के सचार से युक्त होना चाहिये। रोगी को सदा सुखपूर्वक शय्या पर विश्राम कराना चाहिये। पेय पदार्थ भी सदा कोष्ण ही देना चाहिये। यथावसर दूध, मण्ड, यवागू, तथा विलेपी का प्रयोग कोष्ण ही करना चाहिये। दूध मे गाय का तथा बकरी का दूध श्रेयस्कर है। यवमण्ड तथा लाजपेया या मण्ड का भी यथावसर कोष्ण ही उपयोग करे। फल यूष भी कोष्ण ही देवे। फलो मे विदाना (दाडिम) तथा मोसम्बी का रस लाभप्रद है। द्राक्षा तथा गोस्तनी (अगूर) भी दिया जा सकता है। पपीता, परवल (परोल), तथा करेला का यूष आवश्यकतानुसार देना चाहिये। ज्वरमुक्ति हो जाने पर तथा फुप्फुस की अवस्था मे सुधार होने पर अग्निवल के अनुसार सुजर तथा सुपुष्ट पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिये। रोगी को जब तक बल लाभ न हो जाय तब तक श्रमजनक कार्य से पृथक् रखना चाहिये।

प्रणालीय श्वसनक ज्वर

(Broncho-pneumonia)

प्रणालीय श्वसनक ज्वर अथवा उपखण्डीय श्वसनक ज्वर (Lobular pneumonia) मे फुफ्फुस के उभय पार्श्व मे विकीर्णघनता (Patchy type of consolidation) के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इसमे विशेषकर के अध खण्ड (lower lobe) मे ही विकृति देखी जाती है। यह विशेष रूप से बच्चो तथा वृद्धो मे होती है। मध्य वय के पुरुषो तथा नारियो मे इसका सक्रमण तभी होता है जब यह मरक या जनमार (Epedemic) रूप मे उत्पन्न होता है या फैलता है। जैसे वातश्लेष्म ज्वर (Influenza) मे। इसकी विकृति का श्वास प्रणालियो (Broncheols) से प्रारम्भ होकर वायुकोषो तक प्रसार होने से इसकी सज्ञा 'प्रणालीय श्वसनक' हुई है तथा उपखण्डो (lobules) के आक्रान्त होने से इसे उपखण्डीय (Lobular or focal) श्वसनक भी कहते हैं। इस विकार मे सम्पूर्ण फुफ्फुस खण्ड प्राय: दूषित नही होता। इसका एक

और उपभेद होता है जिसमे फुफ्फुस के श्लेष्मल कलाओ मे प्रदाह उत्पन्न हो जाता है, जिसे प्रतिश्यायज श्वसनक (Catarrhal pneumonia) कहते है।

निदान तथा सम्प्राप्ति—खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह के समान इसमे किसी विशिष्ट प्रकार के जीवाणु के सक्रमण का सकेत नही प्राप्त होता। रक्तभक्षी जाति के 'स्ट्रेप्टोकोकस' का सक्रमण प्रायः इस रोग मे दृष्टिगोचर होता है। न्यूमोकोकाई, इन्फ्लुयेञ्जा वैसिलस, एकाकी तथा अन्य जीवाणुओ के साथ, और कभी-कभी स्टेफायलो कोकस का भी इसमे सक्रमण होता है। इन्फ्लुयेञ्जा मे तो प्रथम विषाणु (Virus) का सक्रमण होता है तत्पश्चात् इन्फ्लुयेञ्जा के जीवाणु का।

विकृति (Pathology)—प्राय बालक तथा वृद्ध इस रोग मे सक्रान्त होते है। बालको मे भी दो वर्ष के वय वाले शिशुओ मे यह अधिक पाया गया है। वृद्धो मे भी ऐसे वृद्धो को जिन्हे किसी प्रकार का आघात हुआ हो अथवा जिनको वृक्कप्रदाह का विकार हो तथा किसी कारणवश शय्याशायी बन गये हो ऐसो मे विशेष रूप से देखा गया है। इस विकार के तीन रूप देखने मे आते है जैसे—(१) प्राथमिक (Primary), (२) गौण (Secondary) और (३) प्रश्वासीय (Aspiration peumonia).

प्रकार—इस रोग के अनेक प्रकार देखने मे आते हैं जैसे—(१) सामान्य प्रणालीय श्वसनक ज्वर—इसमे पूयभाव नही होता (Non-suppurative)। (२) जो इन्फ्लुयेञ्जा, रोमान्तिका (Measles), कुक्कास (Whooping cough), रोहिणी (Diptheria), आदि के कारण उत्पन्न होते है। (३) औपद्रविक—जो आन्त्रिक ज्वर आदि मे उपद्रव रूप मे उत्पन्न होते है। (४) औपसर्गिक (Septic)—इसमे पूय का सचार हो जाता है (Suppurative)। (५) क्षयज (Tuburcular) जिसमे क्षय के जीवाणु का सक्रमण होता है। (६) अन्य—अर्थात् पूर्वोक्त प्रकारो से भिन्न (Other forms of broncho pneumonia)। इन सभी प्रकारो मे सूक्ष्म श्वास प्रणालियो मे प्रथम प्रदाह प्रारम्भ होता है तदनन्तर वायुकोषे आक्रान्त होती है। इस विकार मे प्रणालियाँ पूयमयकफ से भर जाती है जिसके परिणाम स्वरूप सूक्ष्म वायु कोषो का नाश हो जाता है। सूक्ष्म वायु कोषो के नाश हो जाने पर बडे वायु कोषो का विस्तार हो जाता है (Emphysema)। इस विकार मे दोनो फुफ्फुस एक साथ आक्रान्त होते हैं। फुफ्फुस परीक्षण करने पर अनेक विकीर्ण घनता (Consolidation) के स्थल प्राप्त होते है। ज्यो-ज्यो घनता का क्षेत्र बढता जाता है त्यो-त्यो फुफ्फुस के प्रदेश भी इससे आक्रान्त होते जाते हैं। उरश्छदा-

कला का प्रदाह (Pleurisy) इसमे प्राय हो जाया करता है। इसके लक्षण खण्डीय श्वसनक के समान ही होते है। योगरत्नाकर मे बच्चो के रोगो मे 'उत्फुल्लिका' नामक रोग का वर्णन प्राप्त होता है जिसके लक्षण इस व्याधि के लक्षणो के समान होते है जैसे:—

'अध्मात वात सम्फुल्लो वक्षकुक्षौ शिशोर्भवेन्। उत्फुल्लिका सा विख्याता श्वास श्वयथुसङ्कुला ॥' (यो. र) अर्थात् श्वासकष्ट और शोथ से युक्त बच्चो को उत्फुल्लिका नाम का रोग होता है जिसमे बच्चो के वक्ष और कुक्षिप्रदेश आध्मान तथा वायु से फूला हुआ प्रतीत होता है। इसको प्रचलित भाषा मे हवाडबा या डब्बा भी कहते हैं।

प्रतिकार—इसकी चिकित्सा खण्डीय श्वसनक के समान ही है। अनुपान भेद से रोगी की अवस्था तथा लक्षणो के अनुरूप उन्ही औषधो का व्यवहार करना चाहिये। बच्चो के लिये विशेष रूप मे बाल चातुर्भद्र, रामेश्वर रस, कुमार कल्याण रस का भी प्रयोग यथावसर कर सकते हैं।

श्लैष्मक ज्वर
(Influenza)

यह श्लेष्मवातोल्वण सन्निपातज्वर से साम्य रखने वाली व्याधि है। इसमे कफज उपद्रव अधिक दृष्टिगोचर होते हैं अतः इसकी सज्ञा 'श्लैष्मक ज्वर' हुई है। यह 'जनपदोध्वसी ज्वर' है।[1]

निदान—इस रोग के जीवाणु-विष वायु द्वारा प्रवाहित होकर एक ही समय मे अनेक व्यक्तियो को शीघ्र आक्रान्त कर लेता है। यह परम सक्रामक व्याधि है। इसका शरीर में प्रवेश प्राय श्वास मार्ग से होता है। परन्तु कभी-कभी मुख मार्ग से भी इसका संक्रमण देखा गया है। आक्रान्त व्यक्तियो के श्वासोच्छ्वास के सम्पर्क मे आने पर अन्य व्यक्तियो मे इसका सक्रमण होता है।[2]

सम्प्राप्ति—इसका विकार प्राय श्वासयत्रो में दृष्टिगोचर होता है, पर

---

१. 'प्रादुर्भवतीह यत प्राय श्लेष्मजोपद्रवा भृशम्।
कश्चिज्जनपदोद्ध्वसी ज्वरोऽसौ श्लैष्मक स्मृत ॥' (सि नि)

२ वायुवाहितजीवाणु-विष युगपज्जसा।
लोकेषु प्रसृत प्राय श्वासमार्गेण त ज्वरम् ॥
विदधाति कचित् बाढ्य मुखमार्गेण सक्रम ।
जनाज्जने च सक्रान्ति श्वसनादिनिमित्तत ॥' (सि नि)

कभी-कभी अन्न मार्ग तथा सभी धातुओ मे इसके विकार दीख पडते हैं। इसमें कफ-वात की उत्वणता रहती है। अतः इसके विष धातुओं को अपने अल्प बल से तथा तीव्र बल से दूषित कर कफवातोल्वण सन्निपात के लक्षण उत्पन्न करता है।[1]

लक्षण—सामान्यत इस रोग से आक्रान्त पुरुष को प्रतिश्याय, शिरःशूल, कभी-कभी शीतपूर्वक कम्प, अङ्गमर्द तथा कटि, पृष्ठ ओर छाती मे तीव्र पीडा होती है। साथ ही कास, ज्वर, अवसाद तथा थोडे दिनो में ही अत्यधिक दौर्बल्य का अनुभव रोगी करने लगता है। इस श्लेष्मक ज्वर मे रोगी अत्यधिक बल-हानि का अनुभव करता है। जब फुफ्फुस आक्रान्त हो जाता है तब रोगी श्वास कष्ट का अनुभव करता है तथा सरक्त ष्ठीवन करने लगता है। ज्वर वेग की वृद्धि तथा प्रलाप के लक्षण होते है। अन्न मार्ग के आक्रान्त होने पर छर्दि तथा अतिसार मे से किसी एक के अथवा दोनो के लक्षण होते हैं। कभी कभी रोगी मे कामला के भी लक्षण उदय होते है। विष के अत्यर्थ योग होने से रक्तधातु का नाश होने पर कामला के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सभी धातुओ के प्रदुष्ट हो जाने पर अभि-न्यास ज्वर के लक्षण दिखाई पडते हैं ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर रोगी का बचना कठिन हो जाता है। स्वल्प दोष वाले रोगियो का कष्ट यद्यपि अविलम्ब नष्ट हो जाता है परन्तु बलहानि के लक्षण चिरकाल तक बने रहते हैं। बहुदोष वाले रोगी कृच्छ्र साध्य होते हैं।[2]

---

१. 'प्रायश्चास्य विकारा स्यु श्वासयन्त्रे क्वचित् पुनः।
अन्नमार्गे समग्रेऽपि क्वापि वा सर्वधातुषु ॥
कफवातोल्बण नच सन्निपातमुदीरयेत ।
विष धातून् विकुरुते स्तोकेनातिबलेन वा ॥' (सि. नि)

२. 'प्रतिश्याय· शिर शूल शीतकम्पो च कुत्रचित्।
अङ्गमर्द कटिपृष्ठोरसा तीव्राश्च वेदना ॥
कासो ज्वरोऽवसादश्च कार्श्यं चाल्पैर्दिनैर्भृशम्।
अत्यर्थं बलहानिश्च लिङ्गानि श्लेष्मके ज्वरे ॥
सामान्यतो, विशेषात्तु फुफ्फुसाक्रमणे सति।
सरक्त ष्ठीवन प्राय· प्रलापः श्वसनं तथा ॥
अथान्नमार्गे त्वाक्रान्ते वम्यतीसारयोर्द्वयो ।
एकस्य वा प्रवृत्तिः स्याच्छूलं क्वापि च कामला ॥
अत्यर्थं विषयोगेन सर्वधातुप्रदूषणात् ।
अभिन्याससमम क्वापि रूप तस्मान्न मुच्यते ॥
नैरुज्य स्वल्पदोषस्य शीघ्र यद्यपि जायते।
बलहानिश्चिराय स्यात कृच्छ्रा तु बहुदोषता ॥' (सि. नि.)

प्रतिकार—इसका प्रतिकार श्लेष्मवातोल्वण सन्निपात ज्वर के समान ही करना चाहिये। रोगी को पूर्ण विश्राम दे तथा दोष पाचनार्थ लघन (लघुभोजन रूप) स्वेदन, यवागू आदि का विधान करे। एतदर्थ गोजिह्वादि फाण्ट, सुरसादि फाण्ट तथा त्रिभुवन कीर्ति रस का यथावश्यक प्रयोग करे। यदि दोष प्रवल हो तो 'वृहत् कस्तूरीभैरव' तथा 'नागवल्लभ रस' का भी प्रयोग करे। वात-कफ-प्रधान श्लैष्मिक सन्निपात मे 'त्रिभुवन कीर्त्ति रस' का उत्तम उपयोग होता है। इस विकार मे रोगी को घवराहट (उद्वेग) अधिक होती है तथा सर्वाङ्ग पीडा, सन्धिरुक् , प्रतिश्याय और शुष्क कास के लक्षण होते हैं। अत इसमे त्रिभुवन कीर्त्ति रस का प्रयोग गोजिह्वादि फाण्ट या सुरसादिफाण्ट के अनुपान से करने पर उक्त कष्टो की निवृत्ति हो जाती है। इसके प्रयोग से श्लेष्मल कलाओ मे उत्पन्न क्षोभ या प्रदाह शान्त हो जाता है। यह विकार रोगी को शीघ्र ही दुर्वल बना देता है। अतः पथ्य की सुव्यवस्था परमावश्यक है। रोगी के लिये सुजर एव पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए। शीत से वचने की व्यवस्था आवश्यक है। कोष्ण जल का उपयोग ही इसमे अपेक्षित है। कोष्ठवद्धता होने पर स्रसन औषध का प्रयोग श्रेयस्कर है। यह सक्रामक रोग है अत इसके सक्रमण से अन्य व्यक्तियो की सुरक्षा का प्रवन्ध करना परमावश्यक है।

आधुनिक चिकित्सक इस रोग मे 'एलकोसिन' का तथा आवश्यकता पडने पर 'पेनेसीलीन' का व्यवहार करते है। इनका विस्तृत वर्णन परिशिष्ट मे देखें।

आक्षेपक ज्वर

(Cerebro-spinal fever)

यह वातोल्वण सन्निपात ज्वर का ही आवान्तर रूप है। इस विकार मे ज्वराक्रान्त रोगी अपने अङ्गो को वार-वार सकुचित तथा प्रसारित करता रहता है अर्थात् हाथ-पैरो को फेकता रहता है, विकृत चेष्टाये करता रहता है। अतः इसकी सज्ञा 'आक्षेपक ज्वर' है। इसमे ज्वर का वेग तथा सताप भयङ्कर होता है तथा रोगी सज्ञाहीन हो जाता है।[1]

निदान—यह जीवाणु सभव व्याधि दरिद्रो को जो अति सकुल (वहुजनाकुल) धूम तथा धूलि से व्याप्त प्रदेश मे निवास करते है, अधिक आक्रान्त करती है।[2]

---

१ 'आक्षिप्यन्ते यतोऽङ्गानि सकोच यान्ति चाङ्गमा।
घोरो ज्वरश्च सज्ञाहत सोऽयमाक्षेपको ज्वर.॥' (सि नि)

२ 'वसता सकुले देशे रजोधूमाकुले चिरम्।
दरिद्राणा भवेद् भूम्ना सोऽय जीवाणुसभवः॥' (सि. नि)

सम्प्राप्ति—इस रोग के जीवाणु मस्तिष्कमूल मे स्थित सुषुम्नाकाण्ड के चारो तरफ फैली हुई कलाओ मे, प्रवेश कर अपने विष को उत्सर्जित करते हैं तथा तत्रस्थ लसिकाओ को उस विष से आक्रान्त कर सभी दोषो को प्रकुपित करते है। इस विष का प्रभाव सज्ञावह केन्द्रो पर होने से सज्ञानाश तथा चेष्टावह नाडियो मे उत्तेजना उत्पन्न करने से अङ्गो मे आक्षेप एव शाखाओ का सकोच प्रसार अप्राकृतिक रूप मे होने लगता है।[1]

लक्षण—इस रोग मे तीव्र शिर पीडा, वमन, शीतपूर्वक कम्प का कभी-कभी होना तथा तत्पश्चात् ग्रीवा तथा पृष्ठ के पेशियो मे दृढ संकोच होने से ग्रीवास्तम्भ, एव शिर का पीछे घुम जाना (आकृष्ट हो जाना), ये लक्षण होते हैं। ज्वर के सताप की नित्य वृद्धि होती है तथा शाखायें स्तब्ध हो जाती हैं। अङ्गो का सकोच होता रहता है तथा दृष्टि वक्र हो जाती है। तन्द्रा, प्रलाप तथा मोह (सज्ञानाश) से रोगी पीडित होता है एव रुक-रुक कर आक्षेप के लक्षण होते हैं। अङ्गो मे श्याव तथा रक्तवर्ण के चकत्ते (अभिघातजन्य रक्त-स्कन्ध से उत्पन्न त्वचा पर चकत्ते के समान) निकल आते हैं। इस आक्षेपक ज्वर मे क्रमश सभी इन्द्रियो के कर्मो का नाश हो जाता है अर्थात् सभी इन्द्रियां अकर्मण्य हो जाती है। इस दारुण विकार मे उचित प्रतिकार सद्य न होने पर रोगी १ से ३ दिनो के अन्दर मर जाता है। कभी-कभी ४ से ७ दिन तक भी रोगी क्लेशो से आक्रान्त रह मृत्यु को प्राप्त होता है। गुणवत् चतुष्पाद के होने पर तथा सद्यः उचित प्रतिकार से कोई-कोई रोगी बच भी जाता है।[2]

प्रतिकार—इस सन्निपात ज्वर मे रोगी को आक्षेप तथा सज्ञानाश ये दो

---

१. 'मस्तिष्कमूले पारत सुषुम्नाकाण्ड च तच्छदितकलान्तराले।
विषं क्रमात् पूयसमा लसीका सहत्य दोषानखिलान् प्रकोप्य॥
चेष्टावहानाम। नाडिकानामुत्तेजनादाक्षिपदङ्गकानि।
सकोच्य शाखाश्च निहन्ति सज्ञामाक्षेपके दुर्लभजीवितस्य॥' (सि नि)

२ 'तीव्रा शिरोरुग् वमथु शीतकम्पौ च जातुचित्।
ग्रीवास्तम्भः क्रमाच्छीर्ष पश्चादाकृष्यते बलात्॥
ज्वरश्च वर्धते नित्य शाखा स्तब्धीभवन्ति च।
संकोचं यान्ति चाङ्गानि दृष्टि यातश्च वक्रताम्॥
तन्द्रा पलापो मोहश्च आक्षेपश्चान्तरान्तरा।
लक्ष्मणा श्यावरक्ताना गात्रेषु च समुद्भव॥
सर्वेन्द्रियप्रणाशश्च क्रमादाक्षेपके ज्वरे।
एकाहान्म्रियते कश्चित् त्र्यहाद्वा दारुणे ग्रहे॥
क्लिश्यंश्चचतुराद् वाऽथ सप्ताहात् विजहात्यसून्।

लक्षण अति उग्र रूप मे होते हैं। अत: सर्वप्रथम रोगी को ऐसे बाह्य तथा आभ्यन्तर उपचार करने की आवश्यकता होती है जो मस्तिष्क की तथा हृदय की दशा को सुधारे। इस कार्य के लिए 'सुवर्ण भूपति रस' 'योगेन्द्ररस' 'हिरण्यगर्भ पोटली रस' तथा 'वृहत् कस्तूरीभैरव' रस का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये। सिर पर 'श्रीगोपाल तैल' तथा 'महाविष्णु तैल' की पट्टी देनी चाहिए। सञ्ज्ञानाश को दूर करने के लिए उद्बोधन नस्य का प्रयोग करना चाहिये। प्रलाप तथा ज्वर के ताप को शान्त करने के लिए 'गोदन्ती मिश्रण' का तथा 'तगरादि क्वाथ' का प्रयोग श्रेयस्कर है।

सामान्य रूपेण प्रतिकार की व्यवस्था तो सन्निपात ज्वर की ही होती है। यह रोग प्राय: साघातिक होता है इसका निर्देश पहले कर चुके है।



तृतीयाध्याय

विषमज्वर

आयुर्वेद वाङ्मय मे 'विषमज्वर' पद एक विशेष अर्थ में व्यवहृत हुआ है। आजकल कुछ चिकित्सक 'मलेरिया' और विषमज्वर' को पर्याय मानने लगे है। ऐसा करना मेरे विचार से युक्तियुक्त नही। विषमज्वर की अपनी विशिष्ट परिभाषा है। सभव है मलेरिया भी उसके अन्तर्गत आ जावे। पर मलेरिया ही विषमज्वर है ऐसा मानना उचित नही। मेरे विचार से संहिताग्रन्थो मे उक्त विषय का सुन्दर विवेचन किया गया है। अतः इसका निर्णय संहितोक्त तत्सबन्धि विषयो का अवगाहन करने के पश्चात् ही करना समुचित है।

काश्यपसहिता मे समज्वर तथा विषमज्वर का जिस प्रकार भेद किया गया है वैसा वर्णन अन्यत्र नही प्राप्त होता। खिल स्थान के प्रथम अध्याय मे (जिसका नाम विषमज्वरनिर्देशीय अध्याय है) सर्वप्रथम 'समज्वर' का लक्षण कहकर पुन: 'विषमज्वर' का वर्णन किया गया है। वेदो मे इसे 'अन्नत-ज्वर' कहा है।

काश्यप ने वृद्धजीवक के प्रश्नो का उत्तर देते हुए कहा है कि 'स्वल्प कारणों वाला अर्थात् (जिसका उत्पादक कारण सख्या तथा बल मे अल्प हो) अल्प कारणो से उत्पन्न होने वाला वहिमार्ग अर्थात् जो बाह्यरोग मार्ग—त्वचा तथा रसादि धातुओ मे ही लीन हो और वहिर्वेग वाला—वैकृत उपद्रव रहित, एक आश्रय वाला अर्थात् एक ही धातु मे स्थित, सुखपूर्वक चिकित्स्य लघुपाकी (जिसमे दोषो का पाचन शीघ्र हो) ज्वर को समज्वर कहते हैं।[1] चरक ने भी वहिर्वेग ज्वर को सुखसाध्य कहा हैं।[2]

इस उपर्युक्त ज्वर के लक्षणो से विपरीत लक्षण वाला ज्वर 'विषम ज्वर' कहा जाता है। यहाँ विकृत ज्वर का अभिप्राय ऋतु विपरीत आरम्भक दोष से है। क्योकि ऋतु के अनुकूल आरम्भक दोष के होने से प्राकृत ज्वर कृच्छ्र-साध्य होता है। इस विषम ज्वर के अन्तर्गत 'सन्तत ज्वर' 'प्रेतोत्थ ज्वर'

---

१ अल्पहेतुर्वहिर्मार्गो वैकृतो निरूपद्रव:।
एकाश्रय सुखोपायो लघुपाक समो ज्वर ॥ (का खि १-८)

२ सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीना च मार्दवम्।
वहिर्वेगस्य लिंगानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥ (च. चि अ. ३)

"ग्रहोत्थ ज्वर" तथा अन्य चार विषम रूप से उत्पन्न होने वाले ज्वरो (सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थक) को ग्रहण किया है। सतत ज्वर के लिये कहा है कि तीक्ष्ण तथा समज्वर से विपरीत लक्षणवाला होने से इसे भी विषम ज्वर के अन्तर्गत माना गया है।[1]

इन उपर्युक्त सततादि ज्वरो को विषमज्वर संज्ञा देने की युक्ति प्रदर्शित करते हुये कहा है कि "ये दुर्जय होते है तथा उग्र एव दुष्ट ग्रहो द्वारा गृहीत होने पर उत्पन्न होते हैं, और भयकर (दारुण) लक्षणो को उत्पन्न करते हैं।" अत इन्हे विषमज्वर कहा गया हे।

विषमज्वर के सम्बन्ध मे अन्य आचार्यो ने भी अपने मत व्यक्त किये हैं। जैसे:—

(१) चरकः—प्राय. सन्निपात अर्थात् तीनो दोषो के प्रकोप से पाँच प्रकार के विषमज्वर देखे जाते हैं।[2]

(२) सुश्रुत.—आरम्भ से ही अल्प दोष (निर्बल दोष) अथवा ज्वरमुक्त होने हर शेष अल्प दोष मिथ्या आहार-विहार के करने से पुन प्रकुपित होकर रसादि धातुओ मे से किसी को भी प्राप्त कर (दुष्टकर) विषमज्वर को उत्पन्न करता है।[3]

(३) वाग्भट:—जिस ज्वर का आरम्भ, क्रिया तथा काल विषम हो वह "विषमज्वर" कहलाता है।[4]

(४) भालुकि —जो ज्वर शीतपूर्वक तथा उष्णतापूर्वक (शीत लगकर या गर्मी लगकर) अनियत काल से आता है तथा जिसका वेग भी विषम होता है वह ज्वर "विषमज्वर" कहलाता है।[5]

(५) खरनाद:—सतत आदि पाँच ज्वरो के जो वर्णन किये गये हैं उनमे से सतत को छोडकर चार को विषमज्वर जानना चाहिये।[6] अर्थात् सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चातुर्थक ही विषमज्वर हैं।

---

१. विषमस्तद्विपर्यस्तस्तीक्ष्णत्वात् सततो मन ।
तद्वत्प्रेतग्रहोत्था ये चत्वारो विषमागमात् ॥ (का खि १–९)

२ च चि. ३–७४।

३ सु. उ त. ३९।

४ विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान् । (वा. नि. २)

५. यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्या तथैव च ।
वेगतश्चापि विषम. स ज्वरो विषम स्मृतः ॥ (भालुकि.)

६ ज्वरा: पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सततकादय. ।
चत्वारः सतत हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वरा ॥ (खरनाद)

पर = भूतादि हेतु अथवा स्वभाव को भी कुछ लोग विषमज्वर का कारण मानते हैं।

(६) विषमज्वर मे प्राय आगन्तु कारणों का अनुबन्ध रहता है।[1] (सुश्रुत)

(७) कतिपय विद्वान् विषमज्वर को भूताभिषङ्गोत्थ मानते हैं।[2] (सुश्रुत)

(८) कुछ विद्वान् "मुक्तानुबन्धित्व" लक्षण पर अधिक बल देते हैं।[3] (मधुकोष)

(९) कुछ विचारक तृतीयक तथा चातुर्थक को ही विषमज्वर मानते हैं। जैसे दारुवाह।[4]

इन उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि—"विषमज्वर" की परिभाषा मे मतैक्य पुराने आचार्यों मे नही था। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो मे विषमज्वरो का वर्णन किया गया है। इन उपर्युक्त सभी विचारो को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

(१) सतत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, तथा चातुर्थक ये सभी (पाँचो) समज्वर के लक्षणो से विपरीत होने के कारण, तीक्ष्ण होने के कारण, विषमरूप से उत्पन्न होने के कारण तथा इनमे मुक्तानुबन्धित्व लक्षण होने के कारण विषमज्वर हैं।

(२) सतत ज्वर के वेग का अविसर्गी लक्षण होने से इसे छोड़कर शेष सतत आदि चार विषमज्वर हैं।

(३) तृतीयक तथा चातुर्थक ही विषमज्वर हैं क्योकि इनमे सूक्ष्मतम एव दूरतर धातुये दूषित होती हैं।

महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी ने भालुकि के वचनो को उद्धृत कर विषमज्वर की परिभाषा इस प्रकार की है :—

'अनियत काल से अर्थात् जिसके आरम्भ तथा व्याप्ति मे काल नियत न हो ऐसा शीतपूर्वक तथा दाहपूर्वक उत्पन्न होने वाला ज्वर जिसका वेग भी विषम अर्थात् कभी तीव्र तो कभी मन्द सन्तापयुक्त हो वही विषमज्वर है। इस प्रकार काल प्रभृति का वैषम्य ही विषमज्वर की सज्ञा का बीज (मूलकारण)

---

१. परो हेतु: स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरित ।
'आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमे ज्वरे॥' (सु. उ अ. ३९-५६)

२. केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्। (सु उ अ. ३९-६८)

३. मुक्तानुबन्धित्व विषमत्वम्। (मधुकोषः)

४. चक्रपाणिदत्तः—अन्ये तु तृतीयकचतुर्थकावेव विषमौ, विषमाणां चिरेणोत्पादात् यदाह—दारुवाहः।

है।" इस परिभाषा के समर्थन मे उन्होने वाग्भट के वचनो को उद्धृत किया है। जैसे :—विषमो विषमारम्भ क्रियाकालोऽनुषङ्गवान्" अर्थात् जिस ज्वर के आरम्भ अर्थात् ज्वर की प्रकृति, क्रिया अर्थात् ज्वर सन्ताप आदि और काल अर्थात् आक्रमणकाल और भोगकाल ये तीनो ही विषम हो और ज्वर इन तीनो प्रकार के विषमताओं से अनुबद्ध हो उन्हे विषमज्वर कहते हैं। ज्वर की प्रकृति सताप है। इस सताप का कभी शीतपूर्वक होना और कभी दाहपूर्वक होना तथा कभी विना दोनो के हो जाना प्रकृति का वैपम्य है। इसी प्रकार ज्वर के वेग का कभी मन्द होना कभी तीव्र होना उसके क्रिया का वैषम्य है और तृतीयक आदि ज्वरो के नियतकाल होने पर भी कभी शीघ्र आगमन तो कभी विलम्ब से आगमन उसके आरम्भ का वैषम्य एव कभी अधिक काल तक ज्वर का बना रहना और कभी अल्पकाल तक ही रहना उसके भोगकाल क वैपम्य है। कुछ विचारक इन लक्षणो को प्रायिक मानते हैं। वे "मुक्तानुवन्धित्व" पर अधिक बल देते हैं। सतत ज्वर जिसको खरनाद ने विषमज्वर से पृथक् कहा है उसके सम्वन्ध मे ऐसे विचारको का कहना है कि सतत ज्वर को यद्यपि अविसर्गी कहा गया है तथापि इस ज्वर मे भी अव्यक्त लक्षण विसर्ग होता ही है।

इसके समर्थन मे चरक के ही (जिन्होंने इसे अविसर्गी कहा है) वचनों को उद्धृत करते हैं। जैसे :—

"विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः।
दुर्लभोपशम काल दीर्घमप्यनुवर्तते ॥ (च० चि० अ० ३)

इस प्रकार सतत ज्वर का भी अन्तर्भाव विषमज्वर मे हो ही जाता है। काश्यप ने तो समज्वर तथा विषमज्वर की स्वतन्त्र परिभाषा देकर इस सन्देह या शंका के लिये स्थान ही नही दिया है। सभव है खरानन्द ने चिकित्सा सौकर्य के लिए संतत का शेष विषमज्वरो से पार्थक्य दर्शाया हो। विषम शब्द के भी संस्कृत मे दो अर्थ होते है। (१) अनियमित, (२) विकट। इस शब्दार्थ के कारण भी सततज्वर विषमज्वर में गिना जाता है। चक्रपाणिदत्त ने भी कहा हे कि "विषमत्व विषमकालेनभवति-यदुक्तम्—"विषमो विषमारम्भ क्रियाकालोऽनुषङ्गवान्।" अतः सततज्वर मे भी बारहवें दिन विसर्ग होकर तेरहवे दिन पुन ज्वर का अनुवन्ध होने से काल वैषम्य हो जाने के कारण विषमज्वर के अन्तर्गत आ जाता है।

विजय रक्षित द्वारा पठित "मुक्तानुबन्धित्व विषमत्वम्" लक्षण भी चिन्त्य है। क्योकि आयुर्वेद-दृष्ट्या विषमज्वरो मे सर्वथा ज्वरमोक्ष होता ही नहीं।

इसमे बाह्यरूप से ज्वर मोक्ष के दृष्टिगोचर होने पर भी चिरकाल तक धातुओ मे प्रच्छन्न रूपेण ज्वर रहता ही है। सुश्रुत ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि—

"स चापि विषमो देह न कदापि विमुञ्चति।
ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते॥
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते।
धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते॥

(सु० उ० अ० ३९)

अर्थात् यह विषमज्वर कभी भी शरीर को मुक्त नही करता। यही कारण है कि ज्वर न दिखाई पडने पर भी इससे आक्रान्त मनुष्य ग्लानि, गौरव तथा कार्श्य से मुक्त नहीं होता। ज्वर वेग के चले जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ज्वर भी चला गया। परन्तु वह धातुओं मे प्रच्छन्न रूप से रहता ही है। धातुओं मे लीन रहने के कारण तथा सूक्ष्म रूप मे रहने के कारण उसकी उपलब्धि नही होती।'[1]

ऐसी परिस्थिति मे भालुकि प्रोक्त तथा वाग्भटोक्त लक्षण ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। क्योंकि इन लक्षणो मे सभी लक्षणो का अन्तर्भाव हो जाता है। आधुनिक चिकित्सको के विचारो का भी इसमे सामजस्य हो जाता है। आधुनिको ने कारणो के आधार पर इस सतत ज्वर (Remittent fever) को भी विषमज्वर मे ही गणना की है। इनका कहना है कि इन सभी ज्वरो मे तुल्य आकृति वाला जीवाणु का संक्रमण होता है, तथा चिकित्सा भी तुल्य (एक समान) ही है। आधुनिको ने सुश्रुत के इस वचन पर कि "विषमज्वर मे प्रायः आगन्तुक कारणो का अनुबन्ध रहता है" अधिक बल दिया है। आयुर्वेदीय वाङमय मे भी आगन्तुक का अर्थ बाह्यकारण जो साक्षात् रोगोत्पादक ही होता है। सुश्रुत का यह वचन इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि विषमज्वर मे ये आगन्तुक कारण (जीवाणु) रोगोत्पत्ति मे धातुवैषम्य की अपेक्षा प्राय: नही करते। प्रायः शब्द द्वारा यह संकेत प्राप्त होता है कि कभी-कभी धातु वैषम्य की भी अपेक्षा होती है। सभव है इस प्रायः को ही स्पष्ट करने के लिए सुश्रुत ने विषमज्वर की सम्प्राप्ति मे कहा है कि :—

"दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥

इस उपर्युक्त "आगन्तुरनुबन्ध" की व्याख्या यदि नव्यमतानुसार करे तो यही कहना पडेगा कि ये आगन्तुक कारण सूक्ष्म असहाय चक्षुओ से अदृश्य रक्त-

---

१. का. सं. अ. १-२४।

योनि जीवाणु ही है। इनका प्रत्यक्षीकरण अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा किया जाता है। विषमज्वर को भूताभिषङ्गोत्थ जो कहा गया है इसकी भी व्याख्या इसी प्रकार की जा सकती है। महामहोपाध्याय जी ने अपनी व्याख्या मे कहा भी है कि—"भूताभिषङ्गो नाम भूताना सूक्ष्मप्राणिना जीवाणूनामभिषङ्ग" इति व्याचक्षीरन् नव्या. (सि० नि०) अर्थात् ये ज्वरकरजीवाणु सन्तत आदि पॉच प्रकार के विषमज्वरो मे तुल्य आकृति होने पर भी अनेक और भिन्न जाति के होते हैं। ये ताम्र वर्ण के पादादिरहित मण्डलप्राय होते हैं। मशक, मत्कुण आदि के दश से मनुष्य मे इनका सक्रमण होता है। इस रोग से आक्रान्त रोगी से मशक दश द्वारा इसके जीवाणु को लाते हैं तथा पुनः दश द्वारा मनुष्यो मे इसका प्रवेश कराते है। मशकदश द्वारा मनुष्य शरीर के शोणितशोण कणिकाओ मे प्रविष्ट ये ज्वरकर जीवाणु अपनी सन्तति का विस्तार करते हैं तथा शनैः शनै. समग्र शोणित शोणकणों को आक्रान्त कर—विषमज्वर के लक्षणो को उत्पन्न करते हैं।

सुश्रुत की सम्प्राप्ति के अनुसार विषमज्वर दो प्रकार का प्रतीत होता है एक आगन्तुज और दूसरा निज। इनमे पहला अर्थात् आगन्तुज सम्प्रति अधिक दृष्टिगोचर होता है, जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। दूसरा निज तब उत्पन्न होता है जब ज्वरोत्सृष्ट मनुष्य के पूर्वावशिष्ट अल्पदोष (वातादि) मिथ्या आहार-विहारवश प्रकुपित होकर रस रक्तादि अन्यतम धातु को दूषित कर पुन. ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

साम्प्रदायिक चिकित्सक तो "वा" शब्द से अज्वरोत्सृष्ट पुरुष का भी ग्रहण करते हैं। परन्तु यह अर्थ अयुक्त एव अव्यवहारिक प्रतीत होता है।

इन उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्वरो के आरम्भ, क्रिया तथा काल मे वैषम्य होने का कारण बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार बीज भूमि मे प्रसुप्त पडा रहता है और समय पर अकुरित होता है उसी प्रकार दोष धातुओ मे छिपा रहता है और समय प्राप्त कर प्रकुपित होता है।[1] तात्पर्य यह कि वातादि दोष अथवा जीवाणु विशेष रसादि धातुओ मे लीन रहते हैं और समय पाकर अर्थात् दिन, दो दिन तथा तीन दिनो के अन्तर से उल्बण (प्रकुपित हो) सम्पूर्ण शरीर को ज्वरित (ज्वराकान्त) करते है।

सुश्रुत का पुन कहना है कि जो कृश तथा ज्वर मुक्त (जिसका ज्वर उतर गया है ऐसा) या जिसको ज्वर हुआ नही है ऐसा मनुष्य जब मिथ्याहार तथा विहार का सेवन करता है तब उसके शरीर में अल्प भी वातादि दोष

---

१. अविशन यथा भूमि बीज काल प्ररोहति।
अविशेते तथा धातून् दोष' काले च कुप्यति॥ (च चि अ. ३-६८)

प्रकुपित तथा वायु से प्रेरित होकर आमाशय, उर (छाती) कण्ठ, शिर और सन्धि इन पाँच कफ स्थानो मे से किसी एक कफ स्थान मे रहकर क्रमश. सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चातुर्थक तथा प्रलेपक इन पाँच प्रकार के ज्वरो को उत्पन्न करते हैं ।[1]

विषमज्वरो की सम्प्राप्ति तथा कारणो का वर्णन करते हुए काश्यप ने कहा है कि—"सतत आदि चारो प्रकार के ज्वरो मे काल की विषमता जिस प्रकार होती है उसका वर्णन करूँगा । सम्पूर्ण अथवा दो दोष विषम रूप मे—रसवाहिनी धमनियो मे पहुँच कर ज्वरो (विषमज्वरो) को उत्पन्न करते है ।[2]

इन दोषो के विषम तथा प्रकुपित होने का कारण बतलाते हुए कहा है कि—"जो व्यक्ति ज्वर से पीडित रहने की अवस्था मे तथा ज्वर से मुक्त हो जाने पर शीघ्र ही व्यायाम, गुरु एव असात्म्य भोजन करते है तथा अधिक मात्रा मे जल, दूध या खीर, खीचडी, उडद की पिट्ठी के बने हुए पक्वान्न, मास, ठीक नही जमा हुआ दधि, पिण्याक, उडद के बने हुए पदार्थ, ग्राम्य तथा आनूपमास और इसी प्रकार के अन्य विरुद्ध एवं गुरु पदार्थों का सेवन करते हैं तथा दिवा-स्वप्न (दिन मे सोना) अजीर्ण तथा अध्यशन करते हैं उनका ज्वर बढता है, तथा शीघ्र ही विषमज्वर का रूप धारण कर लेता है ।[3]

---

१ कृशाना ज्वरमुक्ताना मिथ्याहारविहारिणाम् ।
दोषः स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरित. ॥
सततान्येद्युष्कत्र्याख्य-चतुर्थान् सप्रलेपकान् ।
कफस्थानविभागेन यथासख्य करोति हि ॥
अहोरात्रादहोरात्रात स्थानात्स्थान प्रपद्यते ।
ततश्चामाशय प्राप्य दोषः कुर्याज्ज्वर नृणाम् ॥ (सु उ अ. ३९)

२. तथा सततकादीना चतुर्णा कालक रितम् ।
विषमत्व प्रवक्ष्यामि ज्वराणा जायते यथा ॥
समस्तो द्वन्द्वगो वाऽपि धमनी रसवाहिनी. ।
दोषा. प्रपन्नाः कुर्वन्ति विषमा विषमज्वरान् ॥ (का. खि. अ. १)

३. ज्वरितो मुच्यमानो वा मुक्तमात्रश्च यो नरः ।
व्यायामगुर्वसात्म्यान्नमतिमात्रमथो जलम् ॥
पायस कृशर पिष्ट पलल दधि मन्दकम् ।
पिण्याकमाषविक्लीग्राम्यानूप तथाऽऽमिषम् ॥
एवविधानि चान्यानि, विरुद्धानि गुरूणि च ।
सेवते च दिवास्वप्नमजीर्णाध्यशनानि च ॥
ज्वरोऽभिवर्धते तस्य विषमो वाऽऽशु जायते ॥ (का खि १)

"दोषो के न पचने पर ही अर्थात् अपक्कावस्था (तरुणावस्था) मे ही जो ज्वरी कषाय का सेवन करता है अथवा लालचवश जो व्यक्ति स्नेहपान, क्षीर या संतर्पण (बृंहण) द्रव्यो का सेवन करता है तथा जो देवताओ के कोप का भाजन या ग्रह द्वारा गृहीत होता है, अथवा वमन, विरेचन, स्नेहपान या अनुवासन का प्रयोग करने के बाद शीघ्र ही शीतोपचार गुरु अन्न का सेवन तथा मैथुन करता है, उस व्यक्ति के भी अस्थियो की मज्जा के अन्दर प्रकुपित वायु के प्रवेश हो जाने पर कफ तथा पित्त का भी प्रकोप हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप धातुओ मे वैषम्य उत्पन्न हो जाने पर यथानुरूप सतत, अन्येद्युष्क तृतीयक तथा चातुर्थक नामक विषमज्वर उत्पन्न होता है।"[1] ये विषमज्वर शान्त नही होते अथवा इनका प्रकोप पुन. नही ऐसी बात नही है। तात्पर्य यह है कि ये शान्त होकर पुन' प्रकुपित होते है। साथ ही इनके शमन तथा प्रकोप के काल का भी अतिक्रमण नही होता अर्थात् ये अपने निश्चित समय पर शान्त हो जाते हैं तथा पुन. अपने निश्चित काल पर आ भी जाते हैं।[2]

ये ज्वर अनुषगी या अनुशयात्मक होते हैं अत इनका स्वभाव शान्त नही होता। स्वभाव के शान्त हो जाने पर पदार्थो की पुन उत्पत्ति नही होती। अर्थात् इनका स्वभाव नष्ट नही होता है अतः ये बार-बार अपना रूप प्रकट करते हैं।[3]

अवधेय :—ज्वर की सामान्य सम्प्राप्ति मे कहा गया है कि वातादि दोष प्रथम आमाशय मे आते है तत्पश्चात् रसानुग हो (रसधातु मे मिलकर) तथा समग्र शरीर मे फैलकर (व्याप्त होकर) ज्वर (सन्ताप) को उत्पन्न करते है। इस प्रकार दोषो का आमाशय मे आना, रसधातु मे मिलना तथा रस द्वारा समग्र शरीर मे व्याप्त होना ज्वरोत्पत्ति के लिए आवश्यक माना गया है। पुनः यह भी कहा गया है कि ये वातादि ज्वरकाल के कोई नियम न होने से दो या तीन दिन तक रहकर उतर जाते है जो बिना अपथ्य सेवन के पुन नही आते। परन्तु सन्तत आदि विषमज्वर सप्ताह आदि नियत समय तक रहकर उतरते हैं और बिना अपथ्य सेवन के भी पुन आते हैं। अर्थात् जब तक उनकी सम्यक् चिकित्सा न की जाय तब तक आते रहते हैं। ये पुनः क्यो आते हैं इसका संकेत शल्यतन्त्र-

---

१ का. चि अ १-१६-२० तक।

२. न च नोपशम यान्ति न च भूयो न कुप्यन्ति।
शमप्रकोपयो काल न चायमतिवर्तते ॥ (का चि. १)

३ न च स्वभावोपशम गच्छत्यनुशयात्मक।
नहि स्वभावशान्ताना भावानामस्ति सभव. ॥ (का. चि. अ १)

विदो की दृष्टि से (सुश्रुत के अनुसार) तथा कायचिकित्साविदो की दृष्टि से (चरक के अनुसार) पहले कर चुके हैं।

चरक के प्रसिद्ध टीकाकार चक्रपाणि दत्त ने अपनी व्यख्या मे दारुवाह के वचनो का उद्धरण देकर कहा है कि रक्तादि उत्तरोत्तर धातुओ के स्रोत सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम मुख वाले होते हैं तथा दूर, दूरतर और दूरतम होते है। अत' रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि तथा अस्थि से मज्जा मे रहे हुए दोष को रस धातु मे पहुंचने मे अधिकाधिक विलम्ब होता है। इसलिए ज्वर के सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयकर और चातुर्थक ज्वरो के वेगागमन काल मे अंतर या विलम्ब दृष्टिगोचर होता है।[1]

विषमज्वर के प्रकार—काश्यप के अनुसार—(१) सन्तत, (२) सतत, (३) अन्येद्युष्क, (४) तृतीयक, (५) चातुर्थक, (६) प्रेतज्वर, (७) ग्रहोत्थज्वर।[2]

चरक के अनुसार प्रथम पाँच ही विषमज्वर है। सुश्रुत ने प्रथम पाँच के साथ प्रलेपक ज्वर को भी विषमज्वर के अन्तर्गत गिनाया है।[3] इनके अतिरिक्त तीन अन्य ज्वरो को भी सुश्रुत ने विषमज्वर के अन्तर्गत माना है। जैसे—(१) वातबलासक, (२) औपत्ययिक तथा (३) मद्य समुद्भव ज्वर।[4]

महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी ने (सिद्धान्त निदान मे)—(१) वातबलासक, (२) श्लैपदिक, (३) कालज्वर तथा (४) औपद्रविकज्वरो को भी विषमज्वर के अन्तर्गत ही माना हे।[5]

इस प्रकार— (१) सन्तत, (२) सतत, (३) सततभेद कालज्वर, (४) अन्येद्युष्क, (५) तृतीयक, (६) चातुर्थक, (७) प्रेतज्वर, (८) ग्रहोत्थज्वर, (९) प्रलेपक ज्वर, (१०) वातबलासक ज्वर, (११) श्लैपदिक ज्वर, (१२) औपद्रविक ज्वर, (१३) औपत्ययिक ज्वर तथा मद्यसमुद्भव विषमज्वर के अन्तर्गत आते है।

---

१ यदाह दारुवाह —सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च।
दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्प चिरेण यत्॥
यानि देह न वा (चा) शेष (?) भूयिष्ठ दोषजेऽपि च।
क्रमोऽय तेन विच्छिन्नसतापो लक्ष्यते ज्वर ॥ (च० द०)

२ का स० खि ९, च चि अ ३।

३ सु उ अ ३९, ५१-५२।

४ सु उ अ ३९; ५७-५८।

५ सि नि पेज १५०-१८३-१८५।

अवक्षेय—काल ज्वर के सम्बन्ध मे महामहोपाध्याय जी ने कहा है कि किञ्चिद्भिन्न होने पर भी यह सतत ज्वर का अवान्तर रूप ही (जीर्ण) प्रतीत होता है। वातबलासक तथा प्रलेपक काश्यप की परिभाषानुसार समज्वर के विपरीत होने से विषमज्वर मे ही आता है। श्लैपदिक ज्वर भी कारणो के अनुसार तथा लक्षणो के अनुसार विषम ज्वर के ही अन्दर आता है। उपलब्ध शास्त्रो मे पञ्चाहिक ज्वर, षडाह ज्वर, पाक्षिक ज्वर, मासिक ज्वर, सम्वत्सरोत्थित ज्वर, चिर ज्वर प्रभृत्ति का भी सकेत प्राप्त होता है।[1]

सन्तत ज्वर

सन्तत ज्वर—सात दिन, दश दिन अथवा बारह दिन तक—लगातार नही उतरनेवाला जो विषमज्वर होता है उसे सन्तत ज्वर कहते हैं।[2] सन्तत और अविसर्गी इन दो विशेषणो द्वारा इस ज्वर के दारुण सन्तापादि लक्षित घोर रूप का तथा सर्वधातु एवं मलो की दुष्टि का सूचक कहा गया है। चरक ने स्पष्ट किया है कि इस ज्वर मे जिस प्रकार धातुये दूषित होती हैं उसी प्रकार मूत्र, पुरीष तथा अनिलादि मले भी युगपत् दूषित हो जाते है।[3] यह अविसर्गी होने पर भी क्यो विषमज्वर के अन्दर ग्रहण किया गया इसका विवेचन पहले कर चुके हैं। इसमे तीनो दोषो का प्रकोप होने से मोह, प्रलापादि सान्निपातिक लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं तथा यदि रसादि धातुये उचित रूप से शुद्ध नही हो पायी तो सप्ताहादि उपर्युक्त अवधि के अन्दर घातक भी सिद्ध होता है।[4] इसमे बारहवे दिन अव्यक्त लक्षण विसर्ग होता है इसका सकेत पहले कर चुके है।

सम्प्राप्ति—इस ज्वर मे बढ़े हुए दोष रसवह स्रोतो द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं। जिससे सम्पूर्ण शरीर स्तब्ध तथा ज्वरित (सतप्त) हो जाता है। पुन सात दिन, दस दिन तथा बारह दिन अथवा प्रतिकार के अभाव मे इससे भी अधिक दिनो तक अत्यन्त क्लेशकारी लक्षणो को उत्पन्न करते है। यह ज्वर शीघ्रकारी होने से शीघ्र ही (उपर्युक्त अवधि के अन्दर) प्रशान्त हो जाता है अथवा ज्वरित पुरुष को मार डालता है। यह निष्प्रत्यनीक होने से अत्यधिक दुःसह माना जाता है।[5] मलेरियल रेमिटेन्ट (Malerial remitent fever) ज्वर का अन्तरभाव इसमे सम्भव है।

---

१ (अ) मेघज्वर (ब) धा. र।

२ सप्ताह वा दशाह वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्तत स निगद्यते॥

३. च. चि अ ३–५६।

४ मि नि पे १११।

५ च. चि ३–५३ से ६० तक।

सततक ज्वर

सततक ज्वर:—वेदो मे इसे "उभयद्यु ज्वर" कहा है।

इसे द्विकालीन ज्वर भी कहा जाता है। इस ज्वर मे ज्वर का वेग दिन-रात मे दो बार चढता तथा उतरता है। यह कृच्छ्रसाध्य कहा गया है।[1] इसमे ज्वरोत्पादक दोष आमाशय मे रहता है और दिन मे एक बार तथा रात मे एक बार इस प्रकार दिन-रात मे दो बार ज्वर चढता है तथा उतरता है।[2] किसी-किसी व्याख्याकार ने "अहो रात्रे द्वौ कालौ" का अर्थ दिन मे दो बार तथा रात्रि मे दो बार ऐसा किया है।[3] काश्यप ने इसे आग्नेय ज्वर माना है। आमाशयस्थ दोष के होने से दिन-रात ज्वर बना रहना चाहिए। इस शका को दूर करने के लिए आचार्य ने कहा है कि दोष अपने प्रकोप काल मे ही ज्वर उत्पन्न करता है अत सतत ज्वर दिन रात मे दो बार ही दोष के प्रकोप काल मे होता है।[4]

इस ज्वर का दोष रस तथा रक्तधातु मे लीन रहता है। पाठभेद होने से कई आचार्य सन्तत ज्वर को रसधातुलीन तथा सतत को रक्तधातुलीन भी मानते हैं।[5] चरक के परवर्ती वचन सतत ज्वर को रक्तधातुलीन होना ही पुष्ट करता है।[6] काश्यप ने कहा है कि ज्वरोत्पादक हेतु एव दोष का आश्रय करके जो नियमपूर्वक दिन रात मे दो बार निश्चित समय पर काल एव हेतुकृत बल से दो बार ज्वर के वेग को प्रकट करता है उसे सततक ज्वर कहते हैं। चरक ने इसे सप्रत्यनीक ज्वर कहा है। अर्थात् इस ज्वर मे क्षय वृद्धि समय से होता है।[7] आधुनिको का डबल कोटेडियन (Duble Qotıdıan) ज्वर का अन्तर्भाव इसमे हो सकता है।

---

१ अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते। (सु. उ ३९ च. चि ३)
सकृच्छ्रसाध्यो......(सि नि)

२. (अ) तत्र आमाशयस्थ: सतत करोति स च प्रतिदिन कालद्वयमनुवर्तते। (डल्हण)
(ब) अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते इति द्वौ कालौ रात्रौ, अह्नि वा द्वौ कालौ, अह्नि एककाल रात्रावेककालमेव वा, द्वौ कालाविनिर्गान देवः।" (चि र.)

३. आ. द. टीका।

४. आ. द. टीका।

५. "सतत रसरक्तस्थ:" "सतत रसरक्तस्थ. वा"। (सु उ ३९)

६ रक्तधात्वाश्रय· प्रायो दोष सततक ज्वरम्॥ (च. चि ३-६१)

७ (क) का स० खि स्था १-३१-३२।
(ख) च चि. अ ३-६२।

सततभेद काला ज्वर

महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन जी ने जीर्ण सततक ज्वर का कालज्वर (Kala-Azar) माना है। उनका कहना है कि जब यह ज्वर धातुओ मे लीन होकर समय-समय पर तथा पुन पुन. उत्पन्न होता है और इससे आक्रान्त रोगी का बल क्षीण होने लगता है, अग्निमन्द हो जाती है, वह पाण्डु (रक्ताल्पता), हस्त, पाद तथा मुख पर विशेष रूपेण शोथ, वैवर्ण्य तथा प्लीहोदर से युक्त हो जाता है। इस घोर (भयकर) ज्वर को आधुनिक चिकित्सक "कालाजार" कहते हैं। इस ज्वर मे ज्वर का वेग दो बार चढता तथा उतरता है (Duble rise of temperature) अत. यह ज्वर सतत ज्वर का ही अवान्तर रूप है। इस ज्वर का विशिष्ट कारण वृत्तप्राय सूक्ष्म जन्तु है जो प्लीहा तथा सन्ध्यस्थियो मे निवास करता है तथा रक्त को दूषित करते है। अर्थात् रक्तकणिकाओ का नाश करते हैं।'

इस रोग मे शोणकणिकाओ का अत्यधिक नाश होता है जिससे रोगी शीघ्र ही विवर्ण या पाण्डु वर्ण का हो जाता है। इस ज्वर के मूलोत्पादक जीवाणु की खोज लेसीमन तथा डोनोमेन ने किया था, अतः इनका नामकरण भी उनके नाम पर ही हुआ।

उपद्रव—इस रोग मे आक्रान्त रोगियो मे प्रायः अतिसार, नाक तथा दन्तवेष्टो से रक्त का बार-बार निर्गम, कोथ (कपोल के मास का) ये उपद्रव होते हैं। कभी-कभी इन उपद्रवो के उदय हो जाने पर भी रोगी बच जाता है। सम्प्रति इस रोग की विशिष्ट चिकित्सा का आविष्कार हो जाने से समयोचित उपचार होने से कोई व्यक्ति इससे मरता नही है।

"आधुनिक चिकित्सको के अनुसार यह एक ऐसा ज्वर है जो चीन, भारत, आसाम तथा सुदान प्रदेश मे अधिक उपलब्ध होता है। इस ज्वर मे प्लीहा बढ जाती है। कभी-कभी यकृद् भी बढी हुई पाई जाती है। पाण्डुता इस रोग

---

१ जीर्णस्तु स (सततक) कालज्वर उच्यते।

(अ) यदाऽसौ धातुसलीन. काले काले पुनर्भवन्,
अग्नौ मन्दे बले हीने क्षीयमाणस्य देहिनः।
सपाण्डुशोथवैवर्ण्य प्लीहोदर युतो भवेत्
दुश्चिकित्स्यतमो घोर तदा कालज्वराभिध'।
विशिष्ट तन्निदानन्तु वृत्तप्राया हि जन्तवः,
ते सूक्ष्माः प्लीहसन्ध्यस्थिवास्तव्या रक्तदूषणाः। (सि नि)

(ब) वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषत सीदति चातुरोऽत्र।
मन्दज्वराग्नि. कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणकफोऽतिपाण्डु ॥ (सु नि अ ८)

मे शीघ्र उत्पन्न होती है। रक्त परीक्षण से ल्युकोपीनिया के लक्षण प्राप्त होते है। इस मे चिरकाल तक ज्वर आता रहता है तथा धातुक्षय होते रहते हैं। यह लेसोमोनिया डेनोमनी नामक जीवाणु से उत्पन्न होता है। परीक्षण से रक्त मे इनकी उपस्थिति प्राप्त होती है। इस जीवाणु का निवास स्थान रक्त (Monocytes in the reticular endothelium) प्लीहा तथा अस्थि मज्जा है। इसका सक्रमण सिकता मक्षिकाओ (Sand flies) से होता है। इस ज्वर का सक्रमण काल एक से बारह मास तक देखा गया है। इसमे अकस्मात् तथा अज्ञात रूप से ज्वर का आक्रमण होता है। ज्वर कभी-कभी अविसर्गी कुछ काल तक रहकर पुन. विसर्गी होने लगता है। इससे आक्रान्त रोगी का भार बहुत शीघ्र घटने लगता है तथा धातुक्षय के लक्षण उदय होने लगते है। वृद्ध प्लीहा पहले मृदु रहती है पर शनैः शनैः कठोर होती जाती है। प्लीहोदर (Leukaemia) बान्टीस डीजीज, सीष्टोसोमीयेसिस, जीर्ण मलेरिया, पुनरावर्तक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर आदि से इसका पार्थक्य करना चिकित्सा के लिए आवश्यक होता है। इसकी विशिष्ट परीक्षा द्वारा इसका निराकरण हो जाता है।

प्रतिकार - विशिष्ट प्रतिकार—ऐण्टीमोनी का एक विशिष्ट योग जिसे "यूरियास्टीबेमीन" कहते हैं इसका रामबाण औषध है।

अन्येद्युष्क ज्वर

अथर्ववद मे भी इसके नाम का उल्लेख है। (अथर्व १।२५।४) अन्येद्युष्क ज्वर दिन रात मे एक बार चढता तथा उतरता है)[1] इसमे ज्वर के वेग का कोई नियत काल (चढने-उतरने का) नही होता। परन्तु २४ घण्टे मे किसी समय एक बार चढता है। चरक ने इसको भी सप्रत्यनीक ज्वर कहा है (अर्थात् काल, दूष्य तथा प्रकृति मे से अन्यतम अर्थात् कोई भी एक या दो जिसका प्रतिकूल हो ऐसा ज्वर कहा है) अर्थात् अपने प्रकोप काल मे बढनेवाला प्रत्यनीक के प्रकोप काल मे उतरनेवाला ज्वर है। "यह ज्वर काल, प्रकृति तथा दूष्यों में से किसी एक से बल को प्राप्त कर मेदोवहासिराओ मे अवरोध उत्पन्न कर दोष इस ज्वर को दिन रात मे एक बार उत्पन्न करते है।"[2]

---

१ (क) "अन्येद्युष्क प्रतिदिनम्" (च. चि ३-६७)
(ख) अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रे एककाल प्रवर्तते। (सु उ अ. ३९)

२. "कालप्रकृतिदूष्याणा प्राप्यैकान्यतमाद्बलम्।
अन्येद्युष्क, ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहा सिरा।
स प्रत्यनीको जनयत्येककालमहर्निशि।" (च चि अ ३)

सुश्रुत के मत से इस ज्वर का स्थान मास है और चरक के मत से मेद है।[1] अन्येद्युष्क ज्वर का स्थान उर या हृदयप्रदेश कहा है। अतः उरःप्रदेश मे रहा हुआ दोष २४ घण्टे मे (दिन-रात मे) आमाशय मे आकर दूसरे दिन अपने प्रकोप काल मे (दिन-रात मे) एक बार ज्वर उत्पन्न करता है।[2]

काश्यप ने इस को अनुषंगी ज्वर भी कहा है। तथा इसकी अपर संज्ञा द्वितीयक भी दिया है। इस ज्वर को वायव्य माना है।

इस ज्वर का लक्षण आधुनिक क्वोटीडियन फीभर (Qotidian fever) के लक्षणो से मिलता है' अत' यह ज्वर कोटिडियन फीभर अन्येद्युष्क के अंदर समाविष्ट हो सकता है।

तृतीयक ज्वर

अथर्ववेद मे भी इसका उल्लेख है। (अथ० ५।२२।१३) तृतीयक ज्वर तीसरे दिन अर्थात् एक दिन बीच देकर चढ़ता उतरता है।[3] अर्थात् जिस दिन ज्वर आता है वह उसका प्रथम दिन है। पुन' दूसरे दिन अर्थात् बीच का दिन छोड़कर तीसरे दिन ज्वर का आक्रमण पुन' होता है। काश्यप ने इसे वैश्वदेव ज्वर कहा है। सुश्रुत ने इस ज्वर मे दोष को मेद मे तथा चरक ने अस्थि धातु मे लीन माना है।[4] कण्ठ देश मे स्थित दोष एक अहोरात्र मे वक्षस्थल मे तथा दूसरे दिन आमाशय मे आकर अपने प्रकोप काल मे तीसरे दिन तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है।[5] मेद मे (चरक के मत से अस्थि मे) रहा हुआ सप्रत्यनीक दोष काल, दूष्य और प्रकृति मे से किसी एक से बल प्राप्त कर के अपने प्रकोप काल मे एक दिन बीच मे छोड़कर तीसरे दिन आनेवाला तृतीयक ज्वर उत्पन्न करता है। तृतीयक ज्वर यदि कफ और पित्त से उत्पन्न हुआ हो तो

---

१ (क) "सोऽन्येद्यु' पिशिताश्रितः।" (सु उ. अ ३९)
(ख) च. चि. अ ३।

२. (क) उरस्त्वन्येद्युष्कस्थानमहोरात्रादुरश्च्युत ।
दोषा रस समासाद्य यथा दर्शयते बलम् ॥
तदानुषङ्गी स्वे काले जायतेऽन्येद्युको ज्वरः। (का. खि. अ. १-२३)
(ख) "उर स्थितोऽन्येद्युष्कम्" (डल्हन')। (सु उ. अ ३९)

३ (क) "तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि।"। (सि नि)
(ख) "दिन हित्वा तृतीयकः।" (च चि ३-६७)

४. "मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि।" (सु. उ. अ. ३९)

५ (क) "कण्ठस्थस्तृतीयकम्।" (डल्हन)
(ख) का. स. खि. अ १-२४।

त्रिक (कमर) मे, वात और कफ मे उत्पन्न हुआ हो तो पृष्ठ मे और वात पित्त से शिर मे विशेष पीडा उत्पन्न करता है।[1] आधुनिकों का यह टर्शीयन फीभर (Tertion Fever) है।

चातुर्थक ज्वर

अथर्ववेद मे इस ज्वर को "वितृतीयक ज्वर" कहा है। चातुर्थक या चतुर्थक ज्वर चौथे दिन अर्थात् दो दिन बीच मे छोड़कर आनेवाला ज्वर चातुर्थक या चतुर्थक ज्वर कहता है।[2] मज्जागत सप्रत्यनीक दोष काल, दूष्य और प्रकृति में से किसी एक से वल प्राप्त कर अपने प्रकोप काल मे दो दिन बीच मे छोड़कर चौथे दिन चतुर्थक ज्वर उत्पन्न होता है। काश्यप ने इसे ऐशान (ईशान कोण सम्बन्धी) ज्वर कहा है। चातुर्थक ज्वर यदि कफ से उत्पन्न हुआ हो तो प्रथम जंघा मे (पिण्डलियो मे) और वात से उत्पन्न हुआ हो तो प्रथम सिर मे पश्चात् समग्र शरीर मे पीड़ा उत्पन्न करता है।[3] सिर मे रहा हुआ दोष दूसरे दिन कण्ठ मे तीसरे दिन वक्षस्थल मे तथा चौथे दिन आमाशय मे आकर अपने प्रकोप काल मे चातुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है।[4] आधुनिको का क्वार्टन फीभर (Quartan fever) इस ज्वर के अन्दर आता है। चातुर्थक ज्वर को महाज्वर यथा घोरज्वर कहा है।

पहले ज्वर की सम्प्राप्ति मे कहा जा चुका है कि दोष जव आमाशय मे आता है तथा वहाँ रस धातु से मिलकर समग्र शरीर मे व्याप्त होता है तव शरीर ज्वर से संतप्त होता है। अत· आमाशय मे तथा दूर, दूरतर और दूर-

---

१ च चि. अ. ३।

२ (क) "चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः।" (सि नि)

(ख) "दिन त्रय यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थक" (च चि अ ३)

३ (क) "दोषोऽस्थिमज्जग· कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ"

(ख) चतुर्थको दर्शयति प्रभाव द्विविध ज्वर·।
जङ्घाभ्या श्लैष्मिक पूर्व शिरस्तोऽनिलसभव.॥ (च चि अ ३)

४ (क) "शिर.स्थश्चतुर्थकम्।" (डल्हन)

(ख) "शिरश्चतुर्थक स्थान चतुर्थ समुदाहृतम्"।
अहोरात्राच्च्युतः स्थानाद् दोष. कण्ठेऽवतिष्ठति॥
ततः पुनरहोरात्रादुरसि प्रतिपद्यते।
तृतीये चाप्यहोरात्रे रसधातौ प्रकुप्यति॥
चतुर्थक· स विज्ञेयः चिरस्थायी महाज्वर."॥ (का. खि अ १)

(ग) "शिर· स्थितः स्थानत्रितयमतिक्रम्य चतुर्थक चतुर्थदिवसे"। (डल्हनः)

लम कफ स्थानों मे अर्थात् उर, कण्ठ और शिर मे रहे हुये दोष से क्रमशः सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चातुर्थक ये चार प्रकार के विषमज्वर होते हैं। सतत रसधातु मे स्थित दोष वाला होने से सदा अपनी अवधि तक बना रहता है। सतत समाश्रयी दोषवाला होने से दिन रात मे दो बार चढता तथा उतरता है। इसका आश्रय आमाशय है। इसी प्रकार अन्येद्युष्क मासवह स्रोतो मे या मास धातु मे रहनेवाला उरः स्थानी ज्वर है। तृतीयक का स्थान कंठ है और वह मेदोधातु मे विचरनेवाला अर्थात् मेदोवह स्रोत मे उसके दोष विचरण करते है। इसी प्रकार चातुर्थक ज्वर का स्थान शिर माना गया गया है तथा यह अस्थि मज्जा मे विचरनेवाला अथवा अस्थि मज्जावह स्रोतो मे विचरनेवाला ज्वर है।[1]

चरक ने सतत और अन्येद्यु दोनो को शोणित सश्रित माना है साथ ही यह भी कहा है कि मेदोवह शिराओ मे अर्थात् स्रोतो मे रोध (अवरोध) उत्पन्न कर अन्येद्युष्क ज्वर उत्पन्न होता है। तृतीयक ज्वर को मास स्रोतोऽनुगत कहा है तथा चतुर्थक को मेदोमार्ग संश्रित दोषवाला माना है।[2]

सुश्रुत के प्रकाशनो मे पाठभेद भी है। किसी-किसी पाठ मे "सततं रसरक्तस्थः" पाठ है। डल्लन ने इस पाठ का समर्थन करते हुए कहा है कि चरक के प्रायिक वचन से सतत का रसाश्रित दोषवाला होना भी इससे सिद्ध हो जाता है। क्योकि शरीर को ज्वर संतप्त करने के लिए दोष का रसाश्रित हो व्याप्त होना आवश्यक होता है।[3] (आयुर्वेद वाङ्मय मे रस तथा रक्त धातु के पार्थक्य की मूल धारणा इस तथ्य को समझने मे सहायक होगी)। आचार्य गगाधर सेन ने चरकोक्त "सततक" तथा "अन्येद्युष्क" दोनो के रक्त संश्रित होने की

---

१. (क) सतत रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रित ।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः ॥
कुर्याच्चतुर्थक घोरमन्तक रोगसकरम् । (सु उ अ ३९)

(ख) "रसस्थः सन्तत, रक्तस्थः सततकम् । (मधुकोष)

२ रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोष सततक ज्वरम् ।
अन्येद्युष्क ज्वर कुर्यादपि सश्रित्य शोणितम् ॥
मासस्रोतास्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम् ।
सश्रितो मेदसो मार्गं दोपश्चापि चतुर्थकम् ॥ (च. चि ३)

३ सु उ. अ ३९। ६७ पर डल्लन।

(क) "सतत रसरक्तस्थ."—सतत ज्वर रसरक्तस्थ इत्यादि—
××× दोषो रक्ताश्रय. प्राय. करोति सतत ज्वरम्" ××× इति प्रायो ग्रहणात् रसोऽपि कर्त्तव्य. यतो रसमादाय दोषा ज्वरमापादयन्ति ।" (डल्लन)

व्याख्या इस प्रकार की है। जैसे—"प्राय' शब्द द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि सम्प्राप्ति विशेष से अन्येद्युष्क ज्वर भी कभी-कभी सततक ज्वर के लक्षण उत्पन्न कर सकते है। अर्थात् दिन रात मे दो बार ज्वर के लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। रक्त सश्रित अन्येद्युष्क ज्वर के दोष जब मेदोवह स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करते है तब वे दिन रात मे एक ही बार ज्वर के लक्षण उत्पन्न करते हैं जो अन्येद्युष्क ज्वर का स्वरूप है। इसलिए अन्येद्युष्क ज्वर की सम्प्राप्ति में "अपि सश्रित्य शोणितम्" अर्थात् अपि शब्द का प्रयोग किया गया है। मेदोवह स्रोत मे अवरोध उत्पन्न करने के लिए दोष को मास धातु का अतिक्रमण करना आवश्यक है, अत. ज्वरागमन काल में अन्तर होना स्वाभाविक है।[1]

विपर्यय विषमज्वर:—दोष जब आमाशय हृदय या उर प्रदेश, कण्ठ और शिर इन चार कफस्थानो मे से दो, तीन या चार कफस्थानो मे रहता है तब क्रमश' अन्येद्युष्क विपर्यय तृतीयक विपर्यय तथा चातुर्थक विपर्यय नाम के तीन कृच्छ्र साध्य विपर्यय ज्वरो को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह कि दोष जब आमाशय और हृदय या उर. प्रदेश दोनो मे (दोनो कफस्थानो) रहता है तब दिन रात मे दो समय छोडकर समग्र दिवस बना रहता है। इसको अन्येद्युष्क विपर्यय कहते हैं। इसी प्रकार जब दोष आमाशय, हृदय या उर. तथा कण्ठ इन तीन कफस्थानो मे रहता है तब एक दिन छोडकर आने वाला (बने रहने वाला) तृतीयक विपर्यय ज्वर को उत्पन्न करता है। दोष जब आमाशय, हृदय या उर प्रदेश, कण्ठ तथा शिर इन चारो कफस्थानो मे रहता है तब मध्य के दो दिन रहनेवाला तथा चौथे दिन छोडने वाला चातुर्थक विपर्यय ज्वर को उत्पन्न करता है।[2] चरक तथा वाग्भट ने केवल चातुर्थक ज्वर के विपर्यय का ही वर्णन किया है। सतत तथा सतत मे दोष एक ही स्थान मे रहता है अतः इनका विपर्यय नही होता।

---

१ "प्राय इत्यनेन सम्प्राप्तिविशेषेणान्येद्युष्कमपि सतत ज्वर कुरुते रक्ताश्रयो दोष इति ख्यापितम्"। (गङ्गाधर.)

२ "सुश्रुते तु अन्येद्युष्क-तृतीयक-चतुर्थकाना विपर्ययाख्याश्च
त्रयो विषमज्वरा उक्ताः। यथा—कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु वा।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्। (सु उ. अ. ३९)
व्याख्यायते चैतद्वचनम्—"आमाशय हृदय-कण्ठशिरासाति चत्वारि स्थानानि कफस्य। तदादि यो दोषो निदानविशेषप्रभावात् कुपितोऽन्येद्युष्कविपर्यये कुरुते स तन्निदानविशेषप्रभावजनितद्विधाभूतत्वात्कफादि स्थानस्थित्वस्वभाव दिने चैकस्मिन् द्वि-परित्यागी सर्वाहोरात्र यापीस्वभावं चाप्नोति। इत्यादय (गगाधरः)

विषमज्वर विवेचनः—आयुर्वेद दृष्ट्या 'विषमज्वर सज्ञा' पर कुछ विचार किया गया है। आधुनिक चिकित्सको द्वारा सज्ञित मलेरिया ज्वर के विविध प्रकारो का भी लक्षण तथा निदान साम्य से इसके अन्तर्गत अनेक विचारकों ने ग्रहण किया है। मेरे विचार से भी यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ इस तथ्य पर भी ध्यान रखना परमावश्यक है कि मलेरिया मात्र विषमज्वर नही। अपितु इसका क्षेत्र और अधिक विस्तृत है। अत. मलेरिया पर थोडा विचार करना आवश्यक है।

मलेरिया (Malaria) इसको एगु (Ague) इन्टरमिटेन्ट फीवर (Intermittent fever), रेमीटेन्ट फीवर (Remittent fever), जङ्गल फीवर (Jungle fever) भी कहा गया है। मलेरिया एक प्रकार का असक्रामक (Noncontagious) एनोफीलीन नामक मशक के दश से उत्पन्न होने वाला सार्वधिक तथा वेग से आनेवाला ज्वर है जिसके उत्पादक चार प्रकार के पराश्रयी (Parasites) जीवाणु होते हैं। इन जीवाणुओ का आक्रमण मानव रक्त कण (R B, C) पर होता है। इस ज्वर से आक्रान्त पुरुष मे प्लीहाभिवृद्धि तथा पाण्डु (Anaemia) प्राय· देखी जाती है।

लक्षण—सामान्यत १० से २० दिनो मे (जीवाणु प्रवेश कालानन्तर) ये अपना रूप व्यक्त कर देते है। कभी कभी इसमे अधिक काल अर्थात् मास पर्यन्त भी इसकी अभिव्यक्ति मे लग जाता है। प्रारम्भ मे इसके ज्वर का वेग अविसर्गी (Continuous or Remittent) प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। कभी कभी नियत काल के पूर्व भी इसका वेग शिर -पीडा, अङ्गमर्द, शाखा तथा सन्धिरुक् के साथ मध्याह्न मे ही प्रारम्भ हो जाता है। इसमे ज्वर के तीन विशिष्ट रूप देखने मे आते है। जैसे—शीतावस्था (Cold Stage) जो प्राय चौथाई घण्टे से दो घण्टे तक वर्तमान रहता है। इस दशा मे रोगी अत्यधिक कम्बल आदि वस्त्रो से अपने को ढकता है, कापता है तथा अत्यधिक शीत का अनुभव करता है। स्पर्श से रोगी की बाह्य त्वचा भी शीत प्रतीत होती है पर वास्तव मे रोगी का आभ्यन्तर ताप बढता हुआ होता है। त्वचा विवर्ण हो जाती है तथा नख नील वर्ण के भी हो सकते हैं। इसके बाद दाहावस्था (Hot stage) प्रारम्भ होती है जिसमे रोगी सर्वाङ्ग मे दाह का अनुभव करता है। शरीर पर के वस्त्रो को हटाने लगता है। रोगी का मुखमण्डल उभरा हुआ (Flushed) दीख पडता है। त्वचा स्पर्श मे उष्ण तथा शुष्क प्रतीत होती है। उत्क्लेश, तापातिवृद्धि (१०३ से १०६ डिग्री फा० तक), तथा छर्दि एवं प्रलाप भी होने लगता है। यह दशा सामान्यत. अधिक से अधिक पाच घण्टे तक रहती है।

तत्पश्चात् तृतीयावस्था प्रारम्भ होती है जिसे स्वेदावस्था (Sweating stage) कहते है। यह अवस्था एक से दो घण्टे तक रहती है। इस अवस्था मे रोगी अपने को स्वेद से क्लिन्न अनुभव करता है और ज्वर का सन्ताप भी शनैः शनै उतरने लगता है। अन्त मे ज्वर का ताप उतर जाता है अर्थात् शरीर का ताप प्राकृत (Normal Temperature) हो जाता है।

ज्वर के वेग का आना मलेरिया के जीवाणु की जाति पर निर्भर करता है। विभिन्न मलेरिया जीवाणु विभिन्न प्रकार से ज्वर के वेग विभिन्न काल मे उत्पन्न करते है।

मलेरिया के प्रकार—मलेरिया के मुख्य तीन भेद हैं। जैसे :—

(१) बीनाइन टर्सीयन (Benine Tertian) (२) क्वार्टन (Quartan) और (३) मलिग्नेन्ट टर्सीयन (Malignant Tertian)। इनको क्रमशः प्लाज्मोडियम भाइभेक्स, प्लाज्मोडियम मलेरिये और प्लाज्मोडियम फाल्सीपेरम नामक पराश्रयी जीवाणु उत्पन्न करते है। ज्वर के आक्रमण, वेग तथा अवधि के अनुसार चार प्रकार हो जाते हैं। जैसे—(१) कोटिडियन (Quotidian)–इसमे ज्वर प्रतिदिन अर्थात् २४ घण्टे मे एक बार आता है। इसमे जीवाणु का द्विगुण (Double) संक्रमण होता है। यह पूर्वोक्त अन्येद्युष्क के समान लक्षण वाला है।

(२) बीनाइन टर्सीयन (Benine Tertian)—इसमे ज्वर एक दिन बीच देकर आता है। यह तृतीयक के समान है।

(३) क्वार्टन (Quartan)—इसमे ज्वर चौथे दिन अर्थात् बीच मे दो दिन छोडकर आता है। यह चातुर्थक के समान है।

(४) मलिग्नेन्ट टर्सीयन (Malignant Tertian) इसमे ज्वर का सन्ताप अनियमित तथा सन्तत रूप मे बना रहता है। यह भयंकर तथा साघातिक होता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के मलेरियोत्पादक पराश्रयी कीटाणुओ का शरीर मे प्रवेश होता है तो वे रक्तकणो या शोणकणो मे अपनी सन्तति-विस्तार करते है तथा परिपक्व होने पर ये कीटाणु जब रक्तकणो को विदीर्ण करके बाहर आते है तब शीतादि लक्षण उत्पन्न होते है। इनके परिपक्व होकर लालकणो को विदीर्ण कर बाहर आने का काल प्रत्येक जाति के कीटाणुओ मे भिन्न-भिन्न होने के कारण ज्वर के वेग का काल भी भिन्न होता है। जैसे प्लैज्मोडियम भाइभेक्स का अमैथुनी चक्र काल ४८ घण्टे का होता है। अतः रक्तकणो के अन्दर प्रविष्ट हुये इसके सम्पूर्ण अंशुकेत (परिपक्व कीटाणु) ठीक ४८ घण्टे बाद लाल कणो को विदीर्ण करके रक्त रस मे आते हैं। इसलिये तृतीयक ज्वर मे तीसरे दिन

ज्वर होता है। इसी प्रकार प्लाज्मोडियम मलेरिये नामक पराश्रयी कीटाणु का अमैथुनी चक्रकाल ठीक ७२ घण्टे का होता है, जिससे उसके पक्व कीटाणुओ को रक्तकण को विदीर्ण कर रक्त रस मे आने के लिए ७२ घण्टे लग जाते हैं। अत. चातुर्थक ज्वर मे ज्वर चौथे दिन आता है। परन्तु अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian fever) प्लाज्मोडियम भाइभेक्स के विभिन्न दिवस मे दो वार सक्रमण (Double infection) होने मे ज्वर के वेग का काल न्यून होकर २४ घण्टा ही हो जाता है जिससे ज्वर प्रतिदिन आने लगता है। उदाहरण—स्वरूप यदि किसी व्यक्ति मे मशक दश से तृतीयक का कीटाणु अमुक दिवस को प्रविष्ट हुआ तो परिस्थिति यह होगी कि अपने सक्रमण कालान्तर अवधि के पश्चात् जव वे ज्वर रूप को व्यक्त करने लगेगे तो प्रत्येक के ४८ घण्टे का समय लेने पर भी ज्वर का आक्रमण काल २४ घण्टे पर ही हो जायगा। जैसे प्रथम ने १५ वे दिन, १७ वे दिन तथा १८ वे दिन ज्वर की अभिव्यक्ति की तो दूसरे ने १६ वे दिन, १८ वे दिन तथा २० वे दिन अपने चक्र काल के अनुसार ज्वर को अभिव्यक्त किया जिसमे ज्वरी को प्रत्यक्षत॰ प्रतिदिन ज्वर आने लगा। प्रतिदिन आने के कारण इसे अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian fever) कहा गया है। मशक दश से ज्वरोत्पत्ति का सकेत सुश्रुत ने भी किया हे। पाँच प्रकार के मच्छरो का वर्णन सुश्रुत ने किया है। जैसे—(१) सामुद्र (२) परिमण्डल (३) हस्तिमशक (४) कृष्ण और (५) पार्वतीय।

इनमे पार्वतीय मशकदश का परिणाम भयङ्कर होता है। इनके दंश से मरणतुल्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। सु० क० ८।३६। वेदो मे तथा पुराणो मे भी इस प्रकार के सावधिक ज्वरो का जैसे—शीत ज्वर, तृतीयक ज्वर, वितृतीयक ज्वर, अन्येद्यु॰ ज्वर, उभयद्यु॰ ज्वर, वन्य ज्वर, एकाहिक ज्वर, द्व्याहिक ज्वर, त्रिदिवस ज्वर प्रभृति का वर्णन प्राप्त होता है।

मलेरिया के कीटाणुओ का जीवनचक्र —

मलेरिया के उपर्युक्त जीवाणुओ या कीटाणुओ का जीवनचक्र दो प्रकार का होता है। (१) मैथुनी या लैङ्गिकी (Sexual) और (२) अमैथुनी या अलैङ्गिकी (Asexual)। मच्छरो (मशको) मे मैथुनी जीवन चक्र होता है तथा मनुष्यो मे अमैथुनी जीवन चक्र होता है। नर एनोफीलीन नामक मशक के दश से मनुष्यो मे इसका सक्रमण होता है। सर्व प्रथम मशक दश से मनुष्य के शरीर के अन्दर स्पोरोजोइट (Sporozoite वीजाणु जीवक) प्रविष्ट होता है। वह वहाँ से रक्तकणो में प्रविष्ट होकर शनै॰-शनैः अपना विस्तार करता है। पुन. वह अशुकेत या खण्ड जीवक (Morozoite) के रूप मे वृद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य मे इसकी अमैथुनी सृष्टि होती है। ये अशुकेत

रक्तकणो को विदीर्ण कर जब बाहर आते हैं तब मनुष्य में शीतपूर्वक ज्वर आता है। इस अवस्था मे पुनः जब मनुष्य को मशक दंशते हैं तब उक्त कीटाणु (अंशुकेत) मच्छर (मशक) के आमाशय मे प्रविष्ट हो वृद्धि को प्राप्त करते है। तथा शनै शनैः बढकर स्पोरोजोइट्स (Sporozoites) की अवस्था मे मशक की लाला ग्रन्थियो मे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार मशक मे उनका मैथुनी चक्र समाप्त होता है। (इसका विस्तृत वर्णन आकर ग्रन्थ मे देखे)।

मेलीग्नेन्ट मलेरिया जो प्लोज्मोडियम फाल्सीफेरम नामक पराश्रयी कीटाणु से उत्पन्न होता है वह भयकर होता है। इसके दश मे मस्तिष्कव्यापी मलेरिया ज्वर (Cerabral Malaria fever) तथा साघातिक मलेरिया ज्वर (Pernicious Malaria fever) भी होता है।

उचित तथा सद्यः प्रतिकार के अभाव मे इसमे आक्रान्त रोगी शीघ्र यम-सदन को सिधारता है। आधुनिक चिकित्सक मलेरिया की विशिष्ट चिकित्सा या औषध क्वीनीन, मैपेक्रीन, तथा पाल्युड्रीन से करते है। शेष आवस्थिकी चिकित्सा होती है।

इन उपर्युक्त अन्येद्युष्क आदि विषमज्वरो मे प्राय तीन प्रकार के वेग देखे जाते है। त्वचा मे श्लेष्म तथा वायु के उल्वण होने से शीतकम्पपूर्वक ज्वर का आरम्भ होना। पुन (२) तृष्णा, दाह, भ्रम तथा छर्दि एव कभी-कभी विड्भेद (अतिसार) आदि पित्त के लक्षणो का प्रादुर्भाव। (३) अन्त मे खूब पसीना (स्वेद) होकर ज्वर के सन्ताप का उतरना और निद्रा, तन्द्रा तथा अवसाद का अनुभव। ये लक्षण अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थक मे ही दृष्टिगोचर होते हैं। सन्तत तथा सततकज्वर मे ये लक्षण नही दीख पडते। कभी-कभी इन लक्षणो की प्रवृत्ति अन्यो (सन्तत तथा सततक) मे भी दृष्टि-गोचर होती है अतः प्राय शब्द का व्यवहार किया गया है। प्राय सभी विषमज्वर पुनरावर्ती (Relapsing) होकर आठ दिनो, पन्द्रह दिनो तथा इससे भी अधिक दिनो के अन्तर से आते हैं तथा इनसे आक्रान्त रोगियो मे यकृत तथा प्लीहा बढ जाती है। इस प्रकार जीर्णता को प्राप्त होने पर रोगी के बल तथा अग्नि का नाश हो जाता है और वह पाण्डु, दैन्य तथा शोथयुक्त हो जाता है।[१]

---

१ (१) "प्रायेण स्युस्त्रयो वेगा अन्येद्युष्कादिके ज्वरे।
तत्राद्य शीतकम्पाभ्या त्वचि श्लेष्मानिलोच्छ्रयात्॥
द्वितीये तु तृषा दाह सम्भ्रमो वमथुस्तथा।
विड्भेदो वा क्वचित् तानि पित्तलिंगानि वै विदु॥
ज्वरे विमुच्यमाने तु भृश स्वेदःप्रवर्तते। निद्रातन्द्रावसादश्च सोऽय वेगस्तृतीयकः

सुश्रुत ने भी दाहपूर्वक तथा शीतपूर्वक उत्पन्न होने वाले ससर्गज विषमज्वरो का सकेत किया है और कहा है कि श्लेष्म तथा वायु जब ज्वरो मे त्वक्स्थ होते हैं तब ज्वरोत्पत्ति के प्रारम्भ मे शीत का अनुभव रोगी करता है। पुनः उन त्वक्स्थ श्लेष्म तथा वायु को शान्त करने के लिए जब पित्त उद्रिक्त होता है तब अन्त मे रोगी दाह का अनुभव करता है। काश्यप ने भी विषमज्वर निर्देशीय अध्याय मे इसका सकेत किया है।[१] तृतीयावस्था का सकेत वाग्भटने किया है और कहा है कि मोक्षकाल मे दोष धातुओ को प्रक्षुभित कर विलीन होते हैं, जिससे रोगी को पसीना होता है तथा अवसन्न हो श्वास तथा छर्दि से युक्त हो कहरता है। कभी कभी ऐसा रोगी कांपता है, प्रलाप करता है, उष्ण तथा शीत से आहत वह रोगी हतप्रभ हो जाता है तथा विसज्ञ (संज्ञाहीन) तक हो जाता है। ऐसा रोगी क्रुद्ध हुआ जैसा प्रतीत होता है। और दोष और शब्द युक्त द्रवमलातिवर्तन करता है।[२]

ज्वर के पुनरावर्तन का सकेत चरक ने भी किया है। जैसे.—जो रोगी असंजात बल अर्थात् पूर्ण रूप से बल प्राप्ति हुये बिना व्यायाम, व्यवाय, स्नान तथा चक्रमणादि निषिद्ध कर्मो को करता है उसे पुन पुनः ज्वर आते रहते हैं।[३]

सतत तथा सतत ज्वर और मलेरिया —

पहले सकेत किया जा चुका है कि सतत ज्वर मलेरियल रेमिटेन्ट फीवर (Malarious Remittent Fever) से साम्य रखता है। इसी प्रकार सततक

सर्वे च विषमा. प्रायः पुनरावर्तिनो गताः।
अष्टाहान् पक्षतो वाऽपि कश्चित् कालान्तरेण वा॥
यकृत्प्लीहाभिवृद्धिश्च ज्वरे स्याज्जीर्णता गते।
बलाग्निहानिर्दैन्य च पाण्डुता शोथ एव च॥ (सि० नि०)

(ii) त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयो. प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाह करोति च।
द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ समर्गजौ स्मृतौ।
दाहपूर्वस्तयो. कष्ट कृच्छ्रसाध्यश्च स स्मृत॥ (सु० उ० अ० ३)

१ का० सि० अ० १-५३ से ६२ तक।

२ "धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते।
ततो नर. श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते॥
वेपते प्रलपत्युष्णैः शीतैश्चाङ्गैर्हतप्रभ.।
विसज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते।
सदोषशब्द च शकृद् द्रव सृजति वेगवत्॥ (अ० हृ० नि० २)

३ असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते।
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः॥ (च० चि० ३)

ज्वर डबल कोटीडीयन से समता रखता है। अत इस पर कुछ और प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

पूर्वोक्त वर्णनो से यह स्पष्ट हो चुका है कि विषमता तथा मुक्तानुबन्धिता विषम ज्वर की विशेष पहचान है। विषम ज्वर पराश्रयी (Malarial Parasites) रक्ताणु के भीतर अपना अमैथुनीचक्र या अलैङ्गिक जीवनचक्र एक विशेष समय पर समाप्त करते हैं। पहले कहा जा चुका है कि तृतीयक (Tertian) का जीवनचक्र ४८ घण्टे पर समाप्त होता है और चातुर्थक का जीवनचक्र ७२ घन्टे पर समाप्त होता है जिससे ज्वर का वेग क्रमश एक दिन बीच देकर तीसरे दिन तथा दो दिन बीच देकर चौथे दिन आता है। इनके क्रम मे कुछ विपर्यय भी होता है। जैसे :—तृतीयक के कीटाणु के दो आक्रमण २४ घण्टे के व्यवधान से हो रहे हो तो ज्वर का वेगकाल दैनिक हो जाता है और उने अन्येद्युष्क तथा एकाहिक ज्वर (Quotidian) कहते है। इसी प्रकार चातुर्थक वाले का भी यदि तीन संक्रमण हो जाय तो भी (२४ घण्टे के व्यवधान से) ज्वर-वेग का काल दैनिक हो जायगा। इसी प्रकार संक्रमणो के व्यवधान काल के अन्तर से अनेक संक्रमण होने पर ज्वर-वेग का काल दिन रात मे दो बार हो जाता है और उसे सततक (Double-Quotidian) कहते है। यह विपर्यय परम्परा और अधिक बढ सकती है। यदि आक्रमण एक के बाद एक इतनी निरन्तरता से आवे कि एक आक्रमण वाला ज्वर उतरने से पूर्व ही दूसरे आक्रमण का ज्वर चढ जावे और इसी प्रकार परम्परा चलती रहे तो ज्वर निरन्तर बना रहेगा और वह सन्ततविषम ज्वर (Malarial Remittent) का रूप धारण कर लेगा।

प्रलेपक ज्वर

प्रलेपक ज्वर (Hectic fever)—गौरव तथा पसीना स शरीर को क्लिन्न करने वाला मन्द ज्वर "प्रलेपक ज्वर" कहलाता है। सुश्रुत ने इसको (राजयक्ष्मा)=शोष से आक्रान्त पुरुषो का ज्वर कहा है और इसे प्राणनाशक बतलाया है। इसमे प्रात'काल ज्वर हीन अर्थात् प्रच्छन्न रूप मे रहता है और मध्याह्नोत्तर अपराह्णकाल मे तथा सायकाल मे ज्वर व्यक्त होकर बढता है। यह कफपित्तोल्वण धातुओ को सुखाने वाला ज्वर है।[1] बाह्य तथा

१. (i) प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च।
मन्दज्वरविलेपी च स शीत. स्यात्प्रलेपक'॥ (अ० स० नि० २)
(ii) तथा प्रलेपको ज्ञेय' शोषिणा प्राणनाशन।
दुश्चिकित्स्यतमो मन्द. सुकष्टो धातुशोषकृत्॥ (सु० उ० अ० ३९)

आभ्यन्तर विद्रधि से आक्रान्त रोगी मे भी यह ज्वर दृष्टिगोचर होता है। यह दुश्चिकित्स्य तथा कष्टदायी होता है। यह वस्तुतः मे परतन्त्र ज्वर है। शोथ, विद्रधि प्रभृति रोगो मे अनुबन्ध के रूप मे उत्पन्न होता है।

यह विसर्गी स्वरूप ज्वर प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर अथवा सन्ध्या काल मे चढता है। इसमे शीतस्वेद निर्गम होने से शरीर शीत स्वेद से क्लिन्न हो जाता है। इस ज्वर मे दोष सन्धियो मे स्थित होकर प्रतिदिन ज्वर उत्पन्न करता है। यह राजयक्ष्मा से पीडित रोगियो मे प्राय. देखा जाता है।[1]

प्रतिकार :—

इस ज्वर मे मूल व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये। स्वर्णवसन्तमालती, सर्वाङ्गसुन्दर रस, जयमगल रस का यथावश्यक प्रयोग लाभप्रद होता है। सुदर्शन चूर्ण या सुदर्शनार्क एवं बृहत् क्षुद्रादि क्वाथ से भी लाभ होता है।

वातबलासक ज्वर

वातबलासक ज्वर —वात के साथ-साथ कफ (बलास) दोष इस ज्वर का आरम्भक होता है अतः इसे वातबलासक ज्वर कहते हैं। सुश्रुत ने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—जैसे —इसमे मन्द ज्वर होता है जो प्रायः अलक्षित या अव्यक्त रूप मे रहता है। इससे आक्रान्त रोगी का शरीर रूक्ष तथा ईषत् शोथयुक्त प्रतीत होता है।

शोथ प्राय· आदि मे मुख तथा शाखाओ मे दृष्टिगोचर होता है। शाखाओ मे भी अधिक अध शाखाओ पर शोथ देखने मे आता है। पुन. यह शनै·-शनै मध्यकाय तक फैलता है। दौर्बल्य तथा रुक् के कारण अङ्ग स्तब्ध (जकडे हुए) प्रतीत होते हैं। अर्थात् अचेष्ट-से लगते है। त्रिदोषज होने पर भी श्लेष्मभूयिष्ठ होने मे मुखप्रसेक शैत्य, कास, श्वास आदि उपद्रव होते हैं। रोग की वृद्धावस्था मे कभी-कभी फुपफुसो के मूल मे भी शोथ उत्पन्न हो जाता है। रोगी सदा अपने को अवसन्न-सा अनुभव करता है। इस रोग (ज्वर) से आक्रान्त रोगी प्राय हृदयमाद मे मरते हैं।[2]

(iii) प्रातर्हीनोऽपराह्णे य· साय वाऽपि प्रवर्तते।
स्वेदै· प्रलिम्पन् गात्राणि मोऽय ज्ञेय प्रलेपक ॥
शोषिणा स भवेत्प्रायो विद्रध्यादिमना तथा।
कफपित्तोल्वण कष्टो विषमो धातुशोषकृत् ॥ (मि० नि०)

१ सन्धिपुरास्थितो नित्यमेव प्रलेपक करोति स च राजयक्ष्मिणामेव ॥ (डल्हन)

२ (i) नित्य मन्दज्वरो रूक्ष शूनकस्तेन मीदति।
स्तब्धाङ्ग श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥ (अ० हृ० नि० २)

(ii) प्रलेपक वातबलासक वा कफाधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञा·।

निदान तथा सम्प्राप्ति :—आनूपदेश निवासी तण्डुलभोजी मनुष्यो मे तथा वृक्क रोग से पीडित मनुष्यो मे यह रोग प्रायः देखा गया है। वालको को यदि यह रोग होता है तो वह अतिदारुण एवं कृच्छ्रसाध्य होता है।[1]

वातवलासक ज्वर के लक्षण आधुनिको के—"वेरी-वेरी (Beri Beri) नामक रोग से मिलता जुलता है। अर्थात् इन दोनो के निदान, सम्प्राप्ति, तथा लक्षण एक समान होते हैं। तण्डुलभोजी (विशेष कर कल छाटा = molled rice) के सेवन करने वालो को यह रोग विशेष देखा गया है। यह मरक (Epidemic) रूप मे आनूप देशो (वगाल आदि) मे प्रारम्भ हुआ था। इसे जीवतिक्ति वी (Vitamin B) की आहार मे कमी होने के कारण माना गया है। यह दो प्रकार का—जैसे (१) शुष्क वातवलासक (Dry Beri Beri) और (२) आर्द्रवातवलासक (wet Beri Beri) होता है। शुष्क वातवलासक मे शोथ प्रायः नही होता।

इसमे प्रधान लक्षण धातुओ का क्षय एव मासपेशियो की दुर्वलता होती है। इसमे वातनाडी सस्थान तथा पेशी सस्थान (Neuro-muscular System) की विकृति होती है। परीक्षण से जान्वाहनन प्रतिक्रिया (Knee-jerk) पहले वृद्ध प्रतीत होती है पुन. नष्ट हो जाती है। जंघा की मास पिण्डलियो मे पहले पीडनासहिष्णुता तदनन्तर सुप्तता दृष्टिगोचर होती है। रोगी पैर को ऊँचा उठाकर लम्वी-लम्वी डेग लगाता है तथा पालथी मारकर वैठने के वाद उठने मे असमर्थ होता है।

आर्द्र वातवलासक मे नानाविध शोथ पैर (पाद) के विविध अवयवो मे प्रथम दृष्टिगोचर होता है तत अन्यत्र फैलता है। श्वासकष्ट, हृदयविस्तृति, हृद्द्रव तथा साकोचिक मर्मर भी उपलब्ध होता है। नाड़ी की गति मन्द हो जाती है। मूत्र परीक्षण से अल्व्युमेन तथा कास्ट (Albumen & cast) नही प्राप्त होता। इसमे हृदय तथा रक्तवाहि सस्थान दुष्ट होते हैं (Cardo-vascular System)। साथ साथ वात सस्थान भी दुष्ट (विकृत) होता है। सर्वप्रथम इसमे पचन सस्थान सम्वन्धी (Gastro-intestinal) विकार दृष्टिगोचर होते है तत्पश्चात् वातवह सस्थान की विकृति के लक्षण तथा शोध होता है। इसमे रोगी की मृत्यु प्राय हृदयावसाद से देखी गयी है। इन दोनो की सक्रमणकाल मे रोगाभिव्यक्ति की अवधि दो से तीन मास तक है।

---

१. (i) आनूपभूमौ वसता म च तण्डुलभोजिनाम् ॥ (सु० उ० अ० ३९)
वृक्करोगवता प्रायो वालानां त्वतिदारुणः ॥ (सि० नि०)
(ii) "सि० नि० पेज ११७ व्याख्या।"

विदेशो मे (मलाया आदि मे) एक तीसरे प्रकार का बेरी बेरी (Cardial Beri Beri) अति उग्र रूप मे देखा गया है। इसमे रोगी श्वासावरोध का कष्ट, छर्दि तथा उदरशूल मे पीडित होता है। रोगी कष्ट से अतिव्याकुल रहता है जब तक उचित प्रतिकार नही होता। अर्थात Vitamin B का जब तक Intra-venous injection नही दिया जाता। इसमे सामान्यरूपेण हृदय-विस्तृति तथा ग्रीवा की सिराये उभरी हुई दृष्टिगोचर होती हैं। नाडी की गति प्रति मिनट १२० से १३० तक ही सीमित रहती है। इससे अधिक नहीं बढती। इसमे सकोचीय चाप (Systolic blood pressure) मृत्युपर्यन्त प्राकृत रहता है परन्तु विस्फारीय रक्तचाप (Diastolic blood pressure) गिर जाता है।

चौथे प्रकार का वेरी वेरी बच्चो मे—(Infantile Beri Beri) विशेषकर स्तन्यपायी बच्चो मे देखी गयी है। यह जापान तथा फिलीपाइन मे अधिक पाया जाता है। इसमे हृदयशोथ तथा पचन-सस्थानो की विकृति के लक्षण जैसे—छर्दि, उत्क्लेश, अतिसार तथा कभी कभी कोष्ठबद्धता ये लक्षण देखे जाते हैं।

प्रतिकारः—आधुनिक चिकित्सको के यहाँ इसका एकमात्र प्रतिकार Vitamin B के विविध योगो का विविध रूप मे देना है। आयुर्वेद मे (१) हृदि चिन्तामणि रस (२) शोथे पञ्चानन रस तथा पुनर्नवारिष्ट एव बलाद्यरिष्ट का प्रयोग लाभप्रद है।

श्लैपदिक ज्वर

श्लैपदिक ज्वर (Filarial Fever)—शाखाओ मे तथा दोनो वृषणो (मुष्को) मे राग (लाली) शोथ तथा रुजा के साथ प्रायः पक्ष मे एकबार उत्पन्न होने वाला ज्वर श्लैपदिक ज्वर कहलाता है।[1] अमावस्या तथा पूर्णिमा को प्राय इसका आक्रमण देखा गया है। कभी कभी एकादशी आदि को भी इसका आक्रमण होता है। यह कफोल्वण विषम ज्वर है। इसमे भी ज्वर शीत-कम्पपूर्वक होता है। सुश्रुत ने कहा है कि यह रोग ऐसे स्थानो पर अधिक होता है जहाँ पुराने जल का जमाव अधिक रूप मे वर्ष भर जमा रहता है। यह अवस्था आनूप देशो में विशेष होती है।[2]

---

१ शाखासु मुष्कयोर्वापि रागशोथरुजाकर ।
पक्षान्ते प्रायशो भाविज्वर श्लैपदिकः स्मृत. ॥ (स० नि०)

२ त्रीण्यप्येतानि जायन्ते श्लीपदानि कफोच्छ्रयात् ।
गुरुत्वं च महत्त्व च यस्मान्नास्ति विना कफात् ।
पुराणोदकभूयिष्ठा. सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषत ॥ (सु० नि० अ० १२)

यह रोग भी रसरक्तज कृमिजन्य होता है। इसमे कफ की अधिकता मे आक्रान्त अङ्ग का गौरव (अङ्ग का भारी प्रतीत होना) तथा आकृति मे बढ़ जाना अवश्य होता है।

मलेरिया की तरह इसके भी कीटाणु (Filaria bancrofti) क्युलेक्स मशक दश द्वारा ही मानव शरीर मे प्रवेश करते हैं। इसकी अभिव्यक्ति की अवधि १० से ४० दिनो तक की है। इसके कीटाणु भी रक्त मे अपनी सन्तति का विस्तार करते हैं। आक्रान्त रोगी के रक्त परीक्षण मे इसके कीटाणु दृष्टिगोचर (अणुवीक्षण यत्र द्वारा) होते हैं। इसके प्रौढ क्रिमि रसायनियो मे निवास करते है और वही असख्य भ्रूण उत्पन्न करते है। यदि ये नष्ट नही हुए तो केशिकाओ द्वारा रक्त मे सक्रमण कर ज्वर आदि लक्षण उत्पन्न करते हैं।

श्लीपद रोग को उत्पन्न करने वाले क्रिमि मनुष्य मे लगभग २० प्रकार के होते ह, परन्तु उनमे से छह ही अधिक सुलभ रूप मे मिलते हैं। इनमे भी सबमे महत्त्वपूर्ण सामान्य निशाचर श्लैपदिक क्रिमि (Filaria bancrofti) है। इसके भ्रूण या लार्वे को सूक्ष्म श्लैपदिक (Microfilaria) कहते है। इनका लैङ्गिक जीवन मनुष्य मे तथा भ्रूण और लार्वे का जीवनचक्र मच्छरो मे बीतता है। रक्त मे इन भ्रूणो का प्रवेश सन्ध्या के ६ बजे से प्रारम्भ होता है और अर्धरात्रि तक ये सम्पूर्ण रक्त मे फैल जाते हैं। इसीलिये परीक्षा के लिए रात्रि मे रक्त का लेना श्रेयस्कर माना गया है। रक्त मे ये प्रति रात्रि को इसी प्रकार प्रकट होते है तथा दिन मे सभवत. फुफ्फुसो की वाहिनियो मे छिपे रहते है। इसमे ज्वर प्रतिरात्रि मे इनके रक्त मे प्रवेश का ही परिणाम होता है अत नियमित समय पर ज्वर चढता है जिससे इसको विपम ज्वर के ही अन्तर्गत माना गया है।

प्रतिकार—इसमे अभ्रक प्रधान लक्ष्मीविलास रस नित्यानन्द रस, महायोगराज गुग्गुलु के प्रयोग से लाभ होता है। मल्लसिन्दूर का भी प्रयोग इसमे होता है। आजकल इसकी विशिष्ट चिकित्सा निकली है, जिसका नाम "हैटर्जोन" है। यह पार्क डेविस कम्पनी की निर्मित औषधि है। इसका विशेष वर्णन परिशिष्ट मे देखे। इसका विस्तृत वर्णन श्लीपद रोग मे देखे।

प्रेतोत्थ ज्वर तथा ग्रहोत्थ ज्वर

काश्यप ने विषमज्वर के अन्तर्गत प्रेतोत्थ तथा ग्रहोत्थ ज्वरो को भी गिनाया है। परन्तु उनके निदान आदि का वर्णन कही भी उस (विषम ज्वर निर्देशीय) अध्याय मे नही किया है। सामान्य निदान (विपम ज्वर का) वर्णन करते

हुए 'दैवतानामभिध्यानाद् ग्रहसंस्पर्शनादपि" इस पद द्वारा सकेत मात्र किया है कि देवताओ के क्रोधवश तथा ग्रहो के सस्पर्श से भी विपम ज्वर होता है। पुन: चिकित्सा वर्णन मे—

"वलिभि शान्तिहोमैश्च, सिद्धैर्मन्त्रपदैस्तथा।
पापापहरण चास्य कर्त्तव्यं सिद्धिमिच्छता।
भूतेश्वर नीलकण्ठ प्रपद्येत वृषध्वजम् ॥

अर्थात् वलि, शान्ति, होम तथा सिद्ध मन्त्रोके द्वारा पापो का निराकरण करना चाहिये, तथा नीलकण्ठ वृषध्वज भगवान् शकर की उपासना करनी चाहिये।

ग्रहो के सम्वन्ध मे दो अन्य स्थलों पर काश्यप सहिता मे वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे—(१) सूत्रस्थान के वेदनाध्याय मे ग्रहवाधा का वर्णन तथा (२) कल्पस्थान मे रेवती ग्रह का वर्णन। यहाँ—(वेदनाध्याय मे) ग्रहवाधा के पूर्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् कहा है कि

"पीड्यमानस्य रूपाणि ज्वरच्छर्द्यतिसारिपु।
वैद्यो दृष्ट्वैव जानीयात्, कृच्छ्र सर्व न सिद्ध्यति ॥"

अर्थात् ग्रह ने पीडित बालक के ज्वर, छर्दि तथा अतिसार आदि लक्षणो को देखकर वैद्य समझे कि यह (ग्रहोत्थविपमज्वर) कृच्छ्रसाध्य है। रेवती कल्पाध्याय मे प्रथम रेवती की उत्पत्ति का वर्णन है। तत्पश्चात् षोडश प्रकार के रेवती ग्रहो के प्रवेशादि का वर्णन किया है। जातहारिणी नामक रेवती से गृहीत वालक के लक्षणो मे ज्वर का भी उल्लेख है।

जैसे —

"ग्रस्तस्य जातहारिण्या शिशो रूपाणि मे शृणु।
सद्योरूप नु तत्रैक. यदुच्चैस्त्रस्तवाशितम् ॥
स्तन्यदूपणमेवाग्रे ज्वरस्तन्द्री प्रमीलक।
शिरोऽभितापं वैवर्ण्य भृश वा पाण्डुपीतता ॥
तृष्णातिसारो वैस्वर्य तालुशोप प्रहर्पणम्।
मुखपाको मुखस्फोटो वैसर्प पाण्डुकामले ॥
जागर्ति रोदिति भृश पीड्यते च मुहुर्मुहु।
श्वसते कासते क्षौति शीतीभवति च क्षणात् ॥
निश्चेष्टो मृतकल्पश्च मुहु स्थित्वा प्रचेष्टते।
न पुष्यति यथा काल स्तन न प्रनिनन्दति ॥
अपूर्व च जन दृष्ट्वा भृशमुद्विजते शिशु.।
विडालनकुलाखूना शब्देनाशु प्ररोदिति ॥
मद्गुनाऽपि च रोगेण पीडामाप्नोति दारुणाम्।

अर्थात् जातहारिणी से आक्रान्त शिशु ज्वर, तन्द्रा, प्रमीलक, शिरोऽभिताप, विवर्णता, पाण्डु, कामला, तृष्णा, अतिसार, विकृत स्वर, तालुशोष प्रभृति, मुखपाक, मुखस्फोट, विसर्प प्रभृति कष्टो मे पीडित होता है। वह निरन्तर डरता रहता है तथा शयानावस्था मे भी उसे आराम नहीं मिलता। इत्यादि।

अष्टाङ्ग सग्रह मे अभिषङ्गज ज्वरो मे ग्रहावेश का भी ग्रहण किया है। उनका लक्षण कहते हुए कहा है कि ग्रहोत्थज्वर से आक्रान्त अकस्मात् हँसता तथा रोता है।[1]

इसके अतिरिक्त सुश्रुत आदि मे ग्रहो से गृहीत बालको के लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। इसका वर्णन विस्तृत रूप मे यथास्थान किया जायगा। यहा संकेत मात्र ही करना सभव है। प्रेतोत्थ तथा ग्रहोत्थ ज्वरो को विषम ज्वरो मे क्यो ग्रहण किया गया है इसका स्पष्टीकरण हो चुका है। पाठको को भी यह सरलतया बुद्धिगम्य है कि सामज्वर के विपरीत लक्षण इन ज्वरो मे होते है तथा ज्वर का वेग भी विषम होता है।

औपद्रविक ज्वर

महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी ने अपने सिद्धान्तनिदान मे "औपद्रविक ज्वर" नामक विषमज्वर का वर्णन किया है। उन्होने कहा है कि सभी प्रकार के पुराने रोगो मे विशेष कर ग्रहणी आदि मे तीनो दोषो के प्रकोप से उपद्रव रूप मे ज्वर की उत्पत्ति होती है।[2] उपद्रव रूप मे उत्पन्न होने वाले इन ज्वरो मे आरम्भ, क्रिया तथा काल मे वैषम्य दृष्टिगोचर होता है अत पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार ये भी विषमज्वर के अन्तर्गत आ जाते हैं।

महामहोपाध्याय जी ने धातुगत ज्वरो को भी विषमज्वर मे ही गिना है। उन्होने कहा है कि ये ज्वर भी दुश्चिकित्स्य तथा सर्वदोष प्रकोपज होते है।[3]

विषमज्वरो के प्रतिकार —

विषमज्वरो मे सब प्रथम सशोधन कराना चाहिये। क्योकि सशोधन नही कराने से अन्य सभी क्रियाये असफल होती हैं।[4] चरक ने कहा है कि विषमज्वर मे प्राय आगन्तुक कारणो का अनुबन्ध रहता है अत साधारण क्रिया-

---

१ ग्रहेणास्मिन्नकस्माद्धासरोदने। (अ० स० नि० २)

२. "सर्वेषु जीर्णेषु रोगेषु ग्रहण्यादौ विशेषत ।
दोषत्रये प्रकुपिते स्यादौपद्रविको ज्वर. ॥ (सि० नि०)

३ धातुस्था. सर्व एवैते विज्ञेया विषमज्वरा ।
दश्चिकित्स्या विशेषेण सर्वदोषप्रकोपजा. ॥ (सि० नि०)

४ "विषमेषु ज्वरेष्वादौ क्रिया सशोधनीं चरेत्।
सशोधनमृते व्यर्थ ज्ञेयमोषधकल्पनम् ॥ (आ० वि०)

क्रम का विधान छोड दे। विशेष कर तृतीय तथा चातुर्थक मे। वातप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा सिद्ध घृतो तथा अनुवासनवस्तियो से करे। पथ्य मे स्निग्ध अन्न-पान का सेवन करावे। पित्त प्रधान विषमज्वरो मे दूध तथा सिद्ध-घृतो से पहले विरेचन करावे। तत्पश्चात् तिक्तरस विशिष्ट तथा शीत वीर्य ज्वरहर द्रव्यो का प्रयोग करे।

कफोत्तर मे वमन, पाचन, रूक्षान्नपान तथा विलङ्घन करावे और उष्ण कषायो का प्रयोग करे।[१] परन्तु व्याधिक्षीण, दुर्बल तथा वृद्ध रोगी को सशोधन सह्य नही होता, अत इन्हे सशमन चिकित्सा ही करनी चाहिये। विरेचन के लिए एरण्ड तैल, त्रिवृत तथा अभया एव पीतमूली का प्रयोग करे। सुश्रुत ने कहा है कि सन्तत तथा अन्य सततकादि विषमज्वरो मे पुराने रोगियो को जो क्षीण हो गये हैं लघु एव सुजर पथ्य का विधान करना चाहिये।[२] यो तो सर्व प्रकार के ज्वरो मे ज्वर का वेग न रहने पर मात्रा मे लघु एव हितकर भोजन देना श्रेयस्कर है।[३] विषमज्वर मे यथावश्यक पहले ऊर्ध्व तथा अध शोधन (वमन, विरेचन) अपेक्षित है। अर्थात् कफाधिक विषमज्वर मे वमन तथा पित्ताधिक मे विरेचन देना चाहिये।[४] सशमनार्थ गुडूची, सोठ, चिरायता, निम्ब का क्वाथ पिप्पली के प्रक्षेप से देना निरापद है।

सुश्रुत ने भूताभिषङ्गोत्थ ज्वरो को भूत विद्या के प्रकरण मे प्रोक्त बन्धना-वेशन पूजन आदि से भी चिकित्सा करने का आदेश किया है। वाग्भट ने भी दोषानुसार विभाग कर विषमज्वर की चिकित्सा का विधान किया है। परन्तु कहा है कि दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा यद्यपि सभी ज्वरो को शान्त करती हैं तथापि इसका प्रभाव विषमज्वरो पर अधिक होता है क्योकि विषमज्वरो मे आगन्तुक कारणो का अनुबन्ध रहता है।[५]

---

१. "कर्म साधारण जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ।
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमे ज्वरे॥
वातप्रधान सर्पिर्भिर्वस्तिभि सानुवासनै।
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद् विषमज्वरान्॥
विरेचनेन पयसा सर्पिषा सस्कृतेन च।
विषम तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तर जयेत॥
वमन पाचन रूक्षमन्नपान विलङ्घनम्।
कषायोष्ण च विषमे ज्वरे शस्त कफोत्तरे॥" (च० चि० अ० ३)

२ सु० उ० अ० ३९-१४९

३ सु० उ० अ० ३९-१४५

४ सु० उ० अ० ३९ २११-२६५

५. दैवाश्रय च भेषज्य ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति।
विशेषाद्विषमान प्रायस्ते ह्यागन्त्वनुबन्धजा (अ० हृ० चि० १)

सहिता ग्रन्थो मे विपम ज्वरो की जो चिकित्सा वर्णित है उसका दिग्दर्शन कराकर अनुभूतयोगो का वर्णन किया जायगा ।

"उपर्युक्त क्रियाक्रम के अनुसार दोप आदि के विभाग मे निम्नलिखित योगो का यथावसर प्रयोग करे । विपमज्वर मे मण्डसहित सुरापान के लिए तथा भोजन के लिए मुर्गा, मयूर, तथा तितिर का मास-रस देवे । अथवा षट्पल घृत का प्रयोग करे । ज्वर के आने के दिन त्रिफला कपाय अथवा गुडूचीस्वरस एव निर्जलनी, अजगन्धा (वर्वरी = वनतुलसी), त्रिवृत् और कुटकी के क्वाथ का विरेचन देवे । अथवा आवश्यकतानुसार स्नेहन तथा स्वेदन किये हुए रोगी को पूर्ण मात्रा मे घी पिलाकर वमन करावे । अथवा उपयुज्य अन्न-पान को प्रभूत मात्रा मे खिलाकर वमन करावे । अथवा अन्न के साथ प्रभूत मात्रा मे मद्य पिलाकर रोगी को सुता देवे । आवश्यकता होने पर आस्थापन तथा यापन वस्तिका प्रयोग करे । अथवा उस दिन दूध के साथ विडाल का शकृत् (विष्ठा) पिलावे । इसी प्रकार वृपभ का शकृत् सेन्धा नमक मिलाकर दधिमण्ड या सुरा के साथ सेवन करावे । पिप्पली, त्रिफला, दधि, तक्र, घी, पञ्चगव्य तथा दूध का प्रयोग विपम ज्वर मे यथावश्यक करे । भोजन के पहले तैल के साथ रसोन का भी प्रयोग लाभप्रद होता है । मेदुर तथा उष्ण वीर्य पशुपक्षिओ के मास का भक्षण भी इस ज्वर मे हितकर है । ज्वरघ्न नस्य, अञ्जन, धूपन का प्रयोग भी इसमे विहित है । मणि, मङ्गल, वलि, उपहार आदि का प्रयोग भी इस ज्वर मे निर्दिष्ट है । (च० चि० अ० ३–२९६–से ३१४)

इस प्रकार के प्रयोग सुश्रुत आदि अन्य ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होते हैं । आज भी आम तथा दरिद्र जनता मे इस तरह के प्रयोग विपमज्वर के निवारणार्थ होते हैं । इन योगो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक योग शास्त्रो मे वर्णित हैं । जैसे—

(१) इन्द्रयव, परवल पत्र, कटुकी ।

(२) परवल के पत्र, सारिवा, नागरमोथा, पान, कटुकी ।

(३) निम्व त्वक्, परवल का पत्ता, त्रिफला, मोनक्का, नागरमोथा, इन्द्रयव ।

(४) चिरायता, गुडूची, चन्दन, सोठ ।

(५) गुडूची, आमलकी, नागरमोथा ।

इन पाँच कषायो को यथाविधि तैयार कर सतत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थक इन पाच प्रकार के विपम ज्वरो मे पिलावे । यहाँ इन उपर्युक्त कपाय के द्रव्यो पर यदि ध्यान देवे तो स्पष्ट हो जायगा कि सभी द्रव्य ज्वरघ्न हैं । ज्वर के सताप को कम करने, ज्वर के वेग को रोकने, पित्त को

शमन करने, तथा कोष्ठ को शुद्ध करने वाले द्रव्यो का योग इन कषायो मे किया गया है ।

सुश्रुत ने भी "षट्पल घृत" के प्रयोग का विधान विषमज्वर मे किया है । प्रतिदिन प्रात काल घी के साथ रसोन का प्रयोग भी बतलाया है । वर्धमान पिप्पली का प्रयोग जीर्ण विषमज्वर मे करने का आदेश दिया है । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक घृतो तथा योगो का वर्णन सुश्रुत ने विषमज्वर के लिए किया है । काश्यप ने भी विषमज्वर की चिकित्सा चरक के समान ही लिखी है । महाकल्याण तथा पञ्चगव्य घृत पिलाकर वमन कराने का आदेश इन्होंने भी दिया है । लशुन का प्रयोग विषम ज्वर मे काश्यप ने भी बतलाया है ।

विषम ज्वरो की अनुभूत चिकित्सा —

यहाँ इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि इस अनुभूत चिकित्सा का सम्बन्ध संतत आदि पाँच प्रकार के विषमज्वर से ही है । इन विषम ज्वरो की चिकित्सा को हम चार भागो मे विभक्त कर सकते हैं । जैसे—

(१) वेगकालीन चिकित्सा ।

(२) वेग प्रतिषेधात्मक चिकित्सा ।

(३) विषमज्वर के कारण उत्पन्न धातुओ (दूष्यो) तथा—अधिष्ठानो की चिकित्सा और

(४) पथ्यव्यवस्था ।

वेगकालीन चिकित्सा का अभिप्राय उस चिकित्सा या उपचार से है जो ज्वर के आ जाने पर उसके सन्ताप तथा अन्य सहयोगी कष्टो को आ जाने पर दूर करने के लिए किया जाता है । ज्वर वेग की प्रथमावस्था मे ज्वरी शीत कम्प का कष्ट अनुभव करता है, अत उस काल मे रोगी को यथावश्यक कम्बल आदि उष्ण आवरण की व्यवस्था करनी आवश्यक है । द्वितीयावस्था मे दाह का अनुभव होता है तथा ज्वर का सताप बढता है । अत उस अवस्था मे दाहशान्ति का उपाय तथा ज्वर के सताप को दूर करने के लिए ज्वरघ्न औषधो की व्यवस्था होनी आवश्यक है । एतदर्थ —गोदन्ती मिश्रण, किरातकल्प, दाहप्रशमनार्क का प्रयोग श्रेयस्कर है । वेगकाल मे "अणुवटिका" का प्रयोग शु० वत्सनाभ के साथ अच्छा लाभ करता है । (आ० वि०) कभी कभी सतापाधिक्यवश तृष्णाधिक्य तथा प्रलाप भी होने लगता है । अत इसकी शान्ति के लिए षडङ्गपानीय का प्रयोग तृष्णा-शान्ति के लिए तथा रसादिवटी का प्रयोग एव वृ० कस्तूरी भैरव का प्रयोग प्रलाप की शान्ति के लिए उपयोगी है । शिर पर शीतोपचार तथा विष्णु तैल या चन्दनादि तैल की पट्टी देने से भी लाभ होता है । इस अवस्था मे तगरादिक्वाथ तथा प्रवाल, मुक्ता एव शृंग

भस्म के योग से भी अच्छा लाभ होता है। रोगी को इस अवस्था में फलरस (नारगी, सेव, मोसम्मी, दाडिम का स्वरस) देना चाहिये, जिससे उसमे क्लेश सहने की क्षमता बनी रहे। विपम ज्वरघ्न औपधो का प्रयोग दाह तथा प्रलापहर पानको के साथ करना श्रेयस्कर है। मस्तिष्कगत विपमज्वरो मे महावातविध्वस के साथ विपमज्वरघ्न औपधो का प्रयोग लाभप्रद होता है। आधुनिक चिकित्सक ऐसी अवस्था मे विपमज्वरघ्न औषधो के सूचीवेध (Anti malarial medicine का Intravenous injection) की भी व्यवस्था करते है तथा साथ साथ हृद्य एव प्रलापहर औपधो का व्यवहार करते है। सर्वाधिक कार्यकर औषध इनके यहाँ (आधुनिक चिकित्सा मे) सम्प्रति "पाल्युड्रिन" "Paludrine" मानी गयी है जिसका विप प्रभाव अत्यल्प (अन्यो की अपेक्षा) होती है। इस औपध की योग्य सूचीवस्ति (Injection) भी सम्प्रति प्राप्य है जो सिराओ मे साक्षात् रूप मे प्रदान की जा सकती है। हृदय की रक्षा के लिए "कोरामिन" का प्रयोग करते है। सज्ञानाश हो जाने पर (Camator case) कटिकशेरुका मध्यवेधकर (Lumber Puncture) मस्तिष्क सौपुम्निक द्रुद्रव (Cerebro spinal fluid) का निष्कासन करने से भी लाभ होता है। ऐसी अवस्था मे डेक्स्ट्रोज विलयन (dextrose solution) की सिरावस्ति भी हितकर होती है।

विपमज्वरघ्न औपधे—

आयुर्वेद मे एतदर्थ विपमज्वरान्तक, करञ्जादिवटी सप्तपर्ण घनसत्ववटी, महाज्वराकुश, शीत भजीरस, ज्वर कुञ्जर पारीन्द्र, ज्वरान्तकरस, त्र्याहिकारि रस, चातुर्थकारि रस, विश्वेश्वर रस (आ० वि०) तथा विश्वतापहरण का प्रयोग करते हैं (इन औषधो का विशेप विवरण परिशिष्ट मे देखे)। "मलेरियाहर वटी" नाम से भी अनेक नये योग बने हैं। (परिशिष्ट देखे)।

आधुनिक चिकित्सक विषम ज्वरो मे (Malaria) प्रधान रूप से तीन औपधो का व्यवहार करते हैं।

(१) क्वीनीन—यह सिनकोना नामक वनस्पति की छाल से सत्व के रूप मे निर्मित होती है। इसके अनेक प्रकार होते है। चूर्ण, वटी या चक्रिका तथा सूचीवेध (Powder, tablets or Hypodermic ampules)। इनका उपयुक्त मात्रा मे यथावश्यक प्रयोग होता है।

(२) दूसरी औषध "मेपाक्रीन" है। इसकी पीले रग की चक्रिका प्राप्त होती है। इसके प्रयोग से त्वचा का वर्ण पीला हो जाता है।

(३) तीसरी औपध "पाल्युड्रीन" है जो सबसे अधिक निरापद मानी जाती है। इन औषधो का विशेप विवरण परिशिष्ट मे देखे।

आयुर्वेदीय तथा आधुनिक सभी विषम ज्वरघ्न औषधो का प्रयोग प्रायः ज्वरागमन के कुछ काल पूर्व से करना श्रेयस्कर होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के प्रयोग से ज्वर-वेग का प्रतिषेध सभव होता है। यदि इनके प्रयोगान्तर ज्वर का वेग आता भी है तो उसका सताप अपेक्षाकृत न्यून होता है। प्रायः कहने का अभिप्राय यह है कि वेग के आ जाने पर भी यथावश्यक इनका प्रयोग होता है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखे कि इस ज्वर मे वे सभी औषधे जो ज्वरघ्न है अर्थात् सतापहर तथा सावधिनिवारक (Antipyretic and Antiperiodic) हैं युक्तियुक्त उपयोग मे इसमे लाभ करती है। निर्मित योगो के अतिरिक्त विज्ञचिकित्सक अपने अनुमान से इन औषधो के योगो की कल्पना कर यथावश्यक यथायोग्य उपयोग कर सकता है। (इनकी सूची परिशिष्ट मे देखे)

पहले कहा जा चुका है कि इस ज्वर का प्रभाव शारीर धातुओ पर अनिष्टकर होता है। सभी धातुओ का मूल स्रोत "रक्तधातु" का इसमे नाश होता है जिससे पाण्डु, प्लीहा प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते है। अतः इसकी रक्षा के लिए रक्तवर्धक औषधो का प्रयोग भी इसमे मूलव्याधि के प्रतिकार के साथ-साथ होना आवश्यक है। एतदर्थ लौह, ताम्र, अभ्र तथा मल्ल के योगो का यथावसर प्रयोग हितकर होता है। आधुनिक चिकित्सक भी लौह (Iron) तथा मल्ल (Arsenic) के योगो से निर्मित अनेक औषधो का प्रयोग एतदर्थ करते हैं।

पथ्य की व्यवस्था :—

इस रोग मे धातुओ का ह्रास शीघ्र होता है अत. प्रारम्भ से ही समुचित पथ्य-व्यवस्था आवश्यक है। आयुर्वेद की यह युक्ति कि "पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषध निषेवणै." इस रोग मे पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती है। अत इसमे सुजर एव पुष्ट आहार परमावश्यक है।

बृहण आहार द्रव्यो का प्रयोग जो सुजर हो करना चाहिये। फलो (नारगी, सेव, दाडिम, खर्जूर प्रभृति) का स्वरस अथवा यूष, (पपीता, परवल, केला, करैला, प्रभृति) का देना परम हितकर है। मासाहारियो के लिए यकृद् रस (अजा का), मुर्गा, तित्तिर तथा मयूर का मास देना चाहिये। भोजन मे यथावसर रक्तशालि, षष्ठिक, गोधूम, मुद्गयूष, दूध (गो दुग्ध तथा अजा दुग्ध) का सप्रशस्त प्रयोग करना चाहिये।

धातुगत ज्वर :—

महामहोपाध्याय जी ने कहा है कि "धातुस्था सर्व एवैते विज्ञेया विषम ज्वरा" (सि० नि०) अर्थात् सभी धातुगत ज्वरो को भी विषमज्वर

जानना चाहिये। इसके समर्थन मे उन्होंने सुश्रुत के वे वचन उद्धृत किये है जिनमे उन्होने कहा है कि "विषम ज्वर मे ज्वर धातुओं मे लीन या अन्तर्गत रूप से स्थित रहता है (सु० उ० अ० ३९)। इसके अतिरिक्त ज्वर के वेग आदि भी इसमे विषम होते हैं अत. इनकी गणना विषमज्वरो मे युक्तियुक्त है।"।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि ऋतु आदि के बलाबल के अनुसार विषमज्वर के प्रकार भी विभिन्न रूपो को धारण कर लेते हैं। जैसे सन्तत ज्वर सतत का तथा सतत ज्वर अन्येद्युष्क, तृतीयक आदि का अथवा तृतीयक, चातुर्थक आदि सतत, सतत, अन्येद्युष्क आदि का। चरक ने इस तथ्य पर ध्यान आकृष्ट करते हुए आश्रय भेद से ज्वरो का वर्णन करने के पूर्व कहा है कि "ऋतु आदि के बलाबल से ज्वर विभिन्न रूपो को धारण कर लेता है।"

"ऋत्वहोरात्रदोषाणा मनसश्च बलाबलात् ।
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्त त प्रपद्यते ॥" (च० चि० ३।५४)

विजय रक्षित ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जैसे ग्रीष्म ऋतु मे उत्पन्न वात प्रधान चातुर्थक ज्वर वर्षाऋतु को प्राप्त कर ऋतुस्वभाववश अधिक बलवान् हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप दोषप्राबल्य के अनुसार सततक, अन्येद्युष्क, तृतीयक मे से किसी भी रूप को धारण कर सकता है।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु मे उत्पन्न वातप्रधान सन्तत ज्वर शरद् ऋतु मे ऋतु स्वभाववश बलहीन होकर सततक आदि किसी रूप को धारण कर सकता है। ऋतु के अनुसार पित्त और कफ का उत्कर्ष वा अपकर्ष भी इसी प्रकार होता है। जैसे :—वर्षा ऋतु मे उत्पन्न पित्तप्रधान चातुर्थक ज्वर शरद् ऋतु मे अधिक बलवान् होने से तृतीयक आदि रूपो को धारण कर सकता है। इसी प्रकार शरद् ऋतु मे उत्पन्न पित्तप्रधान सन्तत ज्वर हेमन्त ऋतु मे बलहीन होकर सततक आदि का रूप धारण कर सकता है। तथा शिशिर ऋतु मे उत्पन्न कफप्रधान चातुर्थक ज्वर हेमन्त ऋतु को प्राप्त कर बलवान् हो तृतीयक आदि का रूप धारण कर सकता है। और वसन्त ऋतु मे उत्पन्न कफप्रधान सन्तत ज्वर-ग्रीष्म ऋतु मे स्वभावत हीनबल होने से सतत आदि का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार ऋतु के बलाबल से यह भेद दर्शाया गया। अब अहोरात्र के बलाबल का उदाहरण दिया जाता है।

उपर्युक्त श्लोक मे अहोरात्र शब्द उपलक्षण मात्र है। अत. इसका अर्थ २४ घन्टा न कर "कुछ दिन" करना चाहिये। क्योकि २४ घन्टे के अन्दर सततक आदि ज्वरो मे दोषो के उत्कर्ष और अपकर्ष का कोई परिणाम नही होता। जब वर्षा, शरद और वसन्त ऋतु के प्रारम्भिक दिनो मे वात आदि दोष तत्तद्दोषोत्पन्न चातुर्थक ज्वर को उत्पन्न करते हैं तब उन ऋतुओ के मध्यदिनो में दोषो के

वलवान् होने से वह ज्वर तृतीयक आदि का रूप धारण कर सकता है। इसी-प्रकार इसके विपरीत के प्रारम्भ मे उत्पन्न वातप्रधान सन्तत ज्वर वर्षा के अन्तिम दिनो मे हीनवल होने से सतत आदि का रूप धारण कर सकता है। तथा शरद् ऋतु मे उत्पन्न पित्तप्रधान और वसन्त ऋतु मे उत्पन्न कफप्रधान सन्तत ज्वर ऋतु के अन्तिम दिनो मे क्षीण वल होने से अन्य रूपो को धारण कर सकते हैं।

दोष के वलावल का उदाहरण :—सततक आदि विषम ज्वरो मे यदि श्लेष्मा की उल्वणता रहे और उसमे आक्रान्त रोगी यदि श्लेष्मवर्धक आहार विहार का सेवन करे तो प्रवृद्ध दोष ज्वर को सन्तत रूप मे परिवर्तित कर सकता है। पित्त तथा वातोल्वण विषम ज्वरो को भी इसी प्रकार समझ ले।

मन के वलावल का उदाहरण :—यदि सन्तत ज्वर से पीडित रोगी मे "सत्त्व गुण" की प्रवलता हो अर्थात वह "सत्त्वसार" पुरुष हो तो रोगी प्रसन्न और सहिष्णु होता है, जिससे वह रोग वढ नहीं पाता। इतना ही नही उसके मनोवल के कारण ज्वर हीन वल होकर सतत आदि का रूप धारण कर लेता है। इसके विपरीत यदि रोगी तमोगुण प्रधान हो अथवा सत्त्वसार हीन हो तो उसका चातुर्थक ज्वर विषाद के कारण तृतीयक आदि का रूप धारण कर सकता है। चरक ने कहा भी है "विषादो रोगवर्धनानाम्"।

अर्थ के वलावल का उदाहरण :—

यहाँ अर्थ से पूर्व जन्मकृत कर्मो का ग्रहण है—पूर्व जन्मकृत कर्म के वलावल के अनुसार इस जन्म मे उपलब्ध कारणो से उत्पन्न संतत आदि ज्वरो मे भी परिवर्तन देखा जाता है।

चरक ने विषम ज्वर के रूप परिवर्तन के उक्त रहस्य का दिग्दर्शन कराकर धातुगत ज्वरो का वर्णन किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उन्हे भी इन ज्वरो को विषमज्वर के वर्ग मे ग्रहण करना अभीष्ट था। सुश्रुत ने धातुगत ज्वरो का वर्णन कर कहा है कि—

वातपित्तकफोत्थाना ज्वराणा लक्षण यथा।
तथा तेषा भिषग् ब्रूयाद् रसादिष्वपि बुद्धिमान्॥ (सु० उ० अ० ३९)

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ज्वरो के लक्षण दोषक्रम से विचारते हैं उसी प्रकार रसादि धातुओ के आश्रय क्रम मे भी ज्वरो के लक्षण का विचार करना आवश्यक है। इन लक्षणो से हमे यह ज्ञान होता है कि ज्वर इस धातु मे आश्रित या संलीन है। इस ज्ञान से हमे साध्यासाध्य विचार मे तथा चिकित्सा की व्यवस्था मे सुविधा होती है।

(१) रसधातुगत ज्वर के लक्षणः—ज्वर जब रसधातु मे संलीन रहता है तब रोगी शरीर गौरव (भारीपन) अनुभव करता है तथा उसे इस प्रकार का उत्क्लेश (मिचली) होता है जिससे उसे प्रतीत होता है कि उसका हृदय बाहर आ जायगा। यह आमाशय के उत्कट सकोचवश होता है। रोगी अवसाद, छर्दि तथा अरुचि से पीडित होता है। वह अपने अन्दर दैन्यभाव का अनुभव करता है। रोगी को अङ्गमर्द तथा जृम्भा अधिक होती है। रोगी इन कष्टो से सदा उद्विग्न रहता है। इसमे बहिस्ताप होता है।[1]

(२) रक्तधातुगत ज्वर के लक्षण :—ज्वर जब रक्तधातु मे संलीन रहता है तब रोगी रक्तष्ठीवन करता है। वह दाह, स्वेद, छर्दि, भ्रम, मद तथा मोह से पीडित होता है। रोगी प्रलाप करता है तथा उसके शरीर पर लाल पिडकायें निकल आती हैं। इसमे रोगी को अत्यधिक तृष्णा होती है। रोगी का शरीर सदा उष्ण रहता है।[2]

(३) मांसधातुगत ज्वर के लक्षण :—जब ज्वर मास धातु मे संलीन होता है तब रोगी की पिण्डलियो मे उद्वेष्टन होता है, उसे तृष्णा अधिक लगती है तथा उसे मलमूत्र की बारबार प्रवृत्ति होती है। शरीर मे ऊष्मा तथा अन्तर्दाह का अनुभव होता है और वह अपने अगो का विक्षेप अर्थात मुहु. मुहु सचालन करता है। रोगी ग्लानि का (दु ख का) अनुभव करता है। इनके अतिरिक्त मोह तथा दौर्गन्ध्य लक्षण भी होते हैं।[3]

(४) मेदधातुगत ज्वर के लक्षण :—जब ज्वर मेदधातु मे सलीन होता है तब रोगी अत्यधिक स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा, प्रलाप बराबर छर्दि इन लक्षणो से पीडित होता है। रोगी के शरीर से इतनी दुर्गन्ध आती है कि वह उसे स्वय

---

१ (क) गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदन छर्द्यरोचकौ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्ग दैन्य चास्योपजायते॥ (सु उ. अ ३९)
(ख) गुरुत्वं दैन्यमुद्वेग सदन छर्द्यरोचकौ।
रसस्थिते बहिस्ताप साङ्गमर्दो विजृम्भणम्॥ (च नि अ ३)
२. (क) रक्तनिष्ठीवन दाह स्वेदच्छर्दनविभ्रमौ।
प्रलाप पिटिकास्तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्॥ (सु उ अ ३९)
(ख) रक्तोष्ण. पिडकास्तृष्णा सरक्त ष्ठीवन मुहु.।
दाह-राग-भ्रम-मद-प्रलापा रक्तसस्थिते॥ (च चि ३)
३. (क) पिण्डिकोद्वेष्टन तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
ऊष्मान्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानि. स्यान्मासगे ज्वरे॥ (सु उ अ ३९)
(ख) च. चि अ ३।७८

सहन करने मे असमर्थ होता है तथा अरुचि एव ग्लानि से पीड़ित होता है। रोगी कष्टो के सहने मे भी असमर्थ होता है।[1]

(५) **अस्थिधातुगत ज्वर के लक्षण :**—ज्वर के अस्थिधातु मे सलीन होने पर रोगी को विरेचन तथा वमन के कष्ट होते हैं। उसकी हड्डियो मे भेदनवत् पीड़ा होती है। वह कहँरता रहता है तथा श्वासकष्ट से पीडित होता हैं। कष्ट के कारण अपने अङ्गो को फेंकता रहता है।[2]

(६) **मज्जधातुगत ज्वर के लक्षण :**—मज्जा धातु मे जब ज्वर संलीन होता है तब रोगी की आंखो के सामने अधकार का अनुभव होता है। वह हिक्का, कास, महाश्वास तथा मर्मस्थान (हृदय) मे छेदनवत् पीडा का अनुभव करता है। उसका शरीर स्पर्श मे शीत होता है तथा वह अन्तर्दाह से पीडित रहता है।[3]

(७) **शुक्रधातुगत ज्वर के लक्षण :**—शुक्र धातु मे जब ज्वर सलीन होता हैं तब रोगी प्राय. मृत्यु को प्राप्त होता है। इस ज्वर मे जननेन्द्रिय स्तब्ध हो जाती है तथा शुक्र का अधिक मोक्ष होने से सर्वशरीरस्थ प्राणवायु, अग्नि तथा सोम का भी क्षय हो जाता है जिससे प्राणान्त हो जाता है।[4] जिस प्रकार अग्नि इन्धन को दग्ध कर और विष धातुओ को नष्ट कर शान्त हो जाते है उसी प्रकार शुक्रधातुगत ज्वर जीवित शरीर को नष्ट कर स्वय शान्त हो जाता है।[5]

इन उपर्युक्त धातुगत ज्वरो मे रसरक्ताश्रित ज्वरो को सुख-साध्य कहा गया है। समावस्था मे तो सभी ज्वर रस तथा रक्त धातु मे सश्रित होते हैं। सन्तत तथा सतत ज्वर को भी रसरक्तस्थ कहा है। अन्य सान्निपातिक ज्वर भी रसरक्तस्थ होते है। परन्तु यहाँ पर विषम ज्वर रसरक्त सश्रित अपेक्षाकृत साध्य माना

---

१. (क) स्वेदस्तृष्णा पिपासा च प्रलापो वम्यभाक्ष्णशः।
स्वगन्धस्यासहत्व च मेद.स्थे ग्लान्यरोचकौ ॥ (च चि, ३.७९)
(ख) सु. उ अ ३९।

२. च. चि अ. ३।८०, सु उ अ. ३९।

३. (क) तम प्रवेशन हिक्का कासः शैत्य वमिस्तथा।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्म्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ (सु उ. अ ३९)
(ख) हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्।
मर्मच्छेदो बहिः शैत्य दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ॥ (च. चि अ ३)

४ (क) मरण प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे।
शेफस. स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ (सु उ अ. ३९)
(ख) शुक्रस्थानगत. शुक्रमोक्ष कृत्वा विनश्य च।
प्राण वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभु ॥ (च. चि. अ ३

५ दग्ध्वेन्धन यथा वह्निर्धातून् हत्वा यथा विषम्।
कृतकृत्यो व्रजेच्छान्ति देह हत्वा तथा ज्वर ॥ (सु उ अ ३९)

गया है। इसी प्रकार मास तथा मेदगत ज्वर को भी साध्य की ही श्रेणी में रखा है। अन्येद्युष्क तथा तृतीयक भी मासमेदगत ज्वर है। अस्थि तथा मज्जाधातुगत ज्वरो को कृच्छ्र साध्य कहा है। चातुर्थक ज्वर को अस्थिमज्जागत ज्वर माना है और उसे भी कृच्छ्रसाध्य कहा है। शुक्रधातुगत ज्वर को असाध्य कहा है।

जेज्जटाचार्य ने इन धातुगत ज्वरो के वर्णन को अनावश्यक कहा है। उनका कथन है कि पाच प्रकार के (सतत आदि) विषम ज्वरो का धातुगलीनत्व या आश्रयत्व प्रतिपादित हो चुका है। जैसे—सतत, सतत को रसरक्तस्थ निर्देश अन्येद्युष्क को मासगत का निर्देश एवं तृतीयक को मेदगत कहना और चातुर्थक को अस्थिमज्जागत निर्देश करना इत्यादि। परन्तु गयदास आदि ने इनके वर्णन का औचित्य प्रतिपादित किया है। अस्तु, ये धातुगत ज्वरो के वर्णन तथा इनका ज्ञान किस प्रकार चिकित्सा मे सहायक होता है यह चिन्त्य है। धातुगत ज्वरो मे शोधन चिकित्सा परमावश्यक है।

प्रतिकार :—चरक ने रसधातुगत ज्वर मे वमन तथा उपवास कराने का आदेश दिया है। रक्तधातुगत ज्वर मे सेक, प्रदेह तथा सशमन चिकित्सा का विधान है। मास तथा मेदधातुगत ज्वर मे उपवास के साथ साथ विरेचन कराने का निर्देश किया है। अस्थि तथा मज्जाधातुगत ज्वरो मे निरूह तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग विहित है।[1] योगरत्नाकर मे रक्तगत ज्वर मे आवश्यकतानुसार रक्तमोक्षण भी करने का आदेश है। मासगत ज्वर मे तीक्ष्ण विरेचन का विधान है। मेदगत ज्वर मे मेदघ्न (मेद को नाश करने वाले) औषध तथा उपचार का निर्देश है तथा अस्थिधातुगत ज्वर मे वातनाशक उपचार का विधान है। इसके लिए वस्ति कर्म, अभ्यङ्ग तथा उद्वर्तन करने के लिए कहा है।[2]

धातुगत ज्वरो मे सुदर्शन चूर्ण, सर्वज्वरहर लौह, सत्त्व गुडूची, सितोपलादि, अमृतारिष्ट, सशमनी, चन्दनादि लौह तथा स्वर्ण वसन्त मालती का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये। इन योगो का विस्तृत वर्णन परिशिष्ट मे देखे।[3]

---

१ ज्वरे रसस्थे वमनमुपवास च कारयेत्।
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा सशमनानि च॥
विरेचन सोपवास मासमेद स्थिते हितम्।
अस्थिमज्जगते देया निरूहा सानुवासना॥ (च चि अ ३)

२ योगरत्नाकर पेज १९२।

३. रसतन्त्रसार।

आगन्तुक ज्वर :—विषम ज्वरो मे प्रायः आगन्तुक कारणो का अनुबन्ध रहता है इसका संकेत पहले कर चुके हे। अत इन ज्वरो का वर्णन भी यहीं (इसी प्रकरण मे) करना समुचित है। आयुर्वेद वाङ्मय मे चार विभागों मे विभक्त करके आगन्तुक ज्वरो का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे—(१) अभिघातज (२) अभिषङ्गज (३) अभिचारज और (४) अभिशापज। इन चारो विभागो मे सर्व प्रथम अभिषङ्गज ज्वरो का वर्णन किया जायगा।[1]

अभिषङ्गज ज्वर

अभिषङ्गज ज्वर भी तीन प्रकार का होता है। जैसे—(१) वे ज्वर जो मानसिक विकारो के अभिषङ्ग से होते हैं यथा—(क) कामाभिषङ्गज (ख) शोकाभिषङ्गज (ग) भयाभिषङ्गज (घ) क्रोधाभिषङ्गज। (२) भूताभिषङ्गज (३) विषाभिषङ्गज।[2]

कामाभिषङ्गज ज्वर के लक्षण :—इस ज्वर मे रोगी किसी चिन्ता मे मग्न दीख पडता है। तथा वह निःश्वास बहुत लेता है। चित्त विभ्रम, तन्द्रा और आलस्य से वह पीड़ित रहता है तथा भोजन मे उसे अरुचि हो जाती है। हृदय मे उसे वेदना होती है तथा उसका शरीर सूखता जाता है।[3] शोकाभिषङ्गज ज्वर मे रोगी की आँखो से आँसू अधिक निकलता है, प्रलाप करता है और वह कभी-कभी अतिसार से पीडित हो जाता है। यह अतिसार दुश्चिकित्स्य होता है।[4] उपर्युक्त दोनो मे वायु का प्रकोप होता है। भयाभिषङ्गज ज्वर मे रोगी को शिरः पीडा होती है तथा वह अरुचि, चिन्ता तथा कम्प से पीडित होता है, और उसकी आखे लाल हो जाती हैं।

भूताभिषङ्गज ज्वर :—भूताभिषङ्गज ज्वरो का वर्णन दो प्रकार का प्राप्त होता है। प्रथम मानस विकार और दूसरा जीवाणुओ या कीटाणुओ के उपसर्ग से उत्पन्न ज्वर। कहा भी है कि—

"केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्"। (सु० उ० अ० ३९)

---

१ अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्॥ (मि नि मा. नि)

२ कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः॥
विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथाऽन्यैर्विषसम्भवैः।
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्॥ (सि नि मा नि)

३. मा. नि., मि नि।

४ (क) (मा नि (ख) सु उ अ ३९ (ग) च चि. अ ३)

महामहोपाध्याय आचार्य गणनाथ सेन जी ने भी कहा है कि—

"अत्र भूताभिषङ्गो जीवाणुकृतोऽभिषङ्गः इति व्याचक्षीरन् नव्याः।" (सि०नि०)

इनमे प्रथम प्रकार के ज्वर मे वृद्ध वैद्य पिशाच आदि ग्रहो का प्रवेश भी मानते है तथा कहते हैं कि—

'न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यानथवा विशन्ति।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात् ते भूत विद्याविषयादपोह्याः॥
इत्यादि (सुश्रुत)।

ग्रहोत्थ तथा प्रेतोत्थ ज्वर का संकेत पहले किया जा चुका है अत उसे यहाँ पुनः कहने की आवश्यकता नही।

जीवाणु संभव विषम ज्वर :—(१) दण्डक ज्वर (Dengue fever)—यह ज्वर लोकभाषा मे हड्डी तोड ज्वर कहलाता है। यह उष्ण कटिबन्धो मे मरक के रूप मे उत्पन्न होता है और लगभग एक सप्ताह तक रहता है। मृदु प्रकार का तीन दिन मे ही शान्त हो जाता है। अतः कही कही इसे 'तीन दिनवा ज्वर' भी कहते हैं। इसका संक्रमण काल ३–७ दिन है। यह अकस्मात् शीत तथा कम्प (Chill and rigor) के साथ उत्पन्न होता है तथा इसमे अत्यधिक शिरःशूल, अङ्गमर्द, दण्डाहतसम अस्थिसन्धिरुक् (विशेषकर पृष्ठवंश तथा सन्धियो मे) नेत्ररुक् के साथ ज्वर का संताप १०० फा० से १०५ फा० तक हो जाता है। कभी कभी सधियो मे शोथ और राग भी दृष्टिगोचर होता है। शरीर पर वीसर्प के समान ईषत् रक्ताभ कोठ आ जाते हैं जो स्वत शीघ्र विलीन भी हो जाते हैं। परन्तु श्यामगात्र पर ये दृष्टिगोचर नही होते। इसमे कण्ठ मे रुक् होता है तथा रोगी प्रतिश्याय कास से भी प्रायः पीडित होता है। ज्वर सदा विषमवेगी होता है। यह प्राय. जानपदिकरूप मे होता है तथा इसमे वातश्लेष्म का प्रकोप होता है। बच्चो तथा बूढो मे उत्पन्न यह ज्वर अधिक कष्टदायी होता है। अरुचि, छर्दि, अरति तथा अनिद्रा इसमे उपद्रव होते है। नाड़ी की गति प्रारम्भ मे तीव्र पश्चात् मन्द हो जाती है। ज्वर का संताप, स्वेद तथा अतिसार के साथ न्यून होता है। इसमे ज्वर उतर कर पुन पुन चढता है।[1]

निदान :—इसका विष एडीन नामक मशक (Aedine या Aedes-mosquito) के द्वारा मानव शरीर मे प्रविष्ट होता है जो एक प्रकार का वात विषाणु (Virus) से उत्पन्न विष होता है। इससे स्त्री तथा पुरुष एवं बाल तथा वृद्ध समान रूप से आक्रान्त होते हैं।[2]

---

१. (क) सि नि. (ख) Clinical Medicine Shevil
२. Shevil

प्रतिकार :—इसमे वेदनापह औषधो का योग ज्वरघ्न औषधो के साथ अपेक्षित है। अङ्गमर्द प्रशमक द्रव्यो का क्वाथ या अर्क, वेदनान्तक रस, विषम-ज्वरघ्न औषधो के साथ अधिक लाभ करता है। आधुनिक चिकित्सक इसमे ऐस्पेरीन, फेनासीटीन, कोडोपायरिन, नोभालजीन तथा अहिफेन आदि का प्रयोग वेदना निवृत्यर्थ करते है। चिकित्सा प्राय: विषमज्वर के समान ही होती है।

पीतज्वर या हारिद्रकज्वर

अथर्ववेद मे इसको "बभ्रुज्वर" कहा है। पीतज्वर (Yellow fever)—यह भी एक संक्रामक रोग है जिसमे ज्वर के उच्च संताप के साथ उग्र कामला के भी लक्षण दृष्टिगोचर होते है। रोगी का शरीर बिल्कुल पीला पड जाता है। शरीर के इस पीलेपन के कारण ही इसका नाम 'पीतज्वर' हुआ है। यह रोग प्राय: घातक होता है। वाग्भट ने इसको हारिद्रक ज्वर कहा है।[1]

निदान :—इस रोग का कारण एक अतिसूक्ष्म विषाणु है। यह अक्षत त्वचा को भी बीध कर शरीर के भीतर प्रवेश कर जाता है। इसका संक्रमण काल या परिपाक काल (Incubation period, ३–५ दिन का होता है। यह भी एडीस नामक मशक द्वारा ही मानव शरीर मे प्रवेश कराया जाता है। यह अमेरिका तथा अफ्रीका के उष्ण कटिबन्धो मे अधिक पाया जाता है।

लक्षण :—उच्च संताप (ज्वर), उग्र वृक्कशोथ, त्वचा तथा आमाशय एव आन्त्र आदि से रक्तस्राव और कामला।

इसमे प्राय: शिर शूल और छर्दि का कष्ट होता है। ज्वर का ताप १०३° से १०४ फा० होता है। इसके दो प्रकार है—(१) मृदु और (२) सामान्य।

(१) मृदु (Mild) प्रकार मे शिर: शूल छर्दि आदि के साथ ज्वर होकर कुछ दिनो मे ज्वर उतर जाता है।

(२) सामान्य (Ordinary) मे तीन अवस्थाये होती है।

प्रथमावस्था :—इसका श्रीगणेश अकस्मात् कम्पशीतपूर्वक होता है। पुरःकपालीय शिर.पीडा, पृष्ठरुक्, शाखाओ मे पीडा, मुखमण्डल उभरा हुआ, जिह्वा शूकपूर्ण (burred) तथा उसके प्रान्त भाग रक्त वर्ण हो जाते हैं। मूत्र मे अल्ब्यूमेन आता है तथा मूत्र का वर्ण पीला हो जाता है और परीक्षण से उसमे पित्त-लवण, पित्तरञ्जक और काष्ट प्राप्त होते हैं। नाडी की गति पहले तीव्र होती है पर बाद मे मन्द हो जाती है।

---

१. हारिद्रमेकवर्णाभस्तद्वर्णं यः प्रमेहति।
स वै हारिद्रको नाम ज्वरभेदोऽन्तक: स्मृतः॥ (अ. स नि २)

द्वितीयावस्था :—तीसरे तथा चौथे दिन ज्वर का संताप उतर कर प्रायः प्रकृत हो जाता है।

तृतीयावस्था :—ज्वर का संताप उतर कर पुनः चढ़ने लगता है। यह अवस्था दो तीन दिनों तक बनी रहती है। इस अवस्था में यकृत् बड़ा और पीडनासह हो जाता है। हिक्का और कामला के व्यक्त लक्षण होते हैं।

प्रतिकार :—प्रतिषेध के लिए मशकों का नाश आवश्यक होता है। प्रतिषेधात्मक इसकी सीरम भी तैयार हुई है जिसका सूचीवस्ति द्वारा प्रयोग होता है। इसकी अभीतक कोई विशिष्ट औषध नहीं निकल पायी है। लक्षणों के अनुसार इसमें विषमज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये। परन्तु इसमें पित्त का प्राबल्य रहने से इसकी चिकित्सा पित्तप्रसादक औषधों से करना श्रेयस्कर है। मूत्रल, मूत्रविरजनीय, पित्तहर या पित्तनिस्सारक औषधों का देना लाभप्रद होता है। गोदन्ती मिश्रण, प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी, सगमनी तथा सूतशेखर के प्रयोग से इसमें लाभ होता है।

कृष्णमेहज्वर :—(Black water fever)—इसका नाम पं० ब्रह्मदत्त जी शर्मा ने कालमेह ज्वर रखा है। इसका कारण यह है कि इसमें मूत्र का वर्ण काला आता है और पित्तज प्रमेह में एक कालमेह भेद भी होता है जिसमें मूत्र कृष्ण वर्ण का होता है।

निदान :—इस रोग का कारण तृतीयक तथा अन्य विषम ज्वरों से बचने के लिए अधिक एवं अनियमित क्वीनीन का या तत्सम औषधों का सेवन बतलाया गया है। इसमें रक्त का नाश अतिशीघ्र होने लगता है। रक्त का नाश इतनी तीव्र गति से क्यों होता है यह अभी तक मालूम नहीं हो सका है।

लक्षण :—यह किस प्रकार प्रारम्भ होगा यह नहीं कहा जा सकता। यह ज्वर अकस्मात् शीत कम्प, कटिरुक् तथा उदररुक् के साथ दृष्टिगोचर होता है। इसमें पित्त का वमन तथा घन रक्तवर्ण का मूत्र त्याग होता है जो कुछ काल बाद कृष्ण वर्ण में परिणत हो जाता है। रक्त का नाश होने से रोगी में कामला तथा पाण्डु के भी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी का रक्तचाप न्यून हो जाता है, वर्ण पाण्डु हो जाता है तथा वह अरति (बेचैनी) का अनुभव करता है। यकृत् तथा प्लीहा अभिवृद्ध हो जाते हैं। रोग की उग्रावस्था में मूत्राघात वा मूत्राल्पता तथा रक्ताम्लता (Acid) के भी लक्षण वृक्क के अकर्मण्य होने से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। रक्त-परीक्षण से कभी कभी मलेरिया के जीवाणु (Malarial Parasite) भी प्राप्त होते हैं। ज्वर का संताप प्रायः ३–४

दिनो मे न्यून होने लगता है। परन्तु ज्वर संतापाधिक्य के अधिक काल तक बने रहने मे रोगी की मृत्यु भी हो जाती है।

प्रतिकार :—विषम ज्वर के उचित प्रतिकार से इस रोग की उत्पत्ति की संभावना न्यून हो जाती है। रोगी की पथ्य व्यवस्था का समुचित होना इस ज्वर मे परमावश्यक है। रोगी को द्राक्षशर्करा मिला कर प्रभूत मात्रा मे जल पीने को देवे। इसमे सर्जीक्षार तथा निम्बुकाम्ल या नीम्बू का रस देने से अधिक लाभ करता है।

प्रयत्न यह होना चाहिये कि रोगी का मूत्र क्षारीय बना रहे। इसकी चिकित्सा प्रमुख रूप मे पित्तप्रसादक शीतवीर्य मधुरतिक्त रस प्रधान औषधो मे होनी चाहिये। एतदर्थ मुक्ता, प्रवाल, गुडूचीसत्व, लोह, मण्डूर से निर्मित ज्वरघ्न औषधो का उपयोग अपेक्षित है। पाण्डु रोगाधिकारोक्त पाण्डु तथा कामलाहर ज्वरघ्न योगो का व्यवहार इसमे अधिक उपयोगी है। पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लोह, अष्टमूर्ति रसायन, लौहासव, अमृतारिष्ट, पुनर्नवामण्डूर, नवायस, योगराज रस का उपयोग यथावसर तथा यथावश्यक करने से लाभ होता है।

पृषज्ज्वर या यूकालिक्षाज्वर

पृषज्ज्वर(Typhus fever) . —यह एक प्रकार का उग्र संक्रामक ज्वर है जो प्राय. यूका, लिक्षा (जू और लीख) से व्याप्त गन्दे प्रदेशो मे होता है। ऐसे प्रदेश के निवासियो मे ही इसका आक्रमण देखा गया है। इन यूका तथा लिक्षाओ द्वारा ही यह मनुष्य शरीर मे प्रविष्ट होता है। जहाँ जूएं होती है वहाँ इसका प्रसार सरलता से हो जाता है। क्योकि जूएं बडी शीघ्रता से फैलती हैं। सम्पर्क के कारण निकटस्थ व्यक्ति मे भी इसका प्रसार हो जाता है। इस प्रकार इस रोग का प्रसार जूंओ से ही होता है। अत इसको यूकालिक्षा ज्वर (Louse fever) भी कहा जाता है। (Typhus exanthematicus)

लक्षण:—इस ज्वर मे संक्रमण का परिपाक काल (Incubation period) ५ मे २० दिनो तक का होता है। कभी कभी अगमर्द तथा अवसाद के रूप मे पूर्व रूप भी इसमे दृष्टिगोचर होता है। 'परन्तु सामान्यतः ज्वर शीतकम्प-पूर्वक अकस्मात् ही होता है। ज्वर सताप १०२° से १०४° फा० तक हो जाता है। कभी कभी छर्दिका कष्ट भी देखा जाता है। मुखमण्डल तथा नेत्र रक्ताभ हो जाते है। जिह्वा मलिन, दुर्गन्धयुक्त श्वास, शिर शूल (अनवरत), कास, ये लक्षण होते हैं तथा रोगी अत्यधिक अवसन्न एव मदाभिभूत दृष्टिगोचर होता है।

कभी कभी मोह तथा प्रलाप के लक्षण भी दिखाई देते हैं। रोगी परम सुस्त तथा तन्द्रायुक्त प्रतीत होता है। ज्वर का उच्चताप लगभग १२–१४ दिनो तक बना रहता है जिसमे प्रातःकाल ताप कुछ न्यून रहता है। ज्वर-मोक्ष प्राय. अदारुण (Lysis) होता है। प्लीहा ईषद् वृद्ध हो जाती है। चौथे तथा पाचवे दिन शरीर पर चकत्ते निकल आते हैं। (विशेष रूप में उदर, कक्षा, पृष्ठ, वक्ष प्रदेश मे)। मुखमण्डल प्राय अलिप्त रहता है।

इस रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणु का नाम पृषज्ज्वर सन्धिपादजीवी (Reckettsia Prowazeki) है। यह जूओ के अन्त्र मार्ग मे रहता है। संक्रान्त जूओं के मल मे इस जीवाणु की बडी सख्या निकलती है। जूं के अन्त्रमार्ग मे उपस्थित कोशाणुओ के अन्दर असख्य ऐसे जीवाणु उपस्थित रहते हैं। जूं के मल के साथ निकलने पर ये जीवाणु उस व्यक्ति के शरीर की त्वचा पर पडे रहते है और जहाँ कही क्षत या खरोच शरीर मे हुआ कि वे उसके अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। जू के दशन से भी ये शरीर मे प्रवेश करते हैं। तथा जूं के मल द्रव्य के सूख जाने पर हवा से रजकण के साथ श्वास द्वारा भी मुख्यतया नासिका के मार्ग मे शरीर मे प्रवेश करते हैं। यह विकार पहाडी प्रदेशों मे अधिक पाया जाता है। इसकी अनेक उपजातियाँ भी हैं।

यह एक साघातिक व्याधि है। इससे आक्रान्त रोगी प्राय (१) हृत्पेशियो की क्षति के कारण (२) मोह, या मूर्च्छा विषाक्तता के कारण (Coma due to Toxaemia) तथा (३) श्वसनक के कारण मरते है।

प्रतिकार :—इस रोग से वचने के लिए सर्वप्रथम निवास-स्थान को यूका तथा लिक्षा मे रहित करे। वस्त्र आदि को भी इससे अस्पृष्ट रखे। जहाँ इसकी सभावना हो उस स्थान को फेनायल नौसादर, तथा तारपीन के तेल आदि से इसको नष्ट कर दें। इसका भैक्सीन भी एतदर्थ आता है। इससे आक्रान्त रोगी को तरल का सेवन प्रभूत मात्रा मे करावे। रोगी के मुख आदि की सफाई पर विशेष ध्यान दे और शय्याव्रण से उसकी रक्षा करे। पथ्य मे फलरस, यूप, दूध प्रभृति देवें। इसमे आन्त्रिकसन्निपात ज्वर की चिकित्सा का यथा योग्य अनुसरण करें।

सुत्सुगामूषी ज्वर

(Tsutsugamushi fever)

"यह भी पृषज्वर के (Typhus fever) सदृश ही सक्रामक ज्वर है, जो जापान, मलाया, सुमात्रा, गिनी, ईस्ट इन्डीज आदि देशो मे स्थायी रूप से पाया जाता है। विश्व युद्ध के दिनो मे यह उष्णताप्रधान देशो मे

बहुत व्यापक रूप से फैला था। इसको क्षुप पृषज्वर (Scrumb Typhus) भी कहते है। क्योकि इसके सक्रमण का वाहक कीट प्राय: ऊची व्यास मे सड़ती गलती झाडियो मे पलता है।"

(विकृति विज्ञान—पं० ब्रह्मदत्त शर्मा से उद्धृत)

लक्षण—इस ज्वर के लक्षण यूका वाहित पृषज्ज्वर के (Louse borne Typhus) समान होते है। इस ज्वर से आक्रान्त रोगी के शरीर पर दश स्थान पर सर्वप्रथम छोटा सा व्रण बन जाता है। तत्पश्चात् प्रादेशिक तथा व्यापी लसीकाग्रन्थिशोथ, कोठ (पिडकाकार) के साथ ज्वर सताप का चढना और लगभग २ से ३ सप्ताह तक बना रहना ये लक्षण होते हे। दश के ५ से १६ दिनो के अन्दर इसके लक्षण प्रारम्भ होते हैं। ज्वर के साथ शिर शूल, भ्रम, तथा शीतकम्प भी होता है। ज्वर प्राय प्रथम सन्तत प्रकार का होता है।

निदान :—"मूलत यह रोग चूहो (मूषिको) का है। इस रोग से संक्रान्त चूहो का रक्त पी चुकने के बाद जब यह कीट–अणु–उपेन्द्र गोप–अपने अण्डे को देता है तो उनमे भी इस सक्रमण की अनुवृत्ति कर देना है। उन अन्डो से बने लार्वे (डिम्भ) भी इस जीवाणु के सक्रमण से भरे पडे होने है। ऐसे सक्रान्त लार्वे इस कीट के निवास-स्थानो अर्थात् झाड-झखार, लम्बी घासो पर या उस भूमि पर पडे रहते है और जब कोई स्वस्थ मनुष्य वहाँ जाता या बैठता है तो उस पर इसका आक्रमण होकर सक्रमण हो जाता है। इस कीट के दंश से भी सक्रमण फैलता है।

(विकृति विज्ञान—प० ब्रह्मदत्त शर्मा)

इस रोग (ज्वर) के अनेक नाम प्रचलित है। जैसे :—

(1) Flea borne Typhus (2) Mite borne typhus

(3) Japanee river fever (4) Flood fever

(5) Island fever (६) Kedani Disease

(७) Akamushi disease (८) Shimamushi disease

(9) Yochibed इत्यादि।

इस जीवाणु का नाम 'सन्धिपादजीवि पौरस्त्य (Reckettsia orientatis और Reckettsia tsutsugamushi) है।

प्रतिकार :—प्रतिपेधात्मक चिकित्सा इसके दश और सक्रमण से बचना है। तथा इसके लिए बने विशिष्ट सीरम का सूचीवस्ति लेना है। उत्पन्न होने पर विषम ज्वर के समान चिकित्सा।

पाताल पृषज्ज्वर

(Rocky mountain spotted fever)

अमेरिका मे इसका सक्रमण अधिक देखा जाता है। अत इसका नाम "पाताल पृषज्ज्वर" है। वहाँ भी (सयुक्त राज्य के) एक टीलाओ मे व्याप्त (Rocky mountain) प्रदेश मे इसका विशेष प्रसार देखा गया है। इसके सक्रमण का वाहन चीचड (Tick) के द्वारा होने से इसे चीचड़ वाहित (Tick borne Typhus) पृषज्ज्वर भी कहते है।

लक्षण :—प्राय सामान्य पृषज्ज्वर के सदृश ही होते है। शिर.शूल निरन्तर बने रहने वाला ज्वर, अङ्गमर्द, पिण्डिकोद्वेष्टन, कोठ आदि लक्षण होते है। शरीर पर कोठोत्पत्ति इसमे विशिष्ट रूप मे देखी जाती है अत इसे स्पोटेड फीवर कहा है। इस ज्वर का सक्रमण परिपाक काल ४–१२ दिनो का है। ज्वर प्राय शीतकम्प के साथ प्रारम्भ होता है। सताप १०३° फा० से १०५° फा० तक और कभी कभी १०७° फा० तक पहुँच जाता है। प्लीहा बढ जाती है तथा पीडनासह होती है। नासा से रक्तस्राव भी होता है।

निदान :—इस रोग को उत्पन्न करने वाला सूक्ष्म जीवाणु सामान्य पृषज्ज्वर के उत्पादक जीवाणु के समान ही है। इसकी प्रकृति मे थोडा भेद होता है। इसको पाताल पृषज्ज्वर सन्धिपादजीवी (Dermacentxenus rickettsi) कहते है। इसके जीवाणु चिरी हुई लकडियो के त्वक् पर निवास करते है।

प्रतिकार :—इस रोग के संक्रमण से बचने का उपाय करना चाहिए। नसादर, तारपीन का तेल, फेनायल के प्रयोग से टीक को स्वच्छ रखे। इससे बने विशिष्ट भैक्सीन (Vaccine) का उपयोग करें। शेष चिकित्सा विषमज्वरवत्।

खाति ज्वर

(Trench fever)

विगत विश्व युद्ध मे सैनिको को सग्राम काल मे खातो (Trenches) मे छिपकर कार्य करना पड़ता था। इस खात-निवास-काल मे इस ज्वर की उत्पत्ति हुई जिससे इसका नाम खात ज्वर (Trench fever) हुआ।

यह एक प्रकार का उग्र ज्वर है जिसमे शरीर की मास पेशियो मे तथा अस्थियो मे अत्यधिक पीडा होती है और इससे आक्रान्त पुरुष अत्यधिक

दौर्बल्य का अनुभव करना है। पिण्डिकाओ मे तथा जघास्थियो मे वेदना विशेष रूप में होती है जिससे इसका दूसरा नाम जघास्थि ज्वर भी है। ज्वर के दौरे प्राय पांच पांच दिनो के अन्तर से आते हैं। विपम ज्वर का प्रधान लक्षण मुक्तानुवन्धित्व इसमे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसे 'पञ्चाहिक ज्वर" भी कह सकते हैं। (Five days fever)। यह ज्वर चिरकालानुबन्धी होता है। ज्वर के साथ शरीर पर कभी कभी कोठोत्पत्ति भी होती है।

इस ज्वर के उत्पादक जीवाणु का नाम "यूकान्त्रसन्धिपादजीवी" (Reckettsia quintana) है। इसका वाहन मानव शरीर पर रहने वाला जू के पेट मे इसके जीवाणु चले जाते हैं और वहां की कला के कोशाणुओ मे प्रवेश किये बिना ही सीधे आन्त्रो मे रहकर अपना प्रसार करते हैं। सक्रान्त जूँओ के मल मे इसके असख्य जीवाणु पड़े रहते है और कही भी खरोच या क्षत पाकर शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। जूओ के दश से भी इसका संक्रमण होता है। इसके विषाणु भी सक्रान्त रक्त के कोषाणुओ मे रहा करते है रक्तरस मे (Serum) नही।

प्रतिकार :—जू मे बचने का प्रयत्न करे। चिकित्सा लक्षणो के अनुसार तथा विषमज्वरवत्।

क्विज्वर

(Queens land fever)

क्वीन्स लैण्ड (आस्ट्रेलिया) मे सर्वप्रथम इस ज्वर का ज्ञान होने से इसका नाम उपर्युक्त हुआ। इस ज्वर का कारण सन्धिपादजीवी (Reckettsia) प्रजाति का जीवाणु है जो चूहो मे रहता है। चूहो से मनुष्यो मे इसका सक्रमण होता है। इस रोग का प्रसार दक्षिण भारत के नीलगिरि तथा कोट्टम्बुनुर जिलो मे भी पाया गया है।

लक्षण :—इसके लक्षण मन्थर ज्वर तथा पृपज्ज्वर के समान ही होते हैं। ज्वर की अवधि ६ से १० दिनो तक होती है। इसमे कोठ तथा अतिसार नही होते है। ज्वर का सताप १०२° से १०४° फा० तक होता है। इसमे श्वसनक का उपद्रव प्राय देखा गया है।

प्रतिकार :—विपमज्वर के समान। पृपज्ज्वरवत् चिकित्सा।

सन्धिपादजीवीय विस्फोटिका

(Reckettsia Pox)

इसके लक्षण क्षुप पृपज्ज्वर (Scrub fever) के समान ही होते हैं।

इसमे लघुमसूरिका (Chicken Pox) के समान शरीर मे विस्फोट निकलते है और इसका उत्पादक जीवाणु सन्धिपादजीवी होता है अत. इसका नाम सन्धिपादजीवीय विस्फोटिका रखा गया है। यह १९४६ मे न्यूयार्क मे सर्वप्रथम देखा गया। यह प्राय साध्य रोग है। इसके सक्रमण का वाहक एक प्रकार का चीचर (Tick) होता है। इस कीटाणु के दश से यह रोग सक्रान्त होता है। इस कीटाणु के दश से पहले लाल रग की पिडका उत्पन्न हो जाती है तत्पश्चात् मन्द ज्वर होता है जो सप्ताह भर तक रहता है। कोठ के साथ कण्ठशोथ भी होता है। किसी किसी मे लसीका ग्रन्थियो मे शोथ तथा प्लीहा की वृद्धि भी हो जाती है। कोठ पहले पिडका के रूप मे होता है पुन. छाले (विस्फोट) का रूप धारण कर लेता है।

प्रतिकार :—सामान्य पृषज्ज्वर के समान ही इसमे भी प्रतिकार करना चाहिये। पथ्य मे तरल विशेष और प्रभूत मात्रा मे देना चाहिये। तरल मे द्राक्षौज जल, फलरस, यूष, दूध प्रभृति देना चाहिये। अन्य औषध चिकित्सा विषमज्वर के समान यथावश्यक। एतदर्थ निर्मित अन्तस्त्वक् सूचीवस्ति (Vaccine) का प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

माल्टा ज्वर
(Malta fever)

यह ज्वर विशेष रूप मे दक्षिण अफ्रीका तथा मेडीट्रीनीयन के तटवर्ती प्रदेशो मे देखा गया है। पजाव मे भी इसके कुछ रोगी प्राप्त हुए है। इसका उत्पादक जीवाणु ब्रूसेला मेडीटेन्सीस (Brucella meditensis) है। मनुष्यो मे इसका सक्रमण इस रोग से आक्रान्त अजा (वकरी) के दूध पान करने से होता है।

लक्षण :—इसका परिपाक काल १४ दिनो का होता है। पूर्व रूप मे ग्लानि, मॉस पेशियो मे रुक् तथा अजीर्ण या मन्दाग्नि के लक्षण दृष्टिगोचर होते है। तत्पश्चात् शिर शूल, ज्वर तथा गात्र पीडा की वृद्धि होने लगती है जिससे रोगी विकल होता है चिकित्सा के लिए प्रयास करता है। ज्वर का सताप १०३° फा० से १०४° फा० तक होता हे। ज्वर प्रायः २ सप्ताह बना रहता हे और कुछ दिनो के लिए उतर कर पुन. चढता है। कई बार इस प्रकार का ज्वर चढ उतर कर पुन· मुक्तानुवन्धी तथा विपमवेगी बन जाता है। ज्वर रात्रि मे प्राय बढता है। मास पेशियो तथा सन्धियो मे रुक् एव उदर विकार (पचन सम्वन्धी) दृष्टिगोचर होते हैं। उपद्रव रूप

मे शोथ, कण्ठव्रण, स्वेदाधिक्य, पाण्डु मरुक् प्लीहाभिवृद्धि तथा कास ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रतिकार :—प्रतिषेध के लिए सक्रमण से बचना परमावश्यक है। अजा दुग्ध नही लेना चाहिये। यदि लेना हो तो उसे खूब उबालकर लेवे। शुश्रूषा तथा पथ्य की सुव्यवस्था परमावश्यक है। सुजर एव पौष्टिक भोजन देना चाहिये। सल्फा ड्रग (Sulphonamide) इसमे लाभप्रद सिद्ध हुआ है। शेष चिकित्सा विषम ज्वर के समान। पेनिसीलिन का इस पर कोई प्रभाव नहीं देखा गया है।

सैकत माक्षिक ज्वर

(Sand Fly Fever)

इसका दूसरा नाम तीन दिनहा ज्वर (Three days fever) भी है। यह अधिकतर मिश्रदेश (Egypt) तथा मेसोपोटामिया आदि मे देखा गया है। भारत मे भी इसके रोगी प्राप्त हुए है। यह एक विषाणुजन्य ज्वर है जो सिकता मक्षिका (Sand Fly) के दश से मनुष्य मे प्रविष्ट होता है।

लक्षण :—इसके सक्रमण का परिपाक काल ५ से ७ दिनो का है। इसमें शीतकम्प के साथ ज्वर उत्पन्न होता है। पुन शिर शूल, नेत्र मे पीडा, पृष्ठरुक्, पिण्डिकोद्वेष्टन, तथा पादरुक् ये लक्षण होते है। रोगी की आखे लाल, तथा मुखमण्डल उभरा हुआ, जिह्वा मलीन तथा दुर्गन्धी दीख पडती है। ज्वर प्राय तीसरे दिन उतर जाता है पर कभी-कभी पाँच दिवस तक भी बना रहता है। छर्दि, मन्दहृद्गति श्वेत कणिकाओ की वृद्धि आदि लक्षण दीख पड़ने है। यह ज्वर कभी भी साघातिक नही होता।

प्रतिकार :—सैकत मक्षिकाओ का विनाश रोग से बचने के लिए परमावश्यक है। ये इतने सूक्ष्म होते है कि मशहरी के छिद्रो मे भी प्रवेश कर जाते हैं और प्राय. रात्रि मे ही ये दशते हैं। अत इनसे बचने का पूर्ण प्रबन्ध आवश्यक है। क्रिमिघ्न धूमो का एतदर्थ उपयोग आवश्यक है। फ्लीट द्वारा इनके ध्वस का प्रयत्न करना चाहिये। औषध मे वेदनाहर योगो का प्रयोग आवश्यक है। एस्पीरीन, फेनेसीटीन आदि का प्रयोग आधुनिक चिकित्सक करते हैं। विषम ज्वरहर औषधो का प्रयोग यथावसर करना चाहिये।

मूषिक दंशजज्वर

(Rat bite Fever)

इसे आखु दश ज्वर भी कहते है। यह एक प्रकार का चिरस्थायी ज्वर-युक्त रोग है जो चूहो के काटने से उत्पन्न होता है। आयुर्वेद के उपलब्ध सहिताओ

मे भी इसका वर्णन प्राप्त होता है। यह सामान्यत. घातक नही होता पर कष्ट-दायक अवश्य होता है। इस ज्वर की उत्पत्ति चूहो के काटने के कुछ दिन बाद होती है। अत आयुर्वेदानुसार इसकी गणना "दूषी विष" मे होती है।[1]

लक्षण:—ज्वर, अरुचि, लोमहर्ष, त्वचा पर चकत्ते, पाण्डुरोग, दंशस्थान पर लालिमा आदि लक्षण होते हैं।[2] यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखना चाहिये कि चूहे के दंश ही से इसका सक्रमण नही होता अपितु चूहो के विविध स्रावो मे भी सक्रमण की शक्ति रहती है। विशेषत: इसका शुक्र अति उग्ररूप मे सक्रामक होता है। चूहो के स्रवित शुक्र के सम्पर्कमात्र मे ही इसका शरीर मे सक्रमण हो जाता है। सभवत इस रोग के जीवाणु मे प्रबल वेधन शक्ति होती है जिससे वे सम्पर्कमात्र से शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे लक्षण अत्युग्र होते है। जैसे—ग्रन्थि, शोथ, तन्तुकोथ, भ्रम, शीतज्वर, अतिवेदना, रुदन, कम्प, सन्धिभेद, अगमर्द, मूर्च्छा आदि। इस ज्वर मे पूति सचार (Septicaemia) के लक्षण बहुत स्पष्ट रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

इन मूषिको का आयुर्वेद मे १८ भेदो का वर्णन प्राप्त होता है। इनका विस्तृत वर्णन अगदतत्र के प्रकरण मे किया जायगा।

मूषिको के काटने से जो क्षत या व्रण उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा शरीर मे इसके विषाणु का सक्रमण होता है वह कुछ काल बाद स्वत भर जाता है। परन्तु पुन. कुछ समय बाद उस स्थान पर व्रण शोथ उत्पन्न होता है। यह मध्यवर्त्ती काल प्राय. २-३ सप्ताह या एक मास तक का होता है। दुबारा शोथ उत्पन्न होने पर वहाँ वेदना भी होती है तथा अन्य सभी उपर्युक्त लक्षण शनै शनै. दृष्टिगोचर होने लगते है। जब कम्प एव कोठो के साथ ज्वरोत्पत्ति होती है तब सदन, शिर शूल, वमन, मूर्च्छा, भ्रम आदि लक्षण भी प्रकट होते हैं। लसीका ग्रन्थियो मे शोथ तथा अतिवृद्धि हो जाती है। इस ज्वर मे उत्पन्न ग्रन्थिशोथ तथा कोठ इसका विशिष्ट परिचायक लक्षण होता है। कभी-कभी ज्वर पुनरावर्तक

---

१. जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हत वा दावाग्निवातातपशोषित वा।
स्वभावतो वा गुणविप्रहीन विष हि दूषीविषतामुपैति॥ (सु क. अ २)

२ आदशाच्छोणित पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचि।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते॥ (च चि. २३)

३ "शुक्र पतति यत्रैषा शुक्रदिग्धै स्पृशन्ति वा।
यदङ्गमङ्गैस्तत्रास्रे दूषिते पाण्डुता गते॥
ग्रन्थय. श्वयथु. कोथो मण्डलानि भ्रमोऽरुचि.।
शीतज्वरोऽतिरुक् सादो वेपथुः पर्वभेदनम्॥
रोमहर्ष. स्रुतिर्मूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम्। (अ हृ उ अ अ)

स्वरूप का भी होता है। इस ज्वर के जीवाणु का नाम आखु दंश ज्वर अधिकुन्तलाणु (Spirillum minus, Spirochela morsus muci) है।

प्रतिकारः—आधुनिक चिकित्सक इसमे पेनिसीलीन का प्रयोग करते है। साल्भर्सन (Salverson) का भी प्रयोग इसमे करते है। आयुर्वेद मे सुश्रुतोक्त महाअगद का प्रयोग करना चाहिये। शरीर शुद्धि के लिए अश्वकचुकी रस तथा आमदोष पाचन के लिए बृहत् योगराज गुग्गुलु का प्रयोग करें। "आखुविषान्तक रस" के प्रयोग से भी अच्छा लाभ होता है।

पुनरावर्तक ज्वर

(Relapsing Fever)

चरक ने कहा है कि ज्वरमुक्त रोगी बल प्राप्त न होने पर (असजात बल) ही जब वर्ज्य आहार-विहार का सेवन करता है तो उसे पुनः ज्वर आ जाता है। अथवा ज्वरी के दोष का निर्हरण उचित रूप मे नहीं होता तब भी स्वल्प अपचार से ज्वर पुनः लौट आता है। इस प्रकार यह ज्वर पुनः-पुनः आने से "पुनरावर्तक" कहलाता है।[1]

आधुनिक वैज्ञानिक इसको स्पाइरोकेटल फीवर (Spirochetal fever) कहते हैं। फेमीन फीवर, स्पाइरीलम फीवर भी इसको कहते है। यह ट्रीपेनोमा रेकरेन्टीस नाम के जीवाणु से उत्पन्न होता है। यह रोग मुख्यतः उष्णताप्रधान देशो मे अधिक दृष्टिगोचर होता है। अफ्रीका और भारत मे तो बहुत व्यापकरूप मे यह उपलब्ध होता है।

निदान:—गन्दगी इस रोग का प्रधान कारण माना जाता है। क्योंकि जहाँ स्वच्छता की कमी देखी जाती है, स्वास्थ्य के नियमो का जहाँ उल्घन होता है तथा समुचित पोषण आदि पर जहाँ ध्यान नही दिया जाता उस देश तथा समाज मे इसका प्रसार देखा जाता है। जेल तथा अति संकुल जनपदो मे भी इसका सक्रमण अधिक देखा गया है। युद्धो तथा दुर्भिक्षो मे भी इसका बहुत व्यापक प्रसार देखा गया है। इसमे दो प्रकार के जीवाणु पाये जाते हैं। इन दोनो जीवाणुओ के नाम भी इनके आविष्कारक के नाम पर ही रखे गये हैं। जैसे—बोरेलिया रेकरेन्टीस या स्पीरीलम ओबेरमीयर (Borrelia recurrentis or Spirillum obermeere) और (२) बोरेलिया डट्टनी (Borrelia duttunei) ये दोनो ही जीवाणु पेचदार होते हैं। पं० ब्रह्मदत्तजी ने इसको—

---

१. च० चि० अ० ३।३३३-३३४

"विकुन्तलाणु" सज्ञा दी है। यूका, लिक्षा और चीचड के द्वारा ही इसका सक्रमण शरीर मे होता है।

इन पराश्रयी कीटो के शरीर मे ये जीवाणु (पेचदार) प्रवृद्धि पाते है। ज्वर काल मे जब इनका सक्रमण रक्त मे रहता है और उस काल मे जब उक्त कीटाणु ज्वराक्रान्त रोगी के शरीर रक्त को चूसते है तो ये जीवाणु प्रभूत सख्या मे उक्त यूका या लिक्षा के पेट मे चले जाते है और वहाँ मे पुन स्वस्थ शरीर मे इन कीटो के दश द्वारा प्रवेश करते हैं। इन पराश्रयी कीटो के मल-मूत्र मे भी ये जीवाणु निकलते है और इस मल-मूत्र का सम्पर्क जब स्वस्थ शरीर की त्वचा मे होता है तब भी इनका प्रवेश शरीर मे हो जाता है।

लक्षण :—बार-बार लौटकर ज्वर का आना इसका आत्मरूप (विशिष्ट रूप) है। इस ज्वर का प्रारम्भ अकस्मात् उग्ररूप मे शीतकम्प, शिर शूल, पृष्ठरुक्, वमन और निर्बलता के साथ होता है। ज्वर का सताप १०४° फा० तक चढ जाता है। प्लीहा वृद्धि भी पर्याप्त रूप मे हो जाती है। कभी-कभी कामला तथा ओजोमेह या सितमेह (Albuminuria) भी इसमे साथ-साथ होता है। पसीने के साथ ज्वर का सताप उतर जाता है और शीघ्र ही उल्लाघवावस्था (Convalescence) प्रारम्भ हो जाती है। रोगी शीघ्र ही स्वस्थता अनुभव करने लगता है परन्तु सप्ताह या दो सप्ताह बाद पुन वही नाटक प्रारम्भ होता है। चरक ने कहा है कि पुनरावर्तक ज्वर मे दोषो का पाक क्रमश. धातुओ मे ही होता है अत. इसका शीघ्र प्रतिकार नही करने मे धातुओ का क्षय तथा तज्जन्य विकार उत्पन्न होता है। इससे आक्रान्त रोगी दीन तथा ग्लानियुक्त अपने को अनुभव करता है। वह शोथ, पाण्डु तथा अरुचि से पीड़ित होता है। कण्डू कोठ, पिडका तथा अग्निमान्द्य के कष्ट उसे होते है। इतना ही नही इस प्रकार के अन्य अनेक रोग उसे होते हैं।[1]

प्रतिकार :—रोगी के बलाबल का विचार कर यथाबल दोष—निर्हरण करना आवश्यक है। सशोधन के पश्चात् यथावश्यक सशमन औषधो का प्रयोग करना चाहिये। यहाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि मृदु सशोधन ही यहाँ अपेक्षित है। यापनवस्ति आदि का प्रयोग श्रेयस्कर है। भोजन के लिए हितकर एव लघु यूषो का तथा जागल मास रसो का प्रयोग करना चाहिये। बाह्य उपचार मे अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, स्नान, धूपन तथा अञ्जन आदि का यथावश्यक प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

आभ्यन्तर प्रयोग के लिए तिक्त घृतो का तथा किराततिक्त (चिरायता),

१. च० चि० ३।३३३ से ३३८ तक।

कटुकी, नागरमोथा, पित्तपापडा, गुडूची इनका क्वाथ कुछ काल तक रोगी को पिलावे। इसके अभ्यास से "पुनरावर्तक ज्वर" नष्ट होता है।

रसौषधों में "पुटपक्व विषम ज्वरान्तक, सर्वज्वरहरलौह, जयमङ्गलरस, तथा मल्लसिन्दूर का प्रयोग यथावश्यक करे। अमृतारिष्ट, लौहासव, किराताद्यरिष्ट का भोजनोत्तर प्रयोग यथावश्यक करने मे इसमे लाभ होता है। आधुनिक चिकित्सक इस विकार मे "मल्ल (Arsenic) के योगो का तथा स्वर्ण के योगो का व्यवहार करते हैं। जैसे—

(1) Neo arsphenamine और (2) Solganol। पेनिसीलीन का भी यथावश्यक इसमे प्रयोग होता है। Digitalis, Petuitary extract और Strychnine का भी यथावश्यक हृदय की रक्षा के लिये उपयोग होता है। अनिद्रा होने पर नींद लाने की दवा भी देनी पडती है।

कर्णमूलिक ज्वर या पाषाणगर्दभ

(Mumps)

इस ज्वर को कर्णफेर (Mumps) भी कहते हैं। यह भी विषाणुजन्य (Virus) ज्वर है। जिसमें एक या दोनो कर्णमूल ग्रन्थियो मे शोथ के साथ ज्वर उत्पन्न होता है। सामान्य दशा मे पाच सात दिनो मे रुजा तथा शोथका नाश साधारण उपचार से ही हो जाता है। और इनके साथ-साथ ज्वर भी उत्तर जाता है। कभी-कभी इस ज्वर मे अण्डकोष मे भी रुजा, शोथ, दृष्टिगोचर होता है और ज्वर १० दिनों तक बना रहता है। यह प्रायः जानपदिक रूप मे होता है और परम संक्रामक है। यह बालको तथा युवावस्था मे ५ से २५ वर्ष तक विशेषरूप मे देखा जाता है।

इसको "पारोटाइटिस (Parotitis acute-epidemic) भी कहते हैं। वृद्धो तथा शिशुओ मे प्राय नही देखा जाता।

निदान—इसका उत्पादक एक विषाणु (Filtrable virus) है जो श्वास तथा नासा मुख आदि मे स्रवित बूँदो द्वारा संक्रमित होता है (Droplet in-

---

१. (क) एकतः कर्णमूलेऽथानुपदञ्चान्यतः पुनः।
शोथः सरुग्ज्वरो यत्र स ज्ञेयः कर्णमूलिकः॥
पञ्चषैस्तु दिनैस्तत्र रुजाशोफौ प्रणश्यतः।
स्थानाच्च कोषयोः प्रायोदशाहाच्च सुखम्भवेत्॥
स प्रायो जानपदिको वातश्लेष्मकृतो ज्वरः।
बालानामथ यूनाञ्च विशेषेण प्रवर्तते॥ (सि. नि)
वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिज।
स्थिरो मन्दरुज स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः॥ (मा. नि.)

fection)। इस विषाणु को थूक के अन्दर देखा जा सकता है। इसका सक्रमण कर्णमूलिक ग्रन्थियो मे शोथ उत्पन्न करता है। इसमे वातश्लेष्म का प्रकोप होता है।

प्रतिकार :—यह दो प्रकार का होता है। जैसे (१) साधारण (Simple) और (२) पूयसचारी।

साधारण का प्रतिकार सामान्य ज्वरवत् और ज्वरहर औषधो के प्रयोग द्वारा किया जाता है। बाह्य उपचारार्थ शोथहर औषधो का प्रयोग आवश्यक होता है। एतदर्थ हिंगुलेश्वर रस तथा त्रिभुवनकीर्ति का प्रयोग करना चाहिये। शोथ के लिऐ अर्चालेप, दशाङ्गलेप तथा गन्धविरोजा का लेप करने से लाभ होता है। रोगी को तरलपथ्य की व्यवस्था करना आवश्यक है। मुख शुद्धि के लिए गण्डूष धारण करना भी आवश्यक है। इसके लिए क्षीरीवृक्ष के त्वक् का क्वाथ कर गण्डूष धारण करावे। आधुनिक चिकित्सक इसमे सल्फोनामाइड का तथा पेनिसीलीन का प्रयोग करते है। ज्वरहर (Antipyretic) औषधो का भी प्रयोग करते है।

पूयसचारी मे उपनाह का प्रयोग कर पूयागम होने पर पाटन क्रिया करना आवश्यक होता है। तदनन्तर व्रण के प्रक्षालन, शोधन तथा रोपन का प्रयोग यथाविधि करना चाहिये। औषधोपचार साधारण कर्णमूलिक ज्वरवत् ही करना चाहिये।

इससे बचने के लिए आवश्यक है कि इस रोग से आक्रान्त रोगी के साथ सम्पर्क नही रखे। उसके खान-पान के पात्र का व्यवहार न करे तथा उसके साथ वार्तालाप सावधानी से करे जिससे उसके थूक आदि का सम्पर्क न हो सके।

ग्रन्थि ज्वर
(Glandular Fever)

यह भी एक विषाणुजन्य सक्रामक रोग है जो कि जानपदिकरूप मे वालको तथा युवापुरुषो एव स्त्रियो मे हुआ करता है। इस ज्वर के सक्रमण का पाक-काल ५ से १२ दिनो का होता है। इसका श्रीगणेश अकस्मात् होता है और छर्दि के साथ ज्वर सताप १०१° से १०२° फा० चढता है। इसमे गलशोथ या तुण्डिकेरीशोथ प्राय हो जाता है। कष्टदायक शिर पीडा तथा शाखाओ मे रुक् होता है। दूसरे या तीसरे दिन ग्रैवेय ग्रन्थियो मे शोथ उत्पन्न हो जाता है जिससे वह प्रदेश स्पर्शासह हो जाता है। कभी-कभी ये ग्रन्थियां पर्याप्त वृद्ध

हो जाती है और साथ-साथ कक्षा तथा वक्षण आदि की भी ग्रन्थियां शोथयुक्त हो जाती है। उदररुक् तथा उदर का पीडनासह हो जाना इस बात का सूचक होता है कि उदर की ग्रन्थियाँ भी शोययुक्त हो गई है। प्लीहा तथा यकृत् वृद्धि भी प्राय. देखी जाती है। कष्टप्रद कास भी इसमे दृष्टि गोचर होता है।

इसका एक दूसरा प्रकार भी होता है, जिसमे तुण्डिकेरी (Tonsil) के ऊपर एक झिल्ली बन जाती है (Angonose Variety) और उसके चारो तरफ शोथ हो जाता है। यह वहुधा रोहिणी (Diphtheria) का भ्रम उत्पन्न करता है। इस झिल्ली (Membrane) में भिन्सेन्ट वैसीली तथा स्पायरोकेटा प्राय पाया जाता है। संतापी प्रकार (Febrile form) युवाओ मे अधिक देखी जाती है।

लक्षण.—शीतकम्पपूर्वक अकस्मात् ज्वर, गलव्रण तथा शिरःपीडा के साथ उत्पन्न होता है। पिडकाये तथा कोठ प्रथम सप्ताह के अन्त मे मध्यशरीर मे दृष्टिगोचर होते हैं। इसमे ग्रन्थियो का शोथ विलम्ब से होता है। कभी-कभी तीसरे सप्ताह मे दृष्टिगोचर होता है। ज्वर कभी-कभी ३-४ सप्ताह तक बना रहता है। ज्वर का सताप प्रथम अविसर्गी और बाद मे विसर्गी तथा विषमवेगी हो जाता है। इसमे प्लीहावृद्धि अत्यल्प होती है। ग्रन्थिक प्रकार मे ग्रन्थि शोथ पाँच से सात दिनो मे न्यून होने लगता है। परन्तु ज्वर दो से तीन सप्ताह तक बना रहता है। रक्त परीक्षण से "वासरमैन टेस्ट" अस्त्यात्मक प्राय होता है और श्वेत कणिका वृद्धि (Leucocytosis) ६,००० से २०,००० प्र० क्यू० मि० मी० हो जाती है। इसमे मोनोन्यूक्लीयर सेल्स भी अप्रौढ तथा प्रौढ रूप मे अधिक हो जाते है (६०–७५ प्र० श०) उपद्रव के रूप मे पुनरावर्तन, रक्तमेह तथा कामला दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रतिकार—चिकित्सा प्राय. लाक्षणिक ही होती है। मल्ल के योगो से इसमे अच्छा लाभ होता है। अन्य चिकित्सा विषम ज्वर के समान ही करना चाहिये। इसमे सल्फोनोमाइड का व्यवहार नहीं करना चाहिये। पेनिसीलीन से भी कोई लाभ नही होता। पथ्य की सुव्यवस्था आवश्यक है। रोगी को मुजर एव पौष्टिक आहार तरलरूप मे देना चाहिये। दूध तथा फलो का रस देना परमावश्यक है।

ग्रन्थिक ज्वर

(Plague)

प्राय कक्षा वक्षण आदि की ग्रन्थियो मे शोथ तथा रुजा के साथ उत्पन्न होने वाला भयकर ज्वर ग्रन्थिकाख्य (Plague) ज्वर के नाम से प्रसिद्ध

हुआ है। यह ज्वर मरक (जनपदोध्वंसी) रूप मे उत्पन्न होता है और परम सक्रामक है। इस रोग के तुल्य उत्पादक जीवाणु के होने पर भी यह दो स्वरूपो मे देखा जाता है। एक वह जिसमे फुफ्फुस भी आक्रान्त होता है।[1] और दूसरा वह जिसमे केवल ग्रन्थियाँ ही आक्रान्त होती हैं।[2] फुफ्फुसाक्रान्त प्लेग मे रोगी शोणितनिष्ठीवन, श्वास-कास आदि श्वसनक के लक्षणो मे युक्त होता है।

दूसरे मे सभी धातुये एक साथ दूषित होती हैं और अभिन्यास ज्वर के समान लक्षण उत्पन्न करती हैं। कभी-कभी ग्रन्थिशोथ भी नही होता। ये दोनो प्रकार के प्लेग (ग्रन्थिक) ज्वर साघातिक होते है।[3]

निदान:—यह रोग वहुजन सकुल जनपदो मे विशेषरूपेण दृष्टिगोचर होता है। यह एक विशेष प्रकार के रक्तचर जीवाणु के दश से उत्पन्न विष के शरीर मे प्रविष्ट होने पर होता है। श्वसनक प्रकार का ग्रन्थिक ज्वर मनुष्य से मनुष्य को (आक्रान्त मनुष्य के सम्पर्क से स्वस्थ मनुष्य को) तथा व्यूवोनिक प्रकार का आक्रान्त मूषिको के शरीर मे स्थित इस रोग के कीटाणुवाहक पिस्सू के दश मे उत्पन्न होता है। ये पीस्सू लगभग ३ फीट तक ऊपर उडकर दंश कर सकते है। इस रोग का उत्पादक जीवाणु ग्रन्थिक दण्डाणु (Bacillus Pestis or Plague Bacillus) कहलाता है। यह वहुत ही प्रवल जीवाणु है। मनुष्य मे ये तीन प्रकार से प्रवेश करता है। जैसे:—

(१) पिस्सू के काटने (दंश) से, (२) व्रण द्वारा, (३) श्वास द्वारा।

प्रकार :—यह रोग तीन प्रकार का होता है। (१) ग्रन्थि सम्बन्धी (Bubonic) (२) श्वसनक सम्बन्धी (Pneumonic)। (३) पूयसंचारी (Septicaemic)। इसमे प्रथम प्रकार ही अधिक संख्या मे देखा जाता है।

लक्षण :—इसके सक्रमण का परिपाक काल दो मे दश दिनो तक का होता है। पूर्वरूप मे अवसाद, अङ्गमर्द होकर अकस्मात् शीतकम्प के साथ ज्वर

---

१. Pneumonic Plague.
२ Bubonic Plague.
३. (क) प्रायो-ऽक्षणकक्षादिग्रन्थिशोफरुजाकरः।
ग्रन्थिकाख्यो जनपदोद्ध्वंसी घोरतरो ज्वरः॥
तुल्येऽपि हेतौ स क्वापि भृश फुफ्फुसदूषणात्।
सद्य- शोणितनिष्ठीवश्वासकासैर्हरेदसून्॥
अथवा सर्वथा सर्वधातून् द्रागभिदूषयन्।
अभिन्यासससमैर्लिङ्गै- सोऽग्रन्थिमपि मारयेत॥ (सि नि)
(ख) ग्रन्थिशोथादर्शनञ्च विषस्य युगपत्।
सर्वदेहव्यापित्वेन ग्रन्थिष्ववरोधाभावात्॥" (सि नि. टीका)

का उग्ररूप मे आना और संताप का १०३° से १०७° फा० चढ़ना ये लक्षण होते हैं। अरति तथा अवसाद भयंकर रूप मे होता है। भ्रम आलस्य तथा गतिविभ्रम के साथ रोगी शीघ्र ही (टायफायड स्टेज) सन्निपातावस्था मे पहुँच जाता है। कभी-कभी प्लीहा तथा यकृत् शीघ्र अभिवृद्ध हो जाते हैं। दूसरे तथा तीसरे दिन मे कक्षा तथा वक्षणो की ग्रन्थियाँ सरुक् शोथयुक्त हो जाती हैं। आँखे लाल हो जाती है तथा रोगी को वाग्विभ्रम भी होने लगता है। रोगी ज्वर के उग्र वेग मे मदपीडित-सा दृष्टिगोचर होता है। कक्षा, वक्षण तथा ग्रीवा एवं हन्वधरीय ग्रन्थियाँ सशोथ होने से वृद्ध हो जाती है। इनमे रुजा भी होती है तथा कभी-कभी पाक भी उत्पन्न हो जाता है। स्रस्तागता, तृष्णा, प्रलाप, मूर्च्छा, निद्रानाश तथा मोह आदि लक्षण उत्पन्न होते है। रोगी अभिन्यास ज्वर मे पीडित के समान संज्ञाहीन दीख पडता है। उसकी जिह्वा दग्धवत् तथा कर्कश प्रतीत होती है। धमनी शिथिल एव बहुवेगवती हो जाती है। ग्रन्थियो मे तोद तथा स्पर्शासहत्व होता है। दो, तीन, पाँच तथा दश दिनो तक यह अवस्था बनी रहती है तथा रोगी की मृत्यु हो जाती है। दशदिन व्यतीत होनेपर समुचित उपचार से रोगी का प्राण बच भी जाता है।[1]

उपद्रव—मूत्रावरोध काम, उल्वण रूप मे अतिसार छर्दि, रक्तपित्त, आदि उपद्रव दृष्टिगोचर होते है।

जब एक वा अनेक ग्रन्थियाँ पाकयुक्त हो जाती हैं तो रोगी के बचने की आशा हो जाती है। परन्तु जिस रोगी की इन्द्रिया नष्ट हो जाती है तथा जो शीघ्र संज्ञाहीन हो जाता है और अतिसार आदि उपद्रव होते है वह रोगी नही बचता।

श्वसनक सम्बन्धी ग्रन्थिक ज्वर (Pneumonic Plague) प्राय असाध्य होता है। इसमे श्वास कष्ट के साथ-साथ रोगी सिन्दूर वर्ण का कफ सहित रक्त का निष्ठीवन करता है। जिस ग्रन्थिक ज्वर मे ग्रन्थियो के शोथ बिना ही अन्य उपद्रव होते है वह भी असाध्य होता है।

---

१. आदावेव ज्वरस्तीव्रः क्वचिन्मन्दोऽथवा पुन ।
भृश स्रस्तागता तृष्णा प्रलापो मूर्च्छन भ्रम ॥
निद्रानाशोऽरतिर्मोहो मत्तवत् कोऽपि ताम्यति ।
शेते विसंज्ञो वाऽप्यन्यो यथाभिन्यासपीडित. ॥
दग्धवत् कर्कशा जिह्वा धमनी शिथिला भृशम् ।
ग्रन्थौ शोफ. क्वचित्पूर्वं क्वचिन्मध्ये क्वचिच्चिरात् ॥
तोद. स्पर्शासहत्वं च ग्रन्थौ पाकश्चिरादपि ।
त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वाऽपि दशभिर्वा दिनै क्वचित् ॥
सद्यो वा म्रियते रोगी चिराद्वा कोऽपि सिद्ध्यति। (सि नि)

प्रतिकार :—प्रतिषेध अर्थात् इस रोग से बचने के लिए रोगाक्रान्त स्थान का सर्वप्रथम त्याग करना परमावश्यक है। मूषिको द्वारा इस रोग के जीवाणु का प्रसार होता है अत मूषिको के प्रवेश से निवासस्थान को सुरक्षित रखना परमावश्यक है। यथासभव इस रोग से आक्रान्त जनपदो से आने-जाने का सम्पर्क बन्द कर देना (Qaarantine) श्रेयस्कर है। इसके लिए विशिष्ट प्रतिषेधात्मक सूची वस्ति (Antiplague inoculation) लेना परमावश्यक है। यदि किसी कारणवश उस सक्रान्त नगर मे जाना पडे तो घुटने तक ऊन या चमडे आदि के बने पायताबा या बूट (पदत्राण) का व्यवहार करना चाहिये। रोगाक्रान्त हो जाने पर रोगी के लिए सावधानीपूर्वक पौष्टिक तरल पथ्य की सुव्यवस्था करनी चाहिये। (Antiplague Serum) का प्रभूत मात्रा मे सिरावस्ति (Intravenous Injection) देना आवश्यक है। सल्फोनामाइड् के प्रयोग से भी लाभ देखा गया है। ग्रन्थिशोथ को उष्ण परिषेक तथा उपनाह से चिकित्सा करनी चाहिये। वेदनाशान्ति के लिए अहिफेन के योगो का व्यवहार कर सकते हैं। पाक हो जाने पर व्रणवत् (पाटन क्रिया द्वारा) उपचार करे। इसमे सन्निपात ज्वर की चिकित्सा यथावश्यक करे। विशेषकर अभिन्यास ज्वर की चिकित्सा से इसमे लाभ देखा गया है।



चतुर्थ अध्याय

पिडकामय ज्वर

(Eruptive fevers)

यद्यपि ये पिडकामय ज्वर विषाणुसंभव (Virus) होने से विषम ज्वरो के अन्तर्गत आते है तथापि इन्हे पृथक् अध्याय मे वर्णित करना अभीष्ट हुआ है। इसका कारण यह है कि इनकी सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा मे मौलिक भेद है।

आचार्य महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी ने इसके अन्तर्गत—(१) मसूरिका ज्वर, (२) बृहन्मसूरिका ज्वर, (३) कृतमसूरिका ज्वर, (४) लघुमसूरिका ज्वर तथा (५) रोमान्तिका, इन पाच प्रकार के ज्वरो का ग्रहण किया है। इनमे भी तीन मुख्य है जैसे—(१) बृहन्मसूरिका, (२) लघुमसूरिका और (३) रोमान्तिका। इसके वर्णन का श्रीगणेश करते हुए कहा है कि ये ज्वर भी विषाणु सभव होने से आगन्तु ज्वरो के ही अन्तर्गत आते हैं। आचार्य माधव तथा भाव मिश्र ने भी इन ज्वरो का सकेत किया है। चरक सुश्रुत प्रभृति ने इनका सूत्र, रूप मे ही सकेत किया है।[1] इन आचार्यो ने इनकी क्षुद्र रोगो मे गणना की है। आचार्य गणनाथ सेन जी ने इसका समाधान यह कह कर किया है कि प्राचीन आचार्यो के काल मे इनका क्षुद्र रूप ही दृग्गोचर हुआ होगा जिसने आज कालक्रम से घोर रूप (भयङ्कर रूप) धारण कर लिया है। ऐतिहासिको का

---

१. (क) "मसूरिकाणा वैविध्य पूर्वैर्यद्यपि कीर्तितम् ॥
प्राधान्याल्लाघवाच्चेह वक्ष्यन्ते तु त्रिधैव ताः।
तत्राद्या बृहती नाम द्वितीया लघुनामिका ॥
रोमान्तिका तृतीया च त्रिधा भिन्ना मसूरिका,। (सि नि)

(ख) "दाहज्वररुजावन्तस्ताम्रा. स्फोटा सपीतका ॥
गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिका।" (सु नि अ १३)
"याः सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिका. पित्तकफात् प्रादुष्टाः।"
(च चि अ १२)

(ग) "पित्त शोणितससृष्ट यदा दूषयति त्वचम्।
तदा करोति पिडका. सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥
मसूरमुद्गमाषाणा तुल्या: कोलोपमा अपि।
मसूरिकास्तु ता ज्ञेया. पित्तरक्ताधिका बुधै ॥"
तन्त्रान्तरीयवचन—डल्हन श्रीकुण्ठाभ्यामउच्यते।

भी कहना है कि १५०० वर्ष पूर्व मसूरिका का प्राणान्तकारी तथा जानपदिक रूप दृग्गोचर नहीं हुआ था।

इस रोग का संक्रमण भूमि दोष, वायु दोष तथा जल दोष प्रभृति आगन्तु हेतुओं से विशेषकर वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतुओं में होता है।[1] रोगी (इस रोग से आक्रान्त रोगी) के सम्पर्क में आने से भी इसका संक्रमण होता है। माधव आदि आचार्यों ने कटु, अम्ल, लवण, क्षार गुण विशिष्ट आहार के सेवन तथा विरुद्धाहार सेवन, अध्यशन दुष्ट निष्पाव शाक आदि के सेवन से और क्रूर ग्रहों के दृष्टिपात से भी इसकी उत्पत्ति मानी है।[2]

पूर्वरूप :—इस रोग की उत्पत्ति के पूर्व ज्वर, कण्डू, अङ्गों का टूटना, अरुचि, भ्रम त्वचा का वैवर्ण्य एवं शोथयुक्त हो जाना तथा नेत्र राग, ये लक्षण प्रायः देखे जाते हैं।[3]

बृहन्मसूरिका

(Small Pox-Variola)

दले हुए मसूर के आकार के उभरे हुए कोठ (पिडका) शरीर के विविध भागों के त्वचा पर उत्पन्न होने से इस रोग का नामकरण मसूरिका हुआ है।[4] इसको प्रचलित भाषा में चेचक, शीतला या बड़ी माता भी कहते हैं। इसके कई भेद दृष्टिगोचर होते हैं जैसे—(१) बृहन्मसूरिका, (२) लघुमसूरिका (Variola minor), (३) कृतमसूरिका (गोमसूरिका और अश्वमसूरिका)। वास्तविक दृष्टि से ये सभी भेद एक ही के आवान्तर रूप हैं। इनमें अन्तर केवल इनकी उग्रावस्था के न्यूनाधिक पर तथा अधिष्ठान (प्राणि शरीर—मनुष्य तथा पशु शरीर) पर निर्भर है। मनुष्यों में प्रथम दो दृष्टिगोचर होते हैं। कृत मसूरिका गौ तथा अश्व में उत्पन्न मसूरिका से पूय लेकर (Lymph) निर्माण किया जाता है।

---

१ "भूवायुजलदोषादेर्भवन्त्यागन्तुहेतवः।
सङ्क्रामिण्यो विशेषेण निदाघादौ मधौ च ताः॥" (सि. नि.)

२ "कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि··· ······॥" (मा. नि.)

३ "तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरुचिर्भ्रमः।
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च प्रायशः॥ (सि. नि.)

४. (क) "मसूराकृतिसंस्थाना पिडका स्युर्मसूरिकाः।" (मा. नि.)
(ख) मसूरमात्रासन्दर्शास्तत्सञ्ज्ञाः पिटिका घनाः॥" (अ. हृ. उ. ३१-८)

जिनका प्रतिषेधार्थ सूचीवेध करने पर मनुष्य मे उत्पन्न होता है। मसूरिका एक उग्र अतिसक्रामक पिडकामय ज्वर है।[1]

निदान तथा सम्प्राप्तिः—मसूरिका का कारण एक प्रकार का छारणीय विषाणु होता है। यह विषाणु अधिच्छदाक्रामक (Epitheliotropic) होता है। वायु, रज तथा जल प्रभृति द्वारा इस विषाणु का सक्रमण मनुष्यो मे होता है। इस रोग मे आक्रान्त रोगी के स्पर्शादि से तथा रोगोत्पन्न पिडकाओ के विषाणु ससृष्ट त्वगादि के नासा या गले मे प्रवेश हो जाने पर इसका सक्रामण होता है। मसूरिका से पीड़ित रोगियो की पिडकाये जब सूख जाती है और उनके छिलके जब शरीर से बाहर (त्वचा से) निकलते हैं तो उनमे विषाणुओ के रहने से जब किसी प्रकार वे अनाक्रान्त मनुष्यों के नासा पथ द्वारा तथा मुख द्वारा शरीर मे प्रविष्ट होते है तो इस रोग का सक्रमण सर्वाधिक पाया गया है। अत इन काल को तथा इन छिलको को अति सक्रामक माना गया है। इसके सक्रमण होने पर तीनो दोषो का प्रकोप होता है। परन्तु इन दोषो के तर तम भाव के अनुसार तुल्य विषाणु के होने पर भी क्षेत्रवैचित्र्यादि हेतुओ वश तथा दोष कोप मात्रा-भेद से इनके लक्षण उत्पन्न होते हे। विषाणुओ के विष के बलानुसार अर्थात् तीव्र बल होने पर तीव्र तथा अल्पबल होनेपर अल्प कष्टदायी लक्षण उत्पन्न होते है। इस विष के बलानुरूप ही पृथक् अथवा सम्मिलित रूप पूर्ण पिडकाये शरीर पर निकलती हे।[2] इसमे क्षतियां दो प्रकार की होती है। प्रथम मसूरिका विषाणु से उत्पन्न अर्थात् प्रधान क्षतियां, तथा द्वितीय पुञ्जगोलाणुओ (Staphylo cocci) एव मालागोलाणुओ (Strepto cocci) के सक्रमण द्वारा उत्पन्न उत्तर कालज क्षतिया। इन उपर्युक्त दोनो जीवाणुओ का सक्रमण प्राय इनमे देखा जाता है। छालो मे पूय पडकर प्रथम पूयक (Pustules) बनने की प्रक्रिया इसी उत्तरकालज सक्रमण के द्वारा सम्पन्न होती हैं। इस रोग मे घातकता भी प्रायः मालागोलाणु-सक्रमण से ही होती है। इन्ही के कारण पूतिसंचार (Septicaemia) होकर रोगी की मृत्यु होती है। प्रधान क्षतिया मसूरिका विषाणु के कारण उत्पन्न होती है। ये क्षतिया दो ही प्रकार की है—(१) त्वचा की पिडकाएँ (Papules) और (२) पुटक (Vesicles)

---

१. सि नि पेज ९४.,

मसूराकारपिडका· सान्द्रा गात्रेषु सर्वत· ।
भवन्ति पाक गच्छन्ति लीयन्ते च द्रुत यत ॥ २२९ ॥
नानोपद्रवसयुक्तो ज्वरो यत्र सुदारुणः ।
बृहन्मसूरिका नाम शीतला चेति सा स्मृता ॥ २३० ॥"

२ सि नि पेज ९५-९६।

ये दोनो वस्तुत. मसूरिका की प्रथम दो अवस्थायें ही है। इनकी उत्पत्ति मूलतः त्वचा की अधिच्छद मे ही होती है।

क्षतिस्थल के परिवर्ती तन्तुओं मे भी कुछ परिवर्तन घटित होते है। पिडकावस्था मे (Papular Stage) शोथ की प्रथमावस्था के समान ही स्थिति होती है तथा रक्ताधिक्य (Hyperemia) पर्याप्त होता है। (चरक का शोथ के अन्तर्गत ही इसका वर्णन इस तथ्य का समर्थक है।) इसके बाद छाले की अवस्था 'पुटकावस्था' (Vesicular Stage) मे परिवर्ती तन्तुओं के मध्य सयाम्बु-कोशाणु (Plasma cells) भरपूर आ जाते हैं। पुन. तृतीयावस्था मे अर्थात् पूयकावस्था मे (Pustular stage) उन के स्थान पर बहुन्यष्टिक श्वेताणु भर जाते है। इनका उचित प्रतिकार होने पर तथा रोगी की क्षमता के अनुसार पूय का सूखना या विलयन प्रारम्भ होता है और सूखने पर पिडकास्थान पर पपडी (Scab) पड जाती है। यदि इनका उचित प्रतिकार नही हुआ तो कोथ आदि प्रारम्भ हो जाता है। इसका परिपाक काल १० से १२ दिनो का होता है।

लक्षण :—परिपाक काल के बाद प्राय ज्वर के तीसरे दिन त्वचा पर पिडकाये निकलनी प्रारम्भ होती है। प्रथम छोटी-छोटी लाल रग की पिडकाये निकलती हैं। सर्वप्रथम इस रोग मे शिर शूल के साथ शीतकम्पपूर्वक ज्वर का आगमन होता है। यह ज्वर अत्यधिक कटि एव पृष्ठरुक् के साथ वृद्धि को प्राप्त होता है। रोगी का मुखमण्डल धूसर हो जाता ह तथा जिह्वा मलिन शोथाभ हो जाती है। ज्वरका सताप १०१ से १०४ अश फा० तक होता है। रोगी अत्यधिक दौर्बल्य का अनुभव करता है। कभी-कभी मोह तथा प्रलाप आदि उपद्रव भी होते है। पुन प्राय तीसरे दिन ज्वर का सताप न्यून होने लगता है तथा पिडकाओं का उद्गम होता है। कभी-कभी पिडकाये चौथे दिन दृष्टिगोचर होती हैं। ये पिडकाये त्वचा के अव.प्रदेश मे गम्भीर रूप मे अवस्थित होती है। लघु मसूरिका मे पिडकाये त्वक् पर्यन्त ही होती है। परन्तु बृहन्मसूरिका मे पिडकाये त्वचा के अव प्रदेश मे भी तथा गल, आमाशय तथा आंतो मे भी निकल आती हैं। सुश्रुत का वचन 'गात्रेपु वदने चान्त' इसी तथ्य का सकेत करता है। केशान्त प्रदेशो मे, ललाट तथा मणिबन्धो मे प्रथम उदय हो मुख के अन्य अङ्गो मे क्रम फैलता है। पश्चात् छठे दिन इन पिडकाओ मे जल भर जाता है। आठवें दिन पूय सचार होने लगता है जब ज्वर का संताप पुन बढने लगता है। विप के ह्रास के साथ-साथ ज्वर का सताप भी कम होने लगता है और प्राय बारहवें दिन पिडकाये सूखना प्रारम्भ हो जाती है। प्रायः एक पक्ष मे पिडकाओ के छिलके उतरने लगते हैं और रोगी तीन सप्ताह मे

नीरोग हो जाना है। परन्तु इन पिडकाओ के चिह्न प्राय. यावज्जीवन बने रहते हैं। उचित प्रतिकार के अभाव मे सन्निपात ज्वरोक्त प्रायः सभी उपद्रव तथा भयकर श्लेष्मा बाधा (श्वासादि) होती है। रोगी इन उपद्रवों से आक्रान्त होने पर बहुधा मृत्यु को प्राप्त होता है।

उपद्रव :—उपद्रवों मे तीन प्रकार के उपद्रव प्राण घातक होते हैं जैसे—(१) विषाणुओ के घोर विष के कारण तथा दारुण दोष प्रकोपवश अनिघन रूप मे घोर ज्वरादि उपद्रवो के साथ पिडकाओ का उद्गम। इनमे प्राय आठवें दिन रोगी की मृत्यु हो जाती है।

(२) यदि पिडकायें कोथ प्राप्त हो जावे अर्थात् सडने लगे तो भी रोग असाध्य हो जाता है।

(३) रोगी रक्त के अत्यधिक विष दुष्ट होने से जब रक्त वमन करने लगे तथा पिडकायें भी रक्तपूर्ण हो जायें तो रोगी का प्राण दुर्लभ हो जाता है।

प्रतिकार :—प्रतिषेधात्मक—बृहन्मसूरिका के प्रतिषेध के लिये सम्प्रति भैक्सिन निर्माण हो चुका है जिसके टीका लगाने (Vaccination) से रोग का आक्रमण दूर हो जाता है। यह चिकित्सा विधि प्राचीन भारतीय इस रोग के प्रतिषेधार्थ प्रयुक्त टीका का ही सुधरा हुआ स्वरूप है। यूरोप मे इस रोग के लिये प्रतिषेधार्थ तथा उत्पन्न रोग के मुक्त्यर्थ कोई चिकित्सा लोगो के ज्ञात नही थी। भारतवर्ष मे अति प्राचीन काल से इसके प्रतिषेधार्थ तथा रोग उत्पन्न होने पर रोगमुक्त्यर्थ उपाय (प्रतिकार) प्रचलित है। प्रयोगो के परिणम का अनुभव यह सिद्ध करता है कि जहाँ इस रोग का प्रसार या सक्रमण हो वहाँ के लोगो को इसके लिये निर्मित टीका का यथा विधि ले लेना अनिवार्यत आवश्यक है। इस रोग के सक्रमण का पाक काल १२ दिनो तक होने से सक्रान्त पुरुष भी यदि प्रथम सप्ताह मे इसकी टीका (Vaccination) करा ले तो रोग की उग्रता या भयङ्करता न्यून हो जाती है। सक्रमण के तीन-चार दिन के अभ्यन्तर टीका लेने पर रोगाभिव्यक्ति भी प्राय' नही होती। इस रोग से आक्रान्त रोगी का सम्पर्क यथासाध्य न रखना इसके प्रतिषेध के लिये आवश्यक है। प्रतिषेधार्थ कुछ ऐसे द्रव्य भी है जिनके सेवन का अच्छा प्रभाव देखा गया है। जैसे रुद्राक्ष के हार का धारण, चिञ्चावीज तथा हरिद्रा का सेवन, बैगन का भर्ता शाक मे अधिक प्रयोग इत्यादि।

प्रतिकार :—सर्वप्रथम इस रोग से आक्रान्त रोगी को एतदर्थ निर्मित आतुरालय मे सुरक्षित करना आवश्यक है। इससे रोग के प्रतिकारार्थ सुविधा रहती है तथा अन्यो को भी इसके सक्रमण से बचाया जा सकता है। रोगी

की शय्या एक विशिष्ट प्रकार के परम मृदु गद्दा तथा अति स्वच्छ एव मृदु गद्दों से सुसज्जित होनी चाहिये। इस रोग का प्रभाव हृदय की मांसपेशियों को शीघ्र दुर्बल कर देता है अतः प्रारम्भ से ही हृदय को बल देने वाली औषधियों का प्रयोग करना श्रेयस्कर है। एतदर्थ मुक्ता का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है। प्रारम्भिक अवस्था मे शिरःशूल तथा अङ्गमर्द विशेषकर पृष्ठशूल तथा शाखाशूल अत्यधिक होता है। एतदर्थ वेदनाहर औषधों का प्रयोग कभी-कभी आवश्यक होता है। आधुनिक चिकित्सक ऐसी अवस्था मे एस्पिरिन (Aspirin) तथा उग्रावस्था मे कल्पित अहिफेन के योग (Morphia) भी देते है। आयुर्वेद मे एतदर्थ अङ्गमर्दप्रशमक गणों का क्वाथ उग्रावस्था मे वेदनान्तकरस का प्रयोग होता है। अरति तथा प्रलाप की अवस्था मे निद्राकर शामक औषधों का प्रयोग करना लाभप्रद होता है।

रोग की पूर्वावस्था मे अत्यधिक सन्ताप (ज्वरवेग) होता है। अतः रोगी को पित्तहर औषधों का प्रयोग करना चाहिये। एतदर्थ प्रवाल या मुक्तापिष्टी, त्रिभुवनकीर्त्ति, लक्ष्मीनारायण रस—गोरोचन और प्रवालपिष्टी के साथ दुरालभादि क्वाथ, पटोलादिक्वाथ, का प्रयोग करना चाहिये। इसमे नेत्र की रक्षा परमावश्यक है। एतदर्थ नेत्र मे अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये। निम्बादि अञ्जन से अच्छा लाभ देखा गया है। नेत्र की सावधानीपूर्वक प्रतिदिन परीक्षा करनी चाहिये। पिडकाओं से त्वचा की सुरक्षा के लिये लेपों का प्रयोग तथा औषध जल से अभिसिञ्चन या प्रक्षालन आवश्यक है। आधुनिक चिकित्सक एतदर्थ पोटास परमागनेट की पांच प्रतिशत द्रव मे तथा डेटोल के दुर्बल द्रव (Weak solution) से अभिसिञ्चन का आदेश करते है। निम्ब पत्रोदक से अभिसिञ्चन तथा निम्बस्वरस के फेन का लेप अच्छा लाभ करता है। अधिक दाह की अवस्था मे चन्दनादि लेप, न्यग्रोधादि लेप, मदयन्त्यादि लेप से लाभ होता है। दशाङ्ग लेप तथा निशादि लेप भी अच्छा कार्य करता है। नेत्र बांधने के लिये मधुकादि लेप की पट्टी प्रयोग मे लानी चाहिये। उशीर, लोध्र, मजीठ, इनके लेप तथा इनके क्वाथ से नेत्र का आश्चोतन हितकर होता है। मुख तथा कण्ठ मे यदि व्रण हो जाय तो आंवला और जेठी मध के क्वाथ का गण्डूष धारण करावे। योगरत्नाकरोक्त भूनिम्बादि शृत जल भी मसूरिका मे दाह तथा ज्वर की शान्ति के लिये अच्छा कार्य करता है। उचित प्रतिकार के अभाव मे कभी-कभी कोथ उत्पन्न हो कृमियो की भी उत्पत्ति व्रणभाव होने पर हो जाती है। ऐसी अवस्था मे व्रण शोधन तथा कृमिहर औषधों का प्रयोग अपेक्षित है। रोगी के सुपथ्य की व्यवस्था होनी चाहिये।

लघुमसूरिका
(Chicken Pox or Varicella)

शरीर के त्वग्भाग पर विरल अर्थात् दूर-दूर पर उत्पन्न होनेवाले पिडकाओ सहित यह दूसरा ज्वर है। बृहन्मसूरिका के समान इस की पिडकाये घन नही होती। इसमे ज्वर भी अपेक्षाकृत मन्द होता है।

यह विषाणुओ मे उत्पन्न होनेवाला एक सक्रामक पिडकामय ज्वर है जिसका बृहन्मसूरिका (Small Pox) से पार्थक्य डा० हेवर्डन महोदय ने १७६७ मे किया। यह अधिकतर बालको मे देखा गया है।

निदान तथा सम्प्राप्ति :—इसका सक्रमण भी वायु आदि के दोष से तथा इस रोग से सक्रान्त रोगियो के सम्पर्क से होता है। इसके विषाणु शरीर मे प्रविष्ट हो दोषो को प्रकुपित कर शीघ्र त्वचा पर विरल पिडकाये मन्द ज्वर के साथ उत्पन्न करते हैं। इसकी पिडकाये त्वचा मे ही सीमित रहती है। तन्त्रान्तरो मे इसीसे कहा है कि "तोय बुद्बुद् सकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः। स्वल्पदोषा प्रजायन्ते भिन्नास्तोय स्रवन्ति च ॥" ये पिडकाये शीघ्र सूख भी जाती है।

लक्षण :—सर्वप्रथम विशेषकर बालको मे त्वचा पर एक विशेष प्रकार के दाने दृष्टिगोचर होते हैं। बडी उम्रवालो मे इसके पूर्व रूप भी देखे गये ह जैसे २४ घण्टे पूर्व मन्द ज्वर का (१०१° फा०) होना तत्पश्चात् पिडकाओ का निकलना। ज्वर के साथ शिर शूल, अङ्गमर्द, अवसाद तथा पृष्ठरुक् भी होता है। पिडकाये प्राय गुलाबी रग की वृत्ताकार होती हे और शीघ्र ही उसमे स्वच्छ तरलाश के भर जाने से वे फफोले के सदृश दृष्टिगोचर होने लगती है। पुन एक दो दिन मे यह तरल पूयभाव को परिणत हो जाने से अपारदर्शक हो जाता है। शनै -शनै यह पूय सूखने लगता है और पिडकाओ पर पपरी बन जाती है। इसमे प्राय. १ से २ सप्ताह लग जाते हैं।

इसमे ज्वर का सताप अति तीव्र नही होता। अन्य लक्षण भी स्वल्प तथा मृदु ही होते हैं। ज्वर सताप शीघ्र ही प्रकृत ताप पर उतर आता है। ज्वर होने के दूसरे दिन प्राय. पिडकाये त्वचा पर दृष्टिगोचर होती है। कभी-कभी तो प्रथम दिवस ही पिडकाये निकल आती हे। पिडकाओ की सख्या स्वल्प तथा दूर-दूर पर स्थित होती है। पिडकाये क्षुद्रमुक्ता के समान दृष्टिगोचर होती हैं। पिडकाओ का मध्य भाग निम्न नही होता अपितु तोयपूर्ण होता है और फूटने पर इनसे जलस्राव होता है। प्राय ये पाच-छ. दिनो मे ही सूख जाती है। परन्तु कभी-कभी २ सप्ताह भी इनके सूखने मे लग जाता है। पिडकाओ के सूख जाने पर अन्य लक्षण भी शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार आठ तथा दस दिनो मे प्राय

इस रोग से मुक्ति हो जाती है। परन्तु क्षमताहीन रोगियो मे तथा दुर्बल रोगियो मे कभी-कभी पिडकाओ मे कोथ आदि हो जाने से घोर ज्वर होने लगता है और रोग कृच्छ्रसाध्य हो जाता है।

इसमे एक और विशेषता होती है कि इसके दाने क्रमश निकलते है। अर्थात् एक के बाद दूसरे का उद्भव होना है। परन्तु यह क्रम भी अधिक से अधिक चार दिनो मे समाप्त हो जाता है। सर्वप्रथम तालु तथा कपोल मे इसके दाने प्राय दृष्टिगोचर होते हैं। बाद पृष्ठभाग की त्वचा पर तदनन्तर वक्ष और उदर तथा अन्य भाग के त्वचा पर दृष्टिगोचर होती है।

इसका एक और प्रकार होता है जो सामान्यरूपेण बच्चो मे ही देखा गया है। इसमे पिडकाये इतनी सूक्ष्म होती हैं कि दृष्टिगोचर नही हो पाती। कभी-कभी इसके साथ अन्य सक्रमण भी हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे इनका निदान कठिन हो जाता है।

प्रतिकार :—इसमे कण्डूप्रधान कष्ट होता है। अत बच्चो पर सदा सावधानी रखनी चाहिये जिससे वे पिडकाओ को खुरच न देवे। कण्डू की शान्ति के लिये कण्डूहर लेपो का प्रयोग करना चाहिए। एतदर्थ निम्ब तैल तथा चन्दनादि तैल का प्रयोग करना चाहिये। शेष चिकित्सा बृहन्मसूरिका के समान यथावश्यक करे। आधुनिक चिकित्सक इसमे भी (Penicillin) आदि का यथावश्यक व्यवहार करते है। ज्वर की शान्ति के लिये चन्दन, वासक, नागरमोथा, गुडूची, द्राक्षा, इनका शीतकषाय पिलावे। रोगी को पूर्ण विश्राम देना तथा सुजर, शुचि एवं हृद्य तथा बल्य औषधो की व्यवस्था परमावश्यक है।[1]

बृहन्मसूरिका तथा लघुमसूरिका (Small Pox and Chicken Pox) के लक्षणो प्रभृति मे भेद प्रदर्शक कोष्टक :—

---

१. जीर्णाः षष्टिकशालयोऽपि चणका मुद्गा मसूरा यवा ।
सर्वेऽपि प्रतुदाः कपोतचटका पृष्व्याह्व दात्यूहकाः ॥
कर्कोट कदल च शिग्रु कुलक द्राक्षाफल दाडिमम् ।
मेव्य बृंहणमन्नपानमखिल कोलानि मासो रसा ॥ १ ॥
अक्ष्णो· सेकविधौ गवेधुमधुकोद्भूतं सुशीतोदकम् ।
शम्बूकोदरकोशनीरमपि वा कर्पूर चूर्णानि वा ॥
पक्वो मुद्गरसोऽपि जाङ्गलरस शालिश्च शाक घृतम् ।
धूमो गोमय-भस्मगुण्ठनमयो शेषा व्रणोक्तक्रिया· ॥ २ ॥
इत्थ सर्वदृशा विभागविहित पथ्य यथादोषत· ।
सयुक्त सुखमतनोति नितरा नृणा मसूरीगदे ॥”
वात स्वेद श्रम तैल गुर्वन्न क्रोधमातपम् ।
कट्वम्ल वेगरोध च मसूरिगदवास्त्यजेत् ॥ (योगरत्नाकर)

	लघुमसूरिका	बृहन्मसूरिका
वय	प्राय शिशुओ मे	किसी वय मे ।
वेदनाश–	मृदु	उग्र, भयङ्कर तथा अवसादक
पूर्वरूप–	सामान्यत मृदु	२–३ दिनो तक उग्र रूप का अत्युच्च ज्वर सताप, शिर शूल छर्दि ।
पिडकाओ का पूर्व रूप–	अविशेष, विशेषकर वक्ष-प्रदेश तथा वाहु पर	अवश्यम्भावी, विशेषकर उदर और उरुप्रदेश मे ।
पिडकाओ की अभिव्यक्ति–	प्रथम दिवस	तीसरे तथा चौथे दिन ।
ज्वर प्रभृति तथा पिडकाओ के स्वरूप–	पिडकाओ की अभिव्यक्ति के साथ ज्वर संताप की वृद्धि शीघ्र पिडकोद्गम, क्रमशः ४ दिनो मे पिडकाओं का उद्गम पूर्ण	ज्वरसताप का नियमन पिडकाओ के उद्गम के साथ साथ, शनैः शनैः अभिव्यक्ति परन्तु एक-साथ ।
प्रथमाभिव्यक्ति का प्रदेश तथा त्वचा पर सर्वाधिक प्रभाव–	वक्ष तथा उदर	ललाट, मणिवन्ध तथा अग्रवाहु ।
शाखाओ के आक्रान्त भाग–	सकोचक पेशीभाग पर विशेष रूपेण	प्रसारक पेशीभाग पर विशेषतः ।
पिडकाओं का प्रथम रूप	वाह्यस्तरीय पिडकाओ का कुछ काल वाद अर्थात् कुछ घन्टो मे स्फोटका (फफोला) रूप धारण कर लेना	गम्भीर अन्तस्त्वगी पिडकाओ का प्राय दो दिन वाद विस्फोट रूप धारण करना ।
विस्फोटो मे केन्द्रोत्पत्ति–	अभाव (नही होता)	होता है । उपस्थित ।
आकृति–	अण्डाकार	वृत्ताकार ।
विस्फोटो का पूय-मय होना–	चार दिनो के अन्दर	सातवे तथा आठवे दिन ।
छुरा पडना–	प्राय नही अथवा अति न्यून ।	अवश्य तथा दिखाई देने योग्य ।
ज्वरागम (दुवारा)–	अभाव अथवा अत्यल्प	„
प्रतिषेधार्थ उपचार–	अप्रभावी	सफल तथा प्रभावी ।

रोमान्तिका

(Measles)

रोमकूपो के साथ समान उन्नत अतिसूक्ष्म पिडकाये ज्वरपूर्वक होनवाली 'रोमान्तिका' कहलाती हैं। ये कफ और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होती है। ये सम्पूर्ण अङ्ग मे निकलती है। इसमे ज्वर के साथ-साथ कास, अरुचि, दाह तथा तृष्णा भी होती है। मसूरिका से इसके दाने अत्यधिक क्षुद्र प्रमाण के होने ह। इनके निकलने पर सम्पूर्ण शरीर के रोमकूप आच्छादित हो जाते है। चरक ने इसका मसूरिका से भेद प्रदर्शन किया है।[1] यह भी विषाणु सभव सक्रामक व्याधि है। परन्तु इसके विषाणु भिन्न होते हैं। यह भी बालको मे विशेष रूप से होती है।

निदान तथा सम्प्राप्ति :—इसके सक्रमण का परिपाक काल ७ से १४ दिनो तक का है। परन्तु प्राय १०वे या ११वे दिन पिडकायें निकल आती है। यह वसन्त तथा शिशिर ऋतु मे विशेष रूप मे दृष्टिगोचर होती है। इसका मुख्य कारण विषाणु (Filter-Passing Virus) है जो नासागत स्रावो, रक्त तथा मस्तिष्क मे पाया गया है। इसका प्रसार रोगाक्रान्त पुरुष के नासास्राव तथा ष्ठीवन के सम्पर्क से होता है। ये विषाणु कफ तथा पित्त को प्रकुपित कर इस रोग को उत्पन्न करते हैं। श्वास मार्ग मे व्रण शोथ के समान इसके विकार उत्पन्न होते हैं। पुन त्वचा मे इसका विष जल निक्षिप्त हो जाता है तो श्वास मार्ग का शोथ प्राय: विलीन हो जाता है।

लक्षण :—इस रोग के सक्रमण होने पर परिपाक कालान्तर सर्वप्रथम इसमे प्रतिश्याय, ज्वर तथा दोनो नेत्र लाल हो जाते है। पुन तन्द्रा, अरुचि, क्लम, कास, विड्भेद भी किसी-किसी रोगी मे दृष्टिगोचर होने है। तालु आदि प्रदेशो मे सूक्ष्म लाल पिडकाओ का सघात चकत्ते के रूप मे दृष्टिगोचर होते है। तीसरे तथा चौथे दिन सम्पूर्ण शरीर मे रक्त वर्ण सूक्ष्म पिडकाओ के सघात ताम्राभ चकत्ते के रूप मे दिखाई देते है। दो-तीन दिनो मे नि शेष रूप मे पिडकायें मुख तथा शरीर के अन्य भागो मे निकल आती ह। पिडकाओ के नि शेष निर्गम हो जाने पर ज्वर का सताप न्यून होने लगता है। ज्वर मोक्ष के साथ-साथ अन्य उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं। पुन. तीन चार दिनो के अन्दर ही पिडकायें

---

१ (क) सि० नि० ।

(ख) क्षुद्रप्रमाणाः पिडका शरीरे सर्वाङ्गगा सज्वरदाहतृष्णाः ।
कण्डूयुता सारुचि सप्रसेका रोमान्तिका पित्तकफात् प्रदिष्टा ॥
(च चि १२-९२)

सूखकर तुष के समान निकलने लगती है। जब कभी रोग के मध्य काल मे अथवा अन्त मे विष श्वासनलिका या फुफ्फुस मे फैल जाता है, तब श्वास कष्ट तथा काम के साथ ज्वर का वेग पुनः बढने लगता है। उपद्रव के रूप मे मोह, तन्द्रा तथा अवसाद होता है और रोगी का प्राण सशय मे पड जाता है। इसका उचित प्रतिकार न होने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। गुणवत् भिषग् चतुष्पाद के होने पर सावधानीपूर्वक चिकित्सा से रोगी बचता भी है तो वह अति दुर्बल हो जाता है। गम्भीर रक्त चिह्नो के होने पर तथा रक्तपित्त के लक्षण उद्गम होने पर अथवा रक्तातिसार के हो जाने पर रोगी का बचना कठिन हो जाता है।[1]

प्रतिकार:—शैशवावस्था को छोड़कर रोमान्तिका स्वत कोई जटिल व्याधि नही है। यह पहले अति मृदु रूप मे दृष्टिगोचर हुई और इस रोग से आक्रान्त रोगियो की मृत्यु संख्या अत्यल्प अर्थात् एक से दो प्रतिशत ही थी। इनमें भी ऐसे लोगो की सख्या ही अधिक थी जो अति निर्धन थे अथवा अति सकुल जनपद के निवासी थे। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ५ मास तक के शिशुओ पर इसका सक्रमण प्रायः नही होता। अर्थात् इस वय के शिशुओ मे इसके प्रति पर्याप्त क्षमता रहती है। इसके बाद के वय वाले शिशुओ मे इसका आक्रमण देखा गया है और उनमे भी अति दरिद्र कुल के बच्चो मे अधिक। फिर भी इन शिशुओ मे भी मृत्यु उन्हीकी अधिक सख्यक देखी गई है जिन्हे उपद्रव के रूप मे श्वसनक प्रभृति हो गए हैं।

---

१ "तत्रादित प्रतिश्यायो ज्वरो रागश्च नेत्रयोः।
तन्द्राऽरुचि. क्लम कासो विड्भेदश्चापि कुत्रचित् ॥
शोणयनाना नात्वाद्यौ दर्शन लक्ष्मणां ध्रुवम्।
अथ चतुर्थात्तृतीयाद्वा दिनात्ताम्राभलक्ष्मणाम् ॥
स्तोकोन्नतायनाना स्यान्मुखे गात्रेषु चोद्गव।
द्वित्रैश्च दिवसैस्तेषा भवेत्ति शेष निर्गम ॥
ततोज्वरश्च लघुना याति नो चेदुपद्रवा.।
व्यहाल्लयश्च चिह्नाना तुपाभत्वग्विमोक्षणात् ॥
अथ चेद् रोगमध्ये वा रोगशेषेऽथवा क्वचित्।
नद्विष श्वासनलिकाः फुफ्फुसौ च प्रसर्पति ॥
तदा श्वासश्च कासश्च ज्वरवेगश्च वर्धते।
मोहस्तन्द्राऽवसादश्च पायश्च प्राण सशय. ॥
म्रियन्ते च ततो बाला विशेषेण सहस्रश।
जीवन्त्युपक्रमात्केचित् सुचिरं दुर्बली कृता. ॥" (सि नि)

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा :—इसके बचने के लिये इसका टीका (Vaccine) तैयार हुआ है। यदि इस टीके का उपयोग उचित समय पर किया गया तो बच्चे इसके सक्रमण से सुरक्षित रहते हैं। इसका प्रयोग इस रोग के सक्रमण के सम्पर्क मे आने के ३–४ दिन के अन्दर ही करना लाभप्रद है। (प्रयोग के लिये देखे परिशिष्ट)।

रोग उत्पन्न हो जाने पर रोगी को ऐसे कमरे मे रखे जहाँ धूप का प्रवेश न हो, परन्तु वायु का पूर्ण सचार हो। ऐसे रोगी को सामान्य ज्वर पीडित रोगियो के साथ कभी न रखे। इसमे ज्वर की चिकित्सा के साथ-साथ कास (Bronchitis) की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिये। एतदर्थ आधुनिक चिकित्सक पेनिसिलीन आदि का प्रयोग करते है। चिकित्सा मे नेत्र तथा कर्ण विकृतियो का भी सावधानी से परीक्षण तथा प्रतिकार आवश्यक है। त्रिभुवनकीर्त्ति, कस्तूरी-भैरव से अच्छा लाभ हो जाता है।

अरुणज्वर

(Scarlet fever)

यह एक ऐसा ज्वर है जिसमे लाल चकत्ते शरीर में पड जाते है। यह पिडकामय ज्वरो मे सामान्य रूप से अधिक सख्या मे दृष्टिगोचर होनेवाला ज्वर है। यह विशेषकर १० वर्ष आयु के नीचे वाले बालको मे अधिक होता है। यह संक्रामक होता है। पं० ब्रह्मदत्तजी ने इसकी सज्ञा 'शोणज्वर' की है। 'आलोहिता' ज्वर भी इसकी सज्ञा है। यह विशिष्ट प्रकार के मालागोलाणुओं (Streptococcus) के सक्रमण से उत्पन्न होता है। इसमे ज्वर का तापमान अत्युच्च होता है तथा कण्ठशोथ और शरीरव्यापी चमकदार लाल रग के चकत्ते उत्पन्न हो जाते है। अथर्ववेद मे 'अरुणज्वर' का उल्लेख मिलता है।

निदान :—पहले कह चुके हैं कि इस रोग का कारण एक विशिष्ट प्रकार का मालागोलाणु है। इस रोग से आक्रान्त रोगी के कण्ठशोथ जन्य स्राव मे उक्त जीवाणु का दर्शन होता है।

लक्षण :—इस रोग का प्रथम लक्षण है कण्ठशोथ। यह शोथ अत्यधिक प्रवल होता है। वहा की श्लैष्मिक कला लाल और शोथयुक्त हो जाती है तथा तुण्डिकेरी (Tonsils) भी शोथयुक्त हो जाते हैं। इसमे रोहिणी का भ्रम सदा सभव है क्योकि कण्ठ प्रदेश मे उसके समान ही अवास्तविक कला सूत्रिमय शोथस्राव का थक्का जमा पडा दृष्टिगोचर होता है। कण्ठ मे तन्तुनाश और व्रणोत्पत्ति भी पायी जाती है। ग्रीवा की प्रादेशिक लसिका ग्रन्थिओ मे भी शोथ एव स्पर्शासहत्व हो जाता है। कभी-कभी पूयोत्पत्ति भी हो जाती है। कण्ठशोथ

की उग्रता के कारण कभी-कभी श्वास कष्ट भी हो जाता है। इस शोथ का प्रसार कभी-कभी कण्ठ-कर्ण प्रणाली (Eustachian tube) के मार्ग से मध्य कर्ण में पहुँच जाता है और वहाँ सपूय शोथ उत्पन्न कर देता है।

ऐसी परिस्थिति मे मस्तिष्कावरण शोथ और मस्तिष्कविद्रधि का भी भय हो जाता है। इन शोथो के कारण ग्रीवा प्रदेश की लसिका ग्रन्थियां भी आक्रान्त हो जाती हैं और उनमे शोथ-पाक उत्पन्न हो जाती है। पूयोत्पत्ति के कारण लसिका ग्रन्थिओं मे विद्रधि भी उत्पन्न हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर के लसिका सम्बन्धी तन्तुओं पर भी इस शोथ का प्रभाव पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप शरीरव्यापी लसिका-तन्तुशोथ हो जाता है। इसीलिये कभी-कभी (ऐसी अवस्था में) इसको लसिकागत ज्वर (Lymphatic fever) भी कहते है। सम्पूर्ण शरीर मे रक्त माध्यम से इस विष के सचार के कारण उच्च तापयुक्त ज्वर होता है तथा सम्पूर्ण शरीर पर लाल वर्ण के चमकदार चकत्ते निकल आते है। ज्वर के साथ-साथ शिर.शूल, भ्रम, अङ्गसाद, क्षुधानाश, आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। कोठ शरीरव्यापी तथा बिन्द्वाकृति होते हैं। जिह्वापृष्ठ पर भी ये कोठ (Rash) दृष्टिगोचर होते हैं। विष प्रभाव के कारण मूत्र मे अल्व्युमन आने लगता है। परन्तु वृक्कशोथ प्राय. नही होता। ८० प्रतिशत रोगियों मे ज्वर वृद्धि के साथ-साथ छर्दि का लक्षण दृष्टिगोचर होता है। रोगी का मुखमण्डल उभरा हुआ (Flushed) दिखाई पड़ता है परन्तु चकत्ते नही दृष्टिगोचर होते। रक्त परीक्षण से Polymorphonuclear leucosy-tosis तथा Modearte Eosinophilia मिलता है।

प्रकार :—इसके चार मुख्य भेद होते है। जैसे (१) सामान्य (Benign or Simple type), (२) विशिष्ट (Modified), (३) दूषित (Septic) और (४) विषात्मक (Toxic)। इनमे प्रथम प्रकार का ही अधिक सख्या मे दृष्टिगोचर होता है। कभी-कभी इसके अनेक लक्षण जैसे चकत्ते, कण्ठशोथ तथा ज्वर नही दिखाई पड़ते। इस अवस्था को लेटेन्ट या फोर्मीस फस्टीस कहते हैं। दूसरा प्रकार स्कारलेटिनल एन्टीटौक्सिन के प्रयोग करने पर एक या दो दिन पश्चात् दृष्टिगोचर होता है। सीरम प्रयोग के ४८ घन्टे के अन्दर ही ज्वर प्रकृत ताप पर आ जाता है। चकत्ते तथा ज्वर मृदु प्रकार के ही होते है। सेप्टिक स्कार्लेट फीभर मे सभी सामान्य लक्षण बढे हुए अर्थात् उग्र रूप मे दृष्टिगोचर होते है। कण्ठ की दुष्टिका प्रसार तालु आदि निकटवर्ती अवयवो मे भी हो जाता है। संक्रमण के प्रसार से ग्रैवेयक ग्रन्थियां भी आक्रान्त हो जाती हैं जिससे उनमे पाक भी हो जाता है। मध्य कर्ण भी इसमे विकृत हो जाता है।

चकत्ते यद्यपि मुरझाये हुए दीख पडते हैं परन्तु मुखमण्डल तथा शाखाओ पर बहुधा निम्नमध्य पिडकाये निकल आती है। चौथे प्रकार का विपात्मक अरुणज्वर भयकर होता है। इसमे ज्वर का सताप अत्यधिक प्रलापयुक्त होता है। हृदय का दौर्बल्य भी इसमे हो जाता है। इसमे छर्दि उग्ररूप की होती है। चकत्ते अति गम्भीर रूप के निकलते है। इससे आक्रान्त रोगी प्राय' १ सप्ताह के अन्दर मर जाता है।

सापेक्ष्य निदान :—इस ज्वर का निर्णय कभी-कभी अत्यन्त कठिन हो जाता है। छर्दि के साथ अकस्मात् ज्वर का उच्च तापयुक्त हो जाना तथा कण्ठव्रण का साथ होना इस ज्वर का परिचायक होता है। विशेषकर जब यह ज्वर उस प्रदेश मे फैला हुआ हो तो सन्देह का अवसर नही रहता। अन्यथा कभी-कभी रोहिणी का भ्रम उत्पन्न होता है। इस रोग के प्रारम्भिक अवस्था मे प्राय' तुण्डिकेरी का भी भ्रम उत्पन्न होता है। परन्तु उग्र छर्दि का होना तथा शरीर पर चमकदार चकत्तो का निकलना उक्त दोनो भ्रमो का निराकरण कर देता है।

प्रतिकार :—अन्य पिडकामय ज्वरो के समान ही इस रोग से आक्रान्त रोगी को पृथक् ही रखना श्रेयस्कर है। रोगी को पूर्ण विश्रामपूर्वक लगभग तीन सप्ताह तक रखे जिससे कोई उपद्रव न उत्पन्न होवे। स्वच्छता पर पूर्ण ध्यान रखे तथा निवासस्थान का स्वच्छ वायुसचारी होना परमावश्यक है। आधुनिक चिकित्सक इस रोग के लिये निर्मित विशिष्ट सीरम का प्रयोग इसकी भयङ्करता को न्यून करने के लिये करते हैं। सल्फा वर्ग की औषधि जैसे Sulphadıazıne का भी प्रयोग करते है। यह रोग भारत मे न्यून सख्या मे दृष्टिगोचर होता है।

उपलब्ध आयुर्वेद के ग्रन्थो मे इस ज्वर का पृथक् स्वतन्त्र रूप में वर्णन नही उपलब्ध होता। वेदो मे 'अरुणज्वर' का नाम आता है। लक्षणो के अनुसार इसका पित्तकफोल्वण सन्निपात ज्वर मे अन्तर्भाव किया जा सकता है। अतः इसकी चिकित्सा भी उसी के अनुरूप होगी। ज्वर की शान्ति के लिये त्रिभुवन-कीर्त्ति तथा कस्तूरीभैरव का यथावसर प्रयोग कर सकते हैं। कण्ठव्रण के लिये क्षीरी वृक्ष के त्वक् का कषाय बनाकर गण्डूष के लिये देवे। कण्ठ मे 'कालक-चूर्ण' को मधु मे घिस कर लेपार्थ देवे। चकत्ते स्वय ज्वर सताप के न्यून होने के साथ-साथ विलीन हो जाते है। उग्रावस्था मे या विषाक्त हो जाने पर जब कण्ठ तथा ग्रैवेयक ग्रन्थिओ मे पाक हो जाय तो उसका व्रणवत् उपचार करे। आधुनिक चिकित्सक सम्प्रति पेनिसिलीन आदि का प्रयोग करते है।

विसर्प

(Erysipelas)

यह भी एक संक्रामक ज्वर है जिसमे त्वचा पर फैलने वाले शोथ युक्त लाल लाञ्छने निकल आती हैं। ये लाञ्छने या कोठ अधिचर्म के स्तरो के भीतर रक्त-विनाशी पूयजनक मालागोलाणुओ के संक्रमण के कारण लसीका वाहिनियो मे उग्र शोथ की उत्पत्ति के परिणाम होते हैं। इसका नामकारण इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यह शीघ्र फैलनेवाला होता है।[1] आयुर्वेद मे इसके अनेक भेदो का वर्णन उपलब्ध होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे इसे पिडकामय-ज्वरो के अन्दर ही माना है। आयुर्वेदोक्त विविध विसर्पो के लक्षण तथा सम्प्राप्ति पर ऊहापोह करने से कर्दम विसर्प (gangrinous erysipelas) की तुलना कोशान्तर्गत शोथ (cellulitis) के साथ की जा सकती है। अग्निविसर्प के लक्षण सामान्य एरीसीपेलस मे की जा सकती है। ग्रन्थिविसर्प का सामञ्जस्य ऐसे एरीसीपेलस मे जिनमे लसिक ग्रन्थियो का शोथ अधिक होता है की जा सकती है। अत. विसर्प को पिडकामय ज्वरो मे वर्णन करना उचित प्रतीत होता है।

निदान :—इस रोग का कारण आधुनिक विज्ञान के अनुसार[2] रक्तविनाशी पूयजनक मालागोलाणु है। आयुर्वेदानुसार इसकी उत्पत्ति मे तीनो दोष (वात, पित्त, कफ) तथा चार दूष्य (रक्त, लसिका, त्वचा और मास) दुष्ट होते हैं।[3]

विसर्प की सम्प्राप्ति :—माधव ने सुश्रुत के ही वाक्यो का उच्चारण किया है। सुश्रुत ने इसको शोथ का ही एक आवान्तर रूप माना है। अत' इसकी सम्प्राप्ति मे कहा है कि त्वङ्, मास तथा रक्त मे प्रविष्ट प्रकुपित वातादि दोष सर्वाङ्गसारी शोथ को उत्पन्न करते है। गयदास ने सर्वाङ्गसारी का अर्थ 'सर्वाङ्गानुसरणशील' किया है। पुन' इस शोथ के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह शोथ अवस्थित अर्थात् एक देश से दूसरे देश पर फैलने वाला होता है। यह इसका आत्मलिङ्ग है। पुन' कहा है कि यह शोथ विस्तृत होने पर भी अधिक उठा हुआ (अनुन्नत) नही होता। हाराणचन्द्र ने इस पाठ को

---

१ (क) "विविध सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृत.।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वत' परिसर्पणात् ॥" (च चि २१)
(ख) "न सर्वतो विसरणाच्च विसर्पणाद्धु.। (सु नि १०)

२ Haemolytic streptococcus Pyogenus

३. "रक्त लसीका त्वङ्मास दूष्य दोषास्त्रयो मला.।
विसर्पाणा समुत्पत्तौ विज्ञया. सप्तधातवः ॥" (च चि २१)

वदल कर 'विमृतमुन्नतमाशु' अर्थात् विगृत और उन्नत कर दिया है। सर्वत्र शरीर मे विसरणशील होने से ही इसका नाम विसर्प है। चरक संहिता मे इसकी विस्तारपूर्ण सम्प्राप्ति वर्णित है। पुनर्वसुरात्रेय निर्देश करते हैं कि दोषभेद से यह सात प्रकार का सात धातुओ को दूषित करने वाला (तीनों दोष तथा रक्त, मास, लसिक और त्वचा इन सात धातुओ को दूषित करनेवाला) विकार है। अपने विशिष्ट अर्थात् विसर्पाध्यायोक्त प्रकोपणो से प्रकुपित वात आदि दोष रक्तादि धातुओ को दूषित कर विसर्प को उत्पन्न करते है। ये दोष जब शरीर के अन्तःप्रदेश मे कुपित होते हैं तो शरीर के अन्तराश्रयो मे तथा जब शरीर के वहि प्रदेश मे कुपित होते हैं तो वहि:प्रदेश त्वचा मे विसर्प को उत्पन्न करते है। जब उभय भाग मे प्रविष्ट होते हैं तो सर्वत्र विसर्प उत्पन्न करते हैं। चरक ने इन उपर्युक्त प्रकार के विसर्पो की पृथक्-पृथक् सम्प्राप्ति तथा लक्षण बतलाये हैं। (च० चि० अ० २३)

लक्षण सारिणी

वातज विसर्प	पित्तज विसर्प	कफज विसर्प	सन्निपातज विसर्प
१—ज्वर (विषम वेगी)	ज्वर (तीव्र)	शीत ज्वर	ज्वर (सन्निपातिक)
२—भ्रम	भ्रम	शीतक	सर्वलिङ्गी
३—दवथु (इन्द्रिय सताप)	अन्तर्दाह		व्यापी
४—पिपासा	तृष्णा	मधुरास्यता	सर्वधात्वनुसारी
५—निस्तोद	मूर्च्छा	आस्योपलेप	आशुकारी
६—शूल	मोह		
७—अङ्गमर्द	अङ्गभेद	गौरव	महात्ययिक
८—उद्वेष्टन	छर्दि	छर्दि	
९—कम्प	स्वेदातिचय	निष्ठीविका	
१०—तमक	शिरोरुक्	आलस्य	
११—काम	अनिद्रा	निद्रा	
१२—अस्थि सधिभेद	अरति	तन्द्रा	
१३— ,, विश्लेष	वाततर्प	स्तैमित्य	
१४— ,, वेपन	वारितर्प		
१५—अरोचक	अरोचक	अरोचक	
१६—अविपाक	—	अग्निनाश	

१७—चक्षुराकुलता	चक्षुराकुलता	दौर्बल्य
१८—अन्त्रागमन		श्वेतनखता
१९—अङ्गोमे पिपिल्लिका		श्वेतनयनता
सचारानुभूति		श्वेतवदन
		श्वेतत्वक्
२०—विसर्पावकाश	विसर्पावकाश	श्वयथुमान
का श्यावारुणा-	ताम्र-हरित-हारिद्र	पाण्डु
भास श्वयथुमान्	नील कृष्ण-रक्त	नातिरक्त
होना असित ,,	सोत्सेध	
परुप		
२१—विसर्प देश मे	विसर्प देश में	स्नेह सुप्तिस्तम्भ
(i) निस्तोद	दाह } अतिमात्र	गौरवयुक्त
(ii) भेद	सभेद } अतिमात्र	
(iii) शूल	स्फोटकैरुपचित	अल्प वेदन
	पाकयुक्त	
(iv) आयाम	हरितनेत्रता	कृच्छ्रपाकी
(v) सकोच	हारिद्रनेत्रता	चिरकारी
(vi) हर्ष	हरितरूपदर्शन	वहुलत्वगुपल्लेपी
(vii) स्फुरण	हारिद्र ,,	स्फोट श्वेतपाण्डु
२२—विसर्प स्राव	तुल्यवर्णस्राव.—	
(i) तनु	पीत	श्वेतस्राव
(ii) अरुणाभ	हरित	पिच्छिल ,,
(iii) श्याव	रक्त	तन्तुमत ,,
		स्निग्ध स्राव
२३—वात विवद्धता	हरितमूत्रता	श्वेत मूत्रता
२४—मूत्र ,,	हरिद्रमूत्रता	
२५—पुरीप ,,	हरित पुरीपता	श्वेत पुरीपता
	हरिद्र ,,	

अग्निक विसर्प	कर्दम विसर्प	ग्रन्थिक विसर्प	क्षतज विसर्प
१—ज्वर (तीव्र)	शीत ज्वर	ज्वर	ज्वर (अग्नि)
२—जलते हुए अङ्गारो	स्तैमित्य	भ्रमक	
से अवकीर्यमाण	शिरोगौरव		

[illegible] ([illegible]) [illegible]

[illegible]

३–[illegible]	[illegible]	[illegible]
४ अतिसार	[illegible]	[illegible]
५–मूर्छा	मूर्छा	[illegible]
६–दाह	दाह	
७–मोह	मोह	[illegible]
८–भ्रम	[illegible]	
९–[illegible]	[illegible]	[illegible]
१०–अग्निमान्द्य	अग्निभेद	
११–तृष्णा	पिपासा	
१२–अविपाक	[illegible]	अविपाक
१३–अङ्गभेद	अङ्ग[illegible]	अङ्ग भङ्ग
१४–विसर्पावकाश	[illegible]	[illegible]
का शान्त हुए	अङ्गविदार	[illegible]
अङ्गार के समान	अङ्गमर्द	[illegible] [illegible]
प्रतीत होना	एकदेशग्राही	[illegible]
अथवा अतिरक्त		[illegible] [illegible]
होना		
१५–अग्निदग्ध	आमाशयदेशव्यापी	[illegible]
के समान स्फोटों	अलसक	[illegible]
का उद्भव	स्तिमितवेदन	स्फोटा [illegible]
१६–शीघ्रगामी	विसर्पावकाश	
	रक्त-पीत-पाण्डु	[illegible]
१७–मर्मानुसारी	पिडकावकीर्ण	[illegible]
१८–हिक्का	मेचकाभ, [illegible]	[illegible]
१९–श्वास	मलिन स्निग्ध	श्वास
२०–अनिद्रा	निद्रा	निद्रा
२१–अरति	तन्द्रा	
(अशान्ति)	अरति	अरति
२२–आर्तव्याकुलता	ओष्ठास्य [illegible]	
	मांस [illegible]	

सम्प्राप्ति :—लवणाम्ल-कटु-उष्ण आहार विहार के सेवन से दोष प्रकुपित सात प्रकार के विसर्प को उत्पन्न करते हैं। ये प्रकुपित तीनों दोष त्वङ्मांस और रक्त, धातु एवं लसीका में प्रवेश कर तथा उन्हें दूषित कर शीघ्र ही सम्पूर्ण शरीर के त्वक् प्रदेश पर विस्तृत एवं अनुन्नत शोफ उत्पन्न करते हैं। यह शोथ प्रसरणशील होने से विसर्प कहलाता है।[1]

प्रकार :—आयुर्वेद में विसर्प के आठ प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) सन्निपातज, (५) आग्नेय या आग्निक विसर्प (वातपित्तोल्वण), (६) ग्रन्थिक विसर्प (कफवातोल्वण), (७) कर्दमक विसर्प (पित्तकफोल्वण) और (८) क्षतज विसर्प।[2]

आधुनिक विज्ञानानुसार इनके पांच भेदों का वर्णन उपलब्ध होता है। (१) सामान्य प्रकार जो सदा कोशतन्तु शोथ (Cellulitis) से साम्य रखता है। अतः इसे एरीसीपेलो-सेल्युलाइटीस भी कहते हैं। ये वातज, पित्तज, कफज, विसर्प के अन्तर्गत आते हैं। (२) फ्लेग्मोनस या गैंड्ग्रीनस एरीसीपेलस है जो कर्दम विसर्प से साम्य रखता है। (३) एरीसीपेलस् नेयोनेटोरम है। यह परम साघातिक होता है। इसमें मृत्यु का कारण उदरन्तरच्छदा कला के शोथ (Peritonitis) हुआ करता है जो विसर्प के सक्रमण का उस कला तक प्रसार होने से होता है। इसका अन्तर्भाव अग्निक विसर्प या सन्निपातज विसर्प में किया जा सकता है। (४) एरीसीपेलस कण्ठ तथा श्वसनिका का होता है जो एक भयंकर व्याधि है। इसमें कण्ठ तथा श्वसनिका (Throat and Larynx) के आक्रान्त हो जाने से श्वासावरोधवश मृत्यु होती है। यह भी सन्निपातिक विसर्प के ही अन्तर्गत आता है। इनके अतिरिक्त एक विसर्प बाह्य हेतुओं से अर्थात् अभिघात से भी होता है जिसे क्षतज विसर्प कहते हैं। आधुनिक विज्ञान भी ट्रामेटिक एरीसीपेलस मानता है। ग्रन्थिक विसर्प की तुलना उस एरीसीपेलस से कर सकते हैं जिसमे लसिका ग्रन्थियां अधिक आक्रान्त होती हैं। इस विसर्प में अत्युग्र शोथ के कारण दाह तथा लालिमा आदि युक्त होते हैं पर पाक नहीं होता। पाश्चात्य चिकित्सा के इडियोपैथिक विसर्प वातज आदि प्रकारों में परिगणित हो सकते हैं।

लक्षण :—(१) **वातज विसर्प** में वातज्वर के प्रायः सभी लक्षण होते हैं। विशेषतया इसमें त्वचा पर शोथ, स्फुरण, तोद, भेद, आयास तथा अति रोमाञ्च का होना है। (२) **पित्तज विसर्प** में सभी पित्तज्वर के लक्षण प्रायः दृष्टिगोचर

---

१. (क) सु. नि. १०; (ख) च. चि. २१;

२. च. चि. २१,

होते हैं और उसमे उत्पन्न होने वाले लक्षण अत्यधिक गाढ होते है। यह शीघ्र बढता है अर्थात् फैलता है। (३) **कफज विसर्प** में कफज्वर के लक्षणों के अतिरिक्त शोथ में कण्डू विशेष होती है तथा शोथ स्निग्ध होता है। (४) **सन्निपातज विसर्प** में तीनों दोषों के लक्षण प्राप्त होते है। (५) **आग्नेय विसर्प** में तीव्र ज्वर के साथ वमन, मूर्छा, अतिसार, तृष्णा, भ्रम, अस्थियों तथा सन्धियों में फटने जैसी पीडा, अग्निमान्द्य तमक श्वास तथा अरुचि होती है। सम्पूर्ण शरीर जलते हुए अङ्गारों से ढके हुए के समान प्रतीत होता है। विसर्प का स्थान अङ्गारों से बुझे हुए के समान काला, नीला या लाल होकर शीघ्र ही अग्नि से जलने पर उत्पन्न फफोलों के समान स्फोटों से व्याप्त हो जाता है। शीघ्रगामी होने से मर्मस्थानों में प्रवेश कर सज्ञानाश आदि उपद्रवों को उत्पन्न करता है। इसमे वात तथा पित्त दोष अत्यधिक प्रकुपित होते हैं। रोगी अत्यधिक बेचैन रहता है। रोगी को किसी प्रकार शान्ति नहीं प्राप्त होती है। यह परम साघातिक होती है। इसे आधुनिक चिकित्सक (Erysipelas vesiculosum) भी कहते हैं। पं० ब्रह्मदत्त जी ने इस 'आग्नेय विसर्प' की तुलना सामान्य विसर्प (Erysipelas) से की है। परन्तु मेरे विचार से इसके परिणाम, पीडा तथा उपद्रवों पर दृष्टिपात करने से यह (Erysipelas neonatorum) से साम्य रखता है। (६) **ग्रन्थिक विसर्प** मे कफावृत्त पूर्णरूपण फैलकर त्वक्, मास तथा रक्त एव लसिका को दूषित कर तत्रस्थ लसिका ग्रन्थिओ को आक्रान्त करती है और उनमे गोल, मोटी और कठोर ग्रन्थियो की माला उत्पन्न कर देती है। ये ग्रन्थिया रक्त वर्ण की तीव्र रुजा वाली होती है तथा इसमे ज्वर भी होता है। इन लक्षणो के अतिरिक्त श्वास, कास, अतिसार, मुखशोष, हिक्का तथा भ्रम, ये लक्षण होते है। इस प्रकार मोह, वैवर्ण्य, मूर्छा, अङ्गभेद, अग्निसदन आदि से युक्त ग्रन्थियो से माला वाले विसर्प को 'ग्रन्थि विसर्प' कहते है। इस विसर्प में छाले नही होते इसे एरीसीपेलस पुसचोलोसम (Erysipelas Postulosum) कह सकते हैं।

(७) **कर्दम विसर्प** :—यह कफपित्तजन्य विसर्प है। इसमे ज्वर, अङ्गो की स्तब्धता, निद्रा, तन्द्रा, शिर शूल, अङ्ग शैथिल्य, अङ्ग विक्षेप तथा अङ्गो पर प्रलेप की प्रतीति, अरुचि, भ्रम, मूर्छा, अग्निनाश, हड्डियो मे टूटने के समान पीडा, प्यास, इन्द्रियगौरव, आम मल की प्रवृत्ति, स्रोतोरोध, आदि लक्षण होते हैं। यह विसर्प आमाशय मे पहुँच कर एकदेशव्यापी हो जाता है। इसमे पीडा अधिक नही होती। अत्यधिक पीले, लाल से धूसर वर्ण की पिडकाओ से यह व्याप्त होता है। यह चिकना, काला, अञ्जन के समान कृष्ण, मलिन, शोथयुक्त, भारी, अन्त पाक वाला तथा अत्यधिक उष्ण होता है। स्पर्शमात्र

से इसकी पीडकायें फट जाती हैं। मांस के पक कर शीर्ण होने से यह कर्दम (कीचड) के समान हो जाता है और स्नायु तथा सिरायें स्पष्ट दीख पडने लगती हैं। इनमे से शव के समान दुर्गन्ध आती है। इन लक्षणो से युक्त होने से ही इसे 'कर्दम विसर्प' कहते हैं। इसकी तुलना आधुनिक गैङ्ग्रिनस एरीसीपेलस (Gangrenous Erysipelas) से की जा सकती है।

(८) **क्षतज विसर्प** :—बाह्य हेतु यथा क्षत से प्रकुपित वायु रक्त सहित पित्त को प्रेरित करके कुलत्थी के दाने के समान पिडकाओ से व्याप्त सरुक् सदाह शोथ एव ज्वर को जब उत्पन्न करता है तब उसे क्षतज विसर्प कहते हैं। इसमे पिडकायें श्याव या रक्त वर्ण की होती है। उक्त लक्षणो के अतिरिक्त इसमे अतिसार, वमन, त्वचा तथा मांस का फटना और बिना परिश्रम की थकावट, ये लक्षण भी होते हैं। उपद्रव के रूप मे अरुचि तथा अविपाक भी होता है। आधुनिक चिकित्सक इस विसर्प को अभिघातज विसर्प (Traumatic erysipelas) कहते हैं। उनका कहना है कि अभिघात आदि से उत्पन्न क्षत (व्रण) प्रदेश मे जब मालागोलाणुओ का प्रवेश किसी प्रकार होता है तब क्षतज विसर्प (Traumatic Erysipelas) की उत्पत्ति होती है।[1]

साध्यासाध्य :—इन विसर्पो मे वातज, पित्तज तथा कफज विसर्प साध्य होते हैं। सन्निपातज और क्षतज असाध्य होते हैं। अग्निक, ग्रन्थिक तथा कर्दम विसर्प अति कृच्छ्रसाध्य हैं। उपद्रवयुक्त होने पर ये भी असाध्य हो जाते हैं।[2]

विसर्प की प्रमुख भूमि—विसर्प मुखमण्डल और शिर पर अधिक होता है। इसका विशिष्ट स्थान ग्रीवा के उपर के भागो मे है। इसका कारण यह है कि नासा तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशो से मालागोलाणुओ का सक्रमण सरलता से होता है। इन स्थानो पर इसके जीवाणु छिपे रहते है और समय पाकर थोडा भी अपने अनुकूल परिस्थिति (क्षत आदि) पाकर आक्रमण कर देते हैं। विसर्प का प्रसार प्राय बाह्य प्रदेशो मे उत्तरोत्तर अधिक होता है। त्वचा के भीतरी स्तरो मे इसका प्रवेश कम होता है। इस से आक्रान्त प्रदेश चमकदार लाल तथा कठोर हो जाता है। शोथ के किनारे स्पष्ट दिखाई पडते हैं। शोथ के समान ही

---

१ (क) वा नि अ १३,
(ख) सु नि. अ १०,
(ग) च. चि अ २१,

२. "सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पा,
सर्वात्मक क्षतकृतश्च न सिद्धमेति।
पित्तात्मकोऽगानवपुश्च भवेदसाध्य,
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव॥"

विसर्प की शोथ मे भी प्रारम्भ मे वाहिनियो के विस्तार या विस्फार (फिगगाप) तथा शोथ सम्बन्धी उत्सेध होता है। अत शोथयुक्त प्रदेश रक्त वर्ण का स्पर्श मे उष्ण तथा उठा हुआ एव वेदनामय हो जाता है। वाहिनियो मे से स्रवित शोथ-स्राव के कारण उक्त के दबाव के प्रभाववश अधिचर्म सम्बन्धी कोशाणु अपने आधारस्थ चर्म से पृथक् हो जाते है। फलस्वरूप अधिचर्म (Epidermis) का ऊपरी स्तर मृत होकर पपरियो के रूप मे झड जाया करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शोथस्राव अधिचर्म को दो भागो मे बाँट कर उन दोनो के बीच मे भर जाता है और त्वचा पर छाले से उठ आते है।[1] ठीक ऐसे ही छाले अग्निदग्ध से भी उठा करते हैं। परन्तु यहा एक विशेषता यह होती है कि शोथस्राव मे पूयोत्पत्ति नही होती। यह शोथमय विसर्प (कोठ) बडी शीघ्रता से बढती है।'

प्रतिकार :—आधुनिक चिकित्सा मे सल्फोनामायड तथा पेनिसिलीन का प्रयोग इस रोग मे पर्याप्त लाभप्रद पाया गया है। आयुर्वेद मे इस रोग के लिये अधोलिखित उपक्रम दिया गया है।

साध्य विसर्पो मे प्रथम वमन करना श्रेयस्कर है विशेषकर कफस्थान (उर्ध्वकाय) मे उत्पन्न विसर्प है। वमनान्तर तिक्तरस विशिष्ट द्रव्यो का सेवन कराना चाहिये। पित्तज विसर्प मे शोणितावसेक तथा विरेचन का भी विधान है। यदि विसर्प मारुताशय मे अर्थात् अध शरीर (पक्वाशय) मे भी हो तो विरुक्षण करना चाहिये। इसमे तिक्त घृत का प्रयोग अच्छा लाभ करता है। रक्तावसेक के लिये वातज मे विषाण का, पित्तज मे जलौका का, तथा कफज मे अलाबु का प्रयोग विहित है। सिरामोक्ष का भी विधान है। त्रायमाण घृत का भी अन्त. प्रयोग इसमे निर्दिष्ट है। अनेक प्रकार के प्रदेहो तथा लेपो का प्रयोग शास्त्रो मे उपदिष्ट है। पैत्तिक मे शीतप्राय, कफज मे रूक्षप्राय तथा वातज मे स्नेहप्राय चिकित्सा करनी चाहिये। इसकी चिकित्सा मे रक्तमोक्षण पर अत्यधिक बल दिया गया है। इसमे मुक्ता पिष्टी, प्रवाल पिष्टी और गिलोय सत्त्व के प्रयोग से लाभ होता है। पिराजो का भस्म भी अच्छा लाभ करता है। गन्धक रसायन तथा कालाग्निरुद्ररस का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये। खदिरारिष्ट, सारिवाद्यरिष्ट का भी प्रयोग लाभप्रद है। वाह्य प्रयोग के लिये मास्यादि लेप, तथा निशादि लेप से लाभ होता है। इनके अतिरिक्त रक्त दोषहर एव पित्तप्रशमक औषधो का प्रयोग करे।

---

१ "वाह्य हेतो क्षतात्क्रुद्ध. सरक्त पित्तमीरयन्।
विसर्प मारुत कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्॥
स्फोटै शोकज्वररुजादाहाणा श्यावलोहितम्॥ (अ हृ चि १३)

विस्फोटक

यह पुंजगोलाणुओं (Staphylo coccus) के संक्रमण से उत्पन्न होनेवाली सक्रामक व्याधि है। यह विशेषकर बच्चों मे होती है। इसको आधुनिक चिकित्सक पेम्फीगस (Pemphigus) या बुलस एरप्शन (Bullous-eruption) कहते है। इसमे ज्वरपूर्वक विस्फोट शरीर की त्वचा पर निकल आते है।

भोज ने कहा है कि प्रकुपित या दुष्ट पित्त और रक्त वातानुगत हो त्वचा मे ज्वर तथा दाहपूर्वक अग्निदग्ध मे उत्पन्न फफोले के समान स्फोटो को उत्पन्न करते है। इस रोग को 'विस्फोटक' कहते है।[1] सुश्रुत ने इसका पाठ क्षुद्र रोगो मे दिया है।

निदान :—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, रूक्ष तथा क्षारीय पदार्थो के सेवन से, अजीर्ण, अध्यशन तथा धूप मे, ऋतु के दोष (अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग) से वातादि दोष प्रकुपित होकर जब त्वचा मे आश्रित हो रक्त मांस तथा अस्थियो को दूषित करते हैं तब ज्वरपूर्वक विविध रूप मे भयङ्कर विस्फोट को उत्पन्न करते है।[2] तात्पर्य यह कि उपर्युक्त कारणो से दुर्बल हुए त्वचा मे पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर शरीर के एक देश मे अथवा सम्पूर्ण शरीर मे विस्फोट (फफोले) निकलते हैं। आधुनिक चिकित्सक इसमे पुञ्जगोलाणुओं (Staphylo coccal infection) का उपसर्ग मानते हैं।

लक्षण :—रक्त पित्त के प्रकोप मे जो ज्वर के साथ अग्नि से जले हुए के समान फफोले शरीर के किसी एक भाग या सर्वाङ्ग मे उत्पन्न होते हैं उसे 'विस्फोटक ज्वर' कहते हैं। इसमे शिर शूल, शरीर के अन्य भागो मे शूल की अधिकता, ज्वर, तृष्णा, पर्वभेद (सन्धियो मे भेदनवत् पीडा) तथा स्फोटो का कृष्ण वर्ण का होना वातिक स्फोट के लक्षण है। ज्वर, दाह, पीडा, स्राव, पाक, तृष्णा इन लक्षणो से युक्त पीले तथा रक्त वर्ण के विस्फोट पित्तज विस्फोट कहलाते है। कफज विस्फोट मे छर्दि, अरुचि, जडता, कण्डू, कठोरता तथा पाण्डुता ये लक्षण होते हैं। इसमे रोगी को किसी प्रकार की पीड़ा नही होती और विस्फोट देर मे

---

१. (क) पित्त रक्त च कुपित वातेनानुगत त्वचि।
अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुते सर्वदेहगान्॥
सज्वरान् सपरिदाहान् विद्याद् विस्फोटकास्तु तान्॥
(भोजः—सु नि. अ. १३-१८ पर डल्हन)

२. "कट्वम्लतीक्ष्णोष्ण-विदाहिरूक्षक्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु॥
त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान्॥" (मा. नि.)

प्रकता है। वातपित्तज विस्फोट मे तीव्र वेदना होती है। कण्डू, स्तिमितता तथा भारीपन वातकफज स्फोट के लक्षण हैं। पित्तकफज विस्फोट मे कण्डू, दाह, वमन तथा ज्वर विशेषरूप मे होते है। त्रिदोषज विस्फोट मध्य मे दवा हुआ, किनारो पर उठा हुआ कठिन और अल्प प्रपाक वाला होता है। इसमे दाह, तृष्णा, राग (लाली), मोह, छर्दि, मूर्छा, पीडा, तीव्र ज्वर, प्रलाप, कम्प तथा तन्द्रा ये लक्षण होते हैं। यह असाध्य होता है। रक्तज विस्फोट रक्त समुत्थ होने से गुञ्जा तथा प्रवाल के समान रक्त वर्ण का होता है। ये पित्त प्रकोपणो से रक्त को दुष्ट कर उत्पन्न होते हैं। ये रक्त तथा पित्त दोनो की दुष्टि से उत्पन्न होते हैं।[1] ये सैकडो सिद्ध योगो से भी अच्छे नही होते। इस प्रकार विस्फोटक आठ प्रकार के होते हैं। इनमे एकदोषज विस्फोट साध्य होते हैं। द्विदोषज विस्फोट कृच्छ्र साध्य होते हैं और त्रिदोषज विस्फोट असाध्य होता है। रक्तज विस्फोट भी असाध्य ही होता है।[2]

प्रतिकार :—सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा पित्तज विसर्प के समान करने का निर्देश किया है। मधुरौषधो से सिद्ध घृत का प्रयोग करने का निर्देश किया है।[3]

---

१. "अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः॥
शिरोरुक्शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम्। (सु नि १३)
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम्॥
ज्वरदाहरुजास्राव पाकतृष्णाभिरन्वितम्।
पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम्॥
छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः।
अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोटः कफात्मक॥
वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम्।
कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम्॥
कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः।" (मा. नि.)
(ख) "मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान्।
दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः॥
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात् त्रिदोषजः।"
रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना॥
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि।" (मा. नि.)

२ "एकदोषोऽत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषज.।
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः॥"

३. " × × × विस्फोटकास्तथा।
पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियायाः साधयेद्भिषक्॥" (सु. चि. अ. २७-८)

इसमे लंघन कराना चाहिये। आवश्यकतानुसार दोषनिर्हणार्थ वमन भी कराना आवश्यक होता है। दोष के बलाबल को ध्यान मे रखकर विरेचन का भी प्रयोग कर सकते है। पथ्य की सुव्यवस्था आवश्यक है। पथ्य मे जीर्ण शाली का भात, यव, मूँग तथा मसूर एव आढकी की दाल देना श्रेयस्कर है। दशमूल, देवदारु, खस, यवासा, गुडूची, धनिया, नागरमोथा इनका क्वाथ देने से लाभ होता है। इसकी चिकित्सा मे रक्तदोष को दूर करने वाले तथा पित्तहर औषधो या योगो का प्रयोग श्रेयस्कर है। विसर्पोक्त औषधो का प्रयोग यथावश्यक इसमे करने से लाभ होता है।

जालगर्दभ

यह विसर्प के समान फैलने वाली अल्प पाकयुक्त तथा दाह एव ज्वर के साथ उत्पन्न होने वाली पित्तजन्य व्याधि है। इसमे भी शरीर की त्वचा पर श्याव तथा रक्त वर्ण के तनुशोथ हो जाता है। इसमे पाक नही होता परन्तु अत्यधिक वेदना होती है। यह विसर्प का ही एक आवान्तर रूप है।[१]

पित्तज होने से चक्रपाणिदत्त ने 'अपाकवान्' का अर्थ ईषत् पाकवाला किया है। परन्तु प्रत्यक्षत· इसकी उपलब्धि बिना पाक के ही होती है। इसीलिये कई आचार्यो ने इसे त्रिदोषज माना है और कहा है कि इन दोषो मे पित्त उत्कट रहता है।[२]

प्रतिकार :—सुश्रुत ने इसमे भी विसर्प के समान ही प्रतिकार करने का आदेश किया है।[३] मधुर औषधो से सिद्ध घी का प्रयोग रोपणार्थ बतलाया है। पित्तज्वरोक्त ज्वरहर औषधो के देने से इसमे भी लाभ होता है। किरातादि क्वाथ तथा महामञ्जिष्ठादि क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये। त्रिभुवनकीर्ति तथा कालभिरुद्ररस का प्रयोग लाभप्रद है।

अग्निरोहिणी

यह भी अन्तर्दाह और ज्वर के साथ कक्षा प्रदेश मे उत्पन्न होने वाला एक भयकर पिडकामय ज्वर है। इसके विस्फोट प्रदीप्त अङ्गार के समान तीव्र दाह

---

१. (क) "विसर्पवत्सर्पति य· शोथस्तनुरपाकवान्।
दाहज्वरकर· पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभ ॥" (मा नि क्षु. नि. १३)

२. (ख) पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिता·।
श्याव रक्त तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥
"विसर्पिण सदाह च तृष्णाज्वरसमन्वितम्।
विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभः ॥ भोज. ॥
(ग) पित्ताधिकस्तत्र तीव्रदाहो रक्तपाको विसर्पज्वरकरो जालगर्दभ.।" (जतुकर्णः)

३. (सु. चि अ. २०-८)

तथा पीडा उत्पन्न करने वाले होते है। ये विस्फोट मासदारक होते हैं तथा इसमे आक्रान्त रोगी उचित प्रतिकार के अभाव मे सात, दस या पन्द्रह दिनो मे मर जाता है। इसे आयुर्वेद मे असाध्य कहा गया है।[१] यह भी त्रिदोषज व्याधि है।

कुछ वैद्य इस व्याधि को ही 'प्लेग' कहते है। पर यह विचार समुचित नहीं। क्योंकि प्लेग मे कक्षा ग्रन्थियो का शोथ रोग के विष प्रभाव से होता है, विस्फोट नही होता। प्लेग मे लसिका ग्रन्थिया ही शोथयुक्त होकर गिल्टी का रूप धारण कर लेती है। यह प्राय विदीर्ण नही होती और पक कर फटने पर वह प्राय साध्य हो जाती है। इसमे मृत्यु प्राय दूसरे या तीसरे दिन अर्थात् सप्ताह के अन्दर ही हो जाती है। प्लेग सक्रामक होता है पर अग्निरोहिणी के सक्रामक होने का कोई सकेत नही मिलता। प्लेग जानपदिक रूप से (मरक) उत्पन्न होता है। इत्यादि।

प्रतिकार:—असाध्य होने से इसकी चिकित्सा का वर्णन नहीं उपलब्ध होता। परन्तु चतुर वैद्य को अवस्थानुसार चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। ज्वरशान्ति के लिये ज्वरहर औषधो का तथा अग्निक विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

रुबेला
(Rubella)

यह भी एक उग्र सक्रामक पिडकामय ज्वर है, जिसमे लसिका ग्रन्थियो का भी शोथ प्राय हो जाया करता है। इसको जर्मन रोमान्तिका (German measles) भी कहते हैं। इसमे रोमान्तिका के समान अन्य शारीरिक विकार नही होता। यह मृदु प्रकार का रोमान्तिका है।

निदान:—बाल्यावस्था के अन्तिम भाग मे तथा किशोरावस्था मे यह अधिक होता है। रोमान्तिका तथा शोथ ज्वर के समान यह सक्रामक नही होता। यह मृदु सक्रामक है। एक बार हो जाने पर शरीर मे क्षमता हो जाती है। यह भी एक विषाणु (Virus) से उत्पन्न होने वाली व्याधि है। इसमे उपद्रव प्राय नही होते।

लक्षण:—यह भी जानपदिक रूप मे उत्पन्न होता है और इसके लक्षण भी जानपदिक उत्पत्ति के अनुसार भिन्न होते हैं। इसके सक्रमण का परिपाक काल

१ (क) सु नि अ. १३,
(ख) मा नि —मधुकोषे तन्त्रान्तरीय वचनम्।

१४ से १९ दिनों का है। ज्वर का संताप ९९° अंश से १०१° अंश तक (फारनहीट) होता है। इसमें ज्वर के अतिरिक्त शिरःशूल, शाखाओं में पीड़ा, अङ्गमर्द, आदि लक्षण होते हैं। कभी २ अभिष्यन्द मन्दरूप में तथा प्रतिश्याय भी हो जाता है। सामान्य रूप से लसिका ग्रन्थियों का शोथ हो जाया करता है। विशेषकर ग्रैवेयक लसिका ग्रन्थियां ही शोथयुक्त होती हैं। रोगी बहुधा ग्रीवास्तम्भ का कष्ट बतलाता है (Stiff neck)। कभी २ अन्य देशों की ग्रन्थियों का भी शोथ दृष्टिगोचर होता है। शरीर पर चकते या पिडकायें प्रायः २४ घन्टे के अन्दर निकल आती हैं। पिडकाओं का स्वरूप आण्डाकार गुलाबी रंग के लाञ्छन सा होता है। ये पिन के नोक प्रमाण से मटर प्रमाण तक के होती हैं। इसकी पिडकायें कर्ण के समीपस्थ प्रदेशों में, ललाट तथा मुखमण्डल के अन्य प्रदेशों में दृष्टिगोचर होती हैं। ये रोमान्तिका के प्रारम्भिक अवस्था की पिटकाओं से साम्य रखते हैं। ये पिडकायें २ से ४ दिनों में लुप्त हो जाती हैं।

इसमें रोमान्तिका का सदा भ्रम होता है। परन्तु प्रतिश्याय आदि का प्रायः न होना तथा पिडकाओं की आकृति से इसका निराकरण हो जाता है। शोण ज्वर (Scarlet fever) का भी भ्रम होना इसमें संभव है परन्तु उसके तीव्र ज्वर संताप आदि तथा कण्ठशोथ आदि लक्षणों से इसका स्पष्ट निराकरण हो जाता है।

प्रतिकार—इसका प्रतिकार लक्षणों के आधार पर किया जाता है। रोगी को अन्य नीरोग व्यक्तियों को कम से कम पांच या छः दिन पृथक् रखना आवश्यक होता है। शेष चिकित्सा रोमान्तिका के समान। पथ्य की सुव्यवस्था अर्थात् सुजर एवं पौष्टिक पथ्य देना चाहिये।

भ्रूण दंशज पृपज् ज्वर

(Scrub-Typhus)

इसको जापानी सरिता ज्वर (Japani river fever) भी कहते हैं। यह अधिकतर जावा, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया, भारत, वर्मा आदि के टापुओं में पाया जाता है।

लक्षण—माइट या भ्रूण नामक कीटाणु के दंश के बाद पांच से १५ दिनों के अन्दर उत्पन्न होने वाला यह पिटकामय ज्वर है। प्रारम्भ में कम्प, शिरःशूल तथा श्रम के साथ ज्वर उत्पन्न होता है जो दो से तीन सप्ताह तक ठहरता है। यह पहले अविसर्गी तथा बाद में विसर्गी का रूप धारण कर लेता है। दंशस्थान पर एक छोटा व्रण श्याम तथा कृष्ण विस्फोट के साथ दृष्टिगोचर

होता है। इसमे लसिका ग्रन्थिया भी शोथयुक्त हो जाती है। पाचवे तथा सातवे दिन शरीर के मासल प्रदेश पर रक्त वर्ण के दाने निकल आते हैं। ये दाने मुखमण्डल, मध्य शरीर, शाखाओ के हाथ तथा पैर पर भी दृष्टिगोचर होते है। इसमे प्राय' प्लीहाभिवृद्धि, दृष्टिगोचर होती है। विस्फोट के छले जव उतर जाते हैं तो लगभग व्रणरोपण मे सप्ताहो का विलम्ब हो जाता है।

निदान :—इसका कारण एक प्रकार का विषाणु है (R. orcantalıs) जो घूण दश मे शरीर मे प्रविष्ट होता है। घूण दश म इसका अण्डा (Larva) त्वचा मे प्रविष्ट हो स्थानीय व्रण अथवा तन्तुनाश उत्पन्न करते है। पश्चात् इसके विष प्रभाव से लसिका ग्रन्थियो मे शोथ उत्पन्न हो जाता है।

प्रतिकार :—मइाट के दश से वचने का उपाय करना चाहिये। प्रतिषेधार्थ इसके टीके (Vaccıne) का भी प्रयोग होता है। चिकित्सा लाक्षणिक करना चाहिये।

रिकेट्सीयल पौक्स

(Rıckettsıal Pox)

अमेरिका (New York) मे इस बीमारी का पता हाल मे ही लगा है। रक्तचूषक 'मूषिक घूण' (Mouse mıte) के दश से यह विकार शरीर मे सक्रमित होना है।

लक्षण :—प्रारम्भ मे इसमे गम्भीर एक ही दाना (deep seated pıpule) निकलता है, जो विस्फोट का रूप धारण कर लेता है। एक-दो सप्ताह के अन्दर इसमे छल्ले पड़ जाते है। छल्लो के उतरने पर वहाँ दाग पड जाता है। उसके सक्रमण के एक सप्ताह वाद अकस्मात् १०३ से १०४ अंश फा० तक ज्वर हो जाता है जो शनै.-शनै सप्ताहान्त मे उतरता है। पुर कपालीय शिर शूल, प्रकाशासहिष्णुता, पृष्ठरुक् तथा छर्दि के लक्षण उत्पन्न होते है, प्लीहा वृद्धि भी हो जाती है। ज्वरोत्पत्ति के चार दिनो के अन्दर ही शरीर पर दाने निकल आते है जो वाद मे विस्फोट का रूप धारण कर लेते है। शुष्क होने पर विस्फोटस्थल पर काले रग की पपडी पड जाती है।

प्रतिकार :—अन्य पिडकामय ज्वरो के ही समान। विशेपकर पृषज्ज्वर की चिकित्सा ही इसमे की जाती है। ज्वर के लिये ज्वरहर औषधो का प्रयोग तथा स्फोटो के लिये पृषज्ज्वराधिकारोक्त लेप आदि का प्रयोग करना चाहिये। रोगी को पर्याप्त मात्रा मे जल पिलाना चाहिये। पथ्य सुजर तथा पौष्टिक द्रवरूप मे ही देना श्रेयस्कर है। स्वच्छता पर विशेष ध्यान देवे।

कालस्फोट (एन्थ्रैक्स)

(Anthrax)

कालस्फोट :—यह (एन्थ्रैक्स) कीटाणु से उत्पन्न होने वाला एक पिडकामय ज्वर है। यह रोग मूलतः पशुओ का है। भारतवर्ष में अत्यल्प पाया जाता है। इसमे दाने प्राय अनावृत शरीर प्रदेशो पर ही अधिक होते हैं जैसे— हाथ मे पृष्ट भाग पर, मुखमण्डल पर तथा बाहु पर। ८० प्रतिशत रोगियो मे मुखमण्डल तथा गर्दन पर इसकी पिडकाये देखी गई हैं। यह अधिकतर ऐसे लोगो मे जो ऊन, केश तथा चमडो का व्यापार करते हैं उनमे देखा गया है।

लक्षण :—इसके संक्रमण का परिपाककाल २४ से ७२ घन्टो का है। सर्वप्रथम संस्पृष्ट स्थान पर दाने निकलते हैं जो शीघ्र ही विस्फोट का रूप धारण कर लेते है। विस्फोट मे तरल (रस या रक्त) शीघ्र ही भर जाता है। स्थानीय शोथ भी हो जाता है। तीसरे दिन ये विस्फोट फूट जाते है जिससे रक्तस्राव निकलना है और विस्फोट स्थान रूक्ष तथा रक्त व्रणित एव शोययुक्तहो जाता है। इस शोय स्थल पर चौथे दिन मुद्रिका सदृश लाल फफोले निकल आते है। यह शोथ आस-पास मे फैलता है तथा लसिका ग्रन्थिया भी शोथयुक्त हो जाती हैं। पीडा मन्द होती है और दशवे दिन के पूर्व प्राय पूय सचार नही होता। प्रारम्भ मे ज्वर का सताप मन्द ही होता है। कभी-कभी इतना मन्द ज्वर होता है कि पता भी नही लगता है। परन्तु कभी-कभी ज्वर शीघ्र आता है और आन्त्रिक ज्वर का भी रूप धारण कर लेता है। रक्त परीक्षण से अस्त्यात्मक परिणाम भी प्राप्त होता है। इसमे आन्त्र तथा फुफ्फुस के आक्रान्त होने के भी लक्षण प्राप्त होते है। आन्त्रो के विकृत होने पर छर्दि तथा अतिसार के भी लक्षण प्राप्त होते है। रोगी अत्यधिक दौर्बल्य अनुभव करता है। अवसाद तथा खल्ली का भी कष्ट होता है। किसी-किसी को श्वासकष्ट, मुखमण्डल का नीलाभ हो जाना तथा आक्षेप, ये लक्षण भी होते है। प्लीहा बढ जाती है। जिसमे फुफ्फुस आक्रान्त होता है उसे भयकर श्वासकष्ट होना है। यह श्वासमार्ग द्वारा सक्रमण के फुफ्फुस के अवयवो मे प्रवेश के कारण होना है। अकस्मात् वक्ष प्रदेश मे पीडा होने लगती है। ज्वर का सताप १०२° से १०३° फा० तक पहुँच जाता है। कभी-कभी २४ घण्टो मे ही इसमे मृत्यु हो जाती है। किसी-किसी रोगी मे अतिसार तथा प्रलाप एव आक्षेप के भी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

सापेक्ष्य निदान :—सर्वप्रथम कीट दश के इतिहास का इसमे पता लगाना चाहिये। तदनन्तर दश स्थान पर पिडकोत्पत्ति तथा उनका विस्फोट रूप धारण करना आदि इसके लक्षणो का प्राप्त होना आवश्यक है। पश्चात्

यदि मुखमण्डल पर हो तो विसर्प से, ग्रन्थि शोथ तथा अन्य शोथो से इसका पार्थक्य कर लेना आवश्यक है। रोगी की वृत्ति (Occupation) भी इसके निदान मे सहायक होता है। विस्फोटगत रस या स्राव ग्राम विधि से परीक्षण करने से भी इसका निराकरण हो सकता है। इस परीक्षण से इसके जीवाणु (Bacillus Anthracis) की प्राप्ति होती है।

इस विकार से यदि मुखमण्डल तथा ग्रीवा आक्रान्त हो तो ४० प्र० श० तथा अन्य स्थानो पर होने से १२ प्र० श० मृत्यु देखी गई है।

प्रतिकार :—रोगी को पूर्ण विश्राम, सुजर एव पौष्टिक पथ्य की व्यवस्था अपेक्षित है। आधुनिक चिकित्सक इसमे पेनिसिलीन (Penicillin 50,000 units) का तीन-तीन घण्टे के अन्तर से अवस्त्वक् (Subcutaneous) सूचीवस्ति देते हैं तथा सल्फा थायजोला का प्रयोग करते हैं। यदि शोथ का उपशम इस चिकित्सा से नही होता तो इसकी वनी टीका लगाते हैं। विस्फोट के लिये फार्मेलीन द्रव का प्रयोग करते हैं। आयुर्वेदानुसार गुग्गुलु का प्रयोग इसमे करना चाहिये।



पञ्चम अध्याय

अन्य ज्वर :—वेदो मे कुछ ऐसे ज्वरो के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनका नामतः वर्णन उपलब्ध आयुर्वेद साहित्य मे नही प्राप्त होता। जैसे **'अभ्रजाः'** (अथ० १।८२।३-४) सायण ने इसे मेघ मे उत्पन्न होनेवाला ज्वर कहा है। पुन. **'वार्षिकज्वर'** (अथ ५।२२।२३) का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सायण ने इसे वर्षा ऋतु मे उत्पन्न होने वाला ज्वर कहा है। ये दोनो (अभ्रज तथा वार्षिक ज्वर) एक ही हैं या पृथक् यह चिन्त्य है। वार्षिक ज्वर का वर्णन तृतीयकादि विषम ज्वरो के साथ किया गया है। मलेरिया तथा विषम ज्वर का विवेचन पहले किया जा चुका है। अतः उस दृष्टि से मलेरिया के वर्षाकाल मे अधिक होने से सभव है कि वार्षिक ज्वर से उसी प्रकार के ज्वर का सकेत हो परन्तु वर्षा ऋतु मे अन्य ज्वरो की भी उत्पत्ति समव है। अत इस विशिष्ट ज्वर के सम्बन्ध मे वर्णन के अभाव मे कुछ निश्चित रूप मे कहना कठिन है। वर्षा ऋतु मे मेघ के बाहुल्य होने से मेघ से उत्पन्न ज्वर (अभ्रज) का भी साम्य इस (वार्षिक) ज्वर से बतलाया जा सकता है। परन्तु इसके भी विस्तृत वर्णन के अभाववश कुछ निर्णय देना सभव नही। अत इन दोनो ज्वरो को निदान-परक अथवा ऋतुपरक सज्ञा मानना ही उपयुक्त है। 'शुष्मा' (अथ० १।२२।३-४) नाम ज्वर का भी वर्णन प्राप्त होता है जिसको सायण ने शरीर को सुखाने वाला ज्वर कहा है। आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थो मे 'शोष' का वर्णन प्राप्त होता है जिसमे ज्वर एक अनिवार्य लक्षण है। यदि इस सज्ञा से 'शोष' का ग्रहण किया जाय तो इसका सामञ्जस्य सभव है। इसी प्रकार 'अङ्ग ज्वर' तथा 'अङ्गभेद ज्वर' (अथ० ९।८।५) का भी उल्लेख अथर्ववेद मे है। सभव है ये सज्ञाये ज्वर से सतापान्वित अङ्गविशेष को लक्ष्य कर कही गई हो। उपलब्ध आयुर्वेद सहिताओ मे भी इस प्रकार की सज्ञाये प्राप्त होती हैं, जैसे 'अर्ध-नारीश्वर-ज्वर' जिसमे आधे अङ्गो मे ही ज्वर. व्याप्त या व्यक्त होता है। इसी प्रकार 'परुष ज्वर' (अथ० ५।२२।३) जिसमे त्वचा मे अत्यधिक रौक्ष्य उत्पन्न हो जाता है, जो वात प्रकोप का विशिष्ट लक्षण है, का वर्णन प्राप्त होता है। सभव है इस विशिष्ट लक्षण को ध्यान मे रखकर चिकित्सा सौकर्य के लिये यह पृथक् सज्ञा दी गई हो। 'रुरु ज्वर' (अथ० ५।२२।१०) जिसमे अत्यधिक दाह होने मे रोगी रोता रहता है का सकेत च० चि० ३ मे 'दाह ज्वर' के नाम से प्राप्त होता है। चन्दनादि तैल के गुणो का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है कि यह

तैल 'दाह ज्वर' को शान्त करता है। सायण ने 'रुरु ज्वर' की व्याख्या करते हुए कहा भी है कि दाहपूर्वक उत्पन्न होने वाला यह पित्त ज्वर है। 'शारद ज्वर' (अथ० ५।२०।२३) का वर्णन भेल ने भी किया है। जनपद विभक्तियाध्याय (भे० सू० १३) मे भेल ने कहा है कि—

"सूर्योपतापात् सहसा वर्षान्ते पित्तमीर्यते।
शरदि प्रायशस्तेन ज्वरो भवति देहिनाम् ॥"

अर्थात् वर्षा ऋतु के अन्त मे सूर्य के संताप से सहसा सञ्चित हुआ पित्त उद्रिक्त हो जाता है जिससे शरद् ऋतु मे देहधारियो को ज्वर उत्पन्न होता है। इसके वर्णन के पूर्व भेल ने 'जनमार' की व्याख्या की है। वहाँ कहा है कि ऋतु के व्यापन्न होने से 'जनमार' (Epedemic) उत्पन्न होता है।[1] अथर्ववेद मे 'विश्वशारद' ज्वर का भी वर्णन है। सायण ने उसकी व्याख्या मे कहा है कि यह शरद् ऋतु मे व्यापक रूप मे फैलने वाला ज्वर है। इससे यह सकेत प्राप्त होता है कि शरद् ऋतु मे दो प्रकार के ज्वर का प्रकोप उस काल मे ऋषियो ने देखा होगा। प्रथम शारद ज्वर जो किसी-किसी व्यक्ति को होता होगा। जनपद के सभी व्यक्तियो को एक साथ नही होनेवाला, द्वितीय जो 'जनमार' (Epedemic) के रूप मे व्यापक रूप से उत्पन्न होने वाला 'विश्वशारद ज्वर'। शरद् ऋतु मे अधिकतर पित्तज्वर तथा आन्त्रिक ज्वर होता है। इन दोनो ज्वरो का कोई विस्तृत वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध नही होता। अत. इनका अङ्ग का निर्देश कठिन है।

ग्रीष्म ऋतु मे उत्पन्न होने वाले ज्वरो की सज्ञा अथर्ववेद मे 'ग्रैष्म ज्वर' है। अथर्ववेद मे 'वन्य ज्वर' (अथ० ६।२०।३) का भी उल्लेख प्राप्त होता है। मलेरिया का नाम जङ्गल ज्वर (Jungle fever) भी है। अत वन्य ज्वर सभव है स्थानपरक नाम हो। इसका वर्णन किया जा चुका है। 'च्यवन ज्वर' (अथ० ७।११८।१६) तथा 'चादेन ज्वर' का भी उल्लेख मिलता है। सायण ने च्यवन ज्वर को स्वेद अधिक उत्पन्न करने वाला ज्वर कहा है। मलेरिया तथा विषम ज्वर मे भी स्वेदाधिक्य लक्षण होता है। पित्तज्वर मे भी स्वेदनिर्गम एक लक्षण है। सभव है इनकी ही लक्षणपरक यह अमर सज्ञा हो। 'चादेन ज्वर' को सायण ने इधर-उधर दौडाने वाला ज्वर कहा है। यह चिन्त्य है। इनके अतिरिक्त 'ऋणु ज्वर' तथा 'हायन' ज्वर का भी उल्लेख (अथ० ७।११६।१८) प्राप्त होता है। इनकी व्याख्या करते हुए सायण ने कहा है कि

१ (क) "ऋतु व्यापत्तिसमये 'जनमार' प्रवर्तते।" (भे. सू. १३)
(ख) सि. नि.।

ये क्रमशः धृष्टतापूर्वक चढने वाला ज्वर तथा धान आदि के कटनी के समय उत्पन्न होने वाले ज्वरो की संज्ञा है। 'घृष्णु ज्वर' लक्षणपरक संज्ञा तथा हायन ज्वर कालपरक संज्ञा प्रतीत होती है। आधुनिक पुस्तको मे भी हार्वेस्ट ज्वर का संकेत मिलता है। अन्य ज्वरो का (अरुण ज्वर, बभ्रु ज्वर, अव्रत ज्वर, सदन्दि ज्वर आदि) संकेत यथास्थल किया जा चुका है। उन्हे यथास्थल देखे।

शीत ज्वर :—काश्यप संहिता मे इसका वर्णन प्राप्त होता है। अन्यत्र भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इस ज्वर की विशेषता यह है कि इसमे शीतपूर्वक ज्वर उत्पन्न होता है। यह भी विषम ज्वर के शीतपूर्वक भेद की लक्षणपरक अवान्तर संज्ञा है। इस ज्वर की विशेष चिकित्सा का भी वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे—शीतभंजी रस, शीतारि रस, आदि।

शीताभिप्राय ज्वर :—चरक ने ज्वर के दो मूल भेद लक्षणो के अनुसार किया है।[1] मधवकर ने भी इसका उल्लेख किया है। चरक ने कहा है उष्ण कारणो से उत्पन्न ज्वर मे आक्रान्त पुरुष शीताभिप्रायी अर्थात् शीतल आहार-विहार का इच्छुक होता है। यह भी विषम ज्वर का ही एक आवान्तर रूप है। पित्त ज्वर मे भी शीताहार-विहार की इच्छा होती है।

उष्णाभिप्राय ज्वर :—लक्षणो के अनुसार दो मूल भेदो मे दूसरा उष्णाभिप्राय ज्वर है जिसको शीत कारणो से उत्पन्न कहा गया है। इसमे उष्ण आहार-विहार की इच्छा रोगी को होती है। वात-कफ की प्रधानता वाले ज्वरो मे यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है।

इन दोनो प्रकार के ज्वरो की चिकित्सा हेतु प्रत्यनीक होनी चाहिये।

स्नेह विभ्रमज ज्वर :—स्वास्थ्य संरक्षणार्थ तथा रसायन सेवनार्थ एवं रोगोन्मूलनार्थ शोधन चिकित्सा की आवश्यकता होती है। शोधन चिकित्सा मे प्रधान कर्म पाच हैं जिनका वर्णन प्रथम भाग मे विशद रूपेण किया जा चुका है। इन कर्मों को सुचारु एवं सफल सम्पादनार्थ पूर्व कर्मो की भी आवश्यकता होती है। इन पूर्व कर्मो मे स्नेहन भी एक कर्म है जिनका वर्णन भी प्रथम भाग मे किया जा चुका है। जब कभी इस स्नेह कर्म मे विभ्रम (गलती) होता है तब उसके परिणाम स्वरूप ज्वर भी होता है।[2] चिकित्सक को इस विशिष्ट कारण से उत्पन्न ज्वर का ज्ञान चिकित्सा सौकर्य के लिये परम आवश्यक है। इनकी चिकित्सा भी हेतु प्रत्यनीक करनी चाहिये।

---

१. "द्वौ ज्वराविति उष्णाभिप्रायः शीतसमुत्थश्च शीताभिप्रायश्चोष्णसमुत्थः।" (च सू १९-७)

२ च सू अ १३

सन्तर्पणज ज्वर :—सन्तर्पण से अग्निमान्द्य होता है जिससे आम दोषों की उत्पत्ति होती है। यह आम दोष रसवह स्रोतो मे सञ्चरण करता हुआ जब स्वेदवह स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करता है तथा कोष्ठाग्नि को मन्द कर देता है और आमाशयाश्रित दोष जब कोष्ठाग्नि की उष्मा को अपने स्थानो से बाहर निकाल कर उसे रसानुग कर देता है तो ज्वर की उत्पत्ति होती है। ऐसे ज्वरो की चिकित्सा अपतर्पण प्रधान (लघन प्रधान) होती है। लघन मे उपवास, स्वेदन तथा रूक्षण का ग्रहण होता है।[1]

अपतर्पणज ज्वर :—चरक ने अपतर्पण मे भी ज्वरोत्पत्ति का सकेत किया है और ऐसे ज्वर मे सन्तर्पण चिकित्सा का आदेश दिया है। शारीर धातुओ को भोजन से आहार (धात्वाहार या उपादान) प्राप्त होता है। भोजन का अभाव तथा भोजन मे उपयुक्त धात्वाहार का अभाव (आहार सम्पदा-भाव) शरीर की उष्मा को क्षुब्ध कर देता है जिससे शरीर मे अनावश्यक सतापोत्पत्ति होती है। यही सताप अपतर्पणज ज्वर है। यदि इसमे सम्पन्न आहार रूपी इन्धन की समुचित रूप मे पूर्ति न हो तो शरीरोष्मा शारीर धातुओ को पचाने (दग्ध करने) लगती है। अतः ऐसे ज्वर मे सतर्पण चिकित्सा का विधान आचार्य ने किया है।[2]

रोगोत्थानज ज्वर :—सुश्रुत ने ज्वर के कारणो का वर्णन करते समय कहा है कि रोगो (विद्रधि आदि) के उत्पन्न होने के काल मे भी ज्वर उत्पन्न होता है।[3] जैसे—व्रण शोथावस्था, विद्रध्यावस्था, इत्यादि। ऐसे ज्वरो मे रोगो (भावी रोगो) का ज्ञान प्राप्त कर उस रोग के पूर्वरूपावस्था मे विहित क्रिया-क्रम का अनुसरण करना चाहिये। उदाहरणार्थ व्रण शोथ या विद्रधि मे ऐसा उपचार करे जिससे शोथ का शमन हो जाय तथा यदि पच्यमानावस्था प्राप्त हो गई हो तो उन्हे उपनाह आदि द्वारा पकाने का प्रयास करे इत्यादि।

सात्म्य विपर्यज ज्वर :—देश, काल, वय, प्रकृति, प्रभृति के अनुसार शास्त्रो मे सात्म्य (पथ्य-उचित आहार विहार) का वर्णन प्राप्त होता है। इन आहार विहारो के लिये भी नियम बने हुए है। जब मनुष्य इन आहार विहार के नियमो का उलङ्घन करता है तो परिणाम स्वरूप ज्वर की उत्पत्ति होती है। ज्वर की सम्प्राप्ति मे भी इसका सकेत किया गया है। अतः चिकित्सक को इस सात्म्य विपर्यय का ज्ञान चिकित्सा सौकर्य के लिये परमावश्यक है। निदान के ज्ञान

---

१ च सू अ २३,

२ च सू अ २३,

३ सु उ अ ३९-१९,

होने पर निदान परिवर्जन जो चिकित्सा का एक मुख्य अङ्ग है सुविधाजनक हो जाता है।[1]

ऋतु विपर्यंज ज्वर :—ऋतुओ के विपन्न होने से भी ज्वर की उत्पत्ति होती है। इसका वर्णन प्रथम अध्याय मे किया जा चुका है। आयुर्वेद शास्त्र मे प्रत्येक ऋतु के लिये चर्या (ऋतुचर्या) का विशद वर्णन है। उनका अनुसरण (ऋतुचर्या मे विहित विधान का पालन) स्वास्थ्य को उत्तम बनाए रखता है। उनके विपरीत आचरण से ज्वर आदि रोगो की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा ऋतुचर्या विधान के अनुसार होनी चाहिये।[2]

प्रसूति ज्वर

सुश्रुत न अनेक कारणो से उत्पन्न होने वाले ज्वरो का उल्लेख करते हुए प्रसूति ज्वर, अपप्रजाता ज्वर तथा स्तन्यागमोत्थ ज्वर का भी सकेत किया है।[3] काश्यप सहिता मे इनका कुछ विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। काश्यप ने कहा है कि 'जिस प्रकार अत्यन्त जीर्ण वस्त्र को चारो ओर से मैला हो जाने पर उस (वस्त्र) को धोने के समय धोने वाले को उसके आश्रय को दृष्टि मे रखते हुए बडी कठिनाई का अनुभव करना पडता है उसी प्रकार प्रसूता स्त्री के शरीर का शोधन थके हुए तथा परिस्नुत (प्रसवकाल मे शरीर से अनेक स्रावो के स्नुत) होने से तथा वातादि दोषो से पूर्ण दिग्ध होने के कारण अत्यन्त कठिनता से किया जा सकता है। अथवा जिस प्रकार पुराने मकान सम्पूर्ण बन्धनो के ढीले हो जाने से वायु तथा भूकम्प आदि को सहन नही कर सकते अर्थात् उनके थपेडो से ढह जाते है उसी प्रकार प्रसूता स्त्री का शरीर भी प्रसव के श्रम से खिन्न होने के कारण वात, पित्त तथा कफ मे उत्पन्न होने वाले रोगो को सहन नही कर सकता। अर्थात् उसके शरीर की क्षमता क्षीण होने से वह रोगो से आक्रान्त हो जाता है। वातादि दोषो के द्वारा ही प्राणधारियो के शरीर धारण किए जाते है। प्रसूता स्त्री के शरीर मे इन दोषो के क्षीण होने पर सताप लक्षण वाला ज्वर उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि शुष्क ईंधन को शीघ्र ही जलाने मे समर्थ होती है उसी प्रकार यह ज्वर भी सारे शरीर मे सताप उत्पन्न कर शरीर धातुओ को जलाने लगता है।[4]

---

१ सु उ अ ३९-१९,

२ " "

३ सु उ अ ३९-२२,

४ "परिजीर्णं यथा वस्त्र मलदिग्ध समन्तत.।
क्लेशेन शोध्यते तज्ज्ञै. प्रदृश्य तत्तदाश्रयम्॥

माधव ने 'सूतिका रोग' नाम से एक पृथक् अध्याय इसके वर्णन के लिये दिया है। इस अध्याय मे इन्होने सूतिका रोग का प्रत्यात्म लिङ्ग-ज्वर, अङ्गमर्द, कम्प, पिपासा, गुरुगात्रता, शोथ, शूल तथा अतिसार बतलाया है।[1] इन लक्षण समुच्चय को उन्होने सूतिका रोग कहा है। प्रसवोत्तर स्त्री जननेन्द्रियों को अपने प्रकृत (Normal) अवस्था मे आने मे जितना काल (समय) लगता है इसको सूतिका काल (Puerperal period) कहते हैं तथा इस अवस्था मे स्थित प्रसूता को सूतिका कहा गया है। यह काल प्राय: १½ से २ मास अथवा पुन: रजोदर्शन काल पर्यन्त माना जाता है।[2] इस अवस्था मे होने वाले रोग को सूतिका रोग (Puerperal disease) कहते हैं। गर्भ की अवस्था मे जो स्थिति अन्तर्वत्नी की रहती है प्रसवोत्तर उसमे आकस्मिक परिवर्तन होने से अर्थात् प्रसवकालीन स्थानिक क्षोभ, रक्तस्राव, पीडा प्रभृति के होने के फलस्वरूप प्रसूता मे अङ्गमर्द आदि उपर्युक्त लक्षण, पाण्डुता (रक्तह्रासजन्य) प्रभृति का होना स्वाभाविक है। इन कष्टो का प्रतिकार भी इस अवस्था के अनुरूप ही करना पडता है। अतः सूतिका रोग का पृथक् विवेचन सर्वथा युक्त है।

प्रसूता मे रक्त के अत्यधिक स्राव होने से शरीरबल और अग्निबल दोनो का प्रभूत क्षय हो जाता है। साथ वायु का प्रकोप भी प्रबल रूप मे होता है[3]। ऐसी अवस्था मे थोडा भी अपचार (मिथ्योपचार) कष्ट साध्य व्याधि को उत्पन्न कर देता है। यो तो ऐसी अवस्था का साधारण रोग भी कष्टप्रद तथा कृच्छ्रसाध्य होता है। सुश्रुत ने कहा भी है कि मिथ्यापचार से सूतिका के जो भी रोग होते

तथा शरीर सूतायाः परिक्लिष्ट परिस्रुतम्।
भृश दोषबलैर्दिग्धं क्लेशेन परिशोष्यते॥
यथा च जीर्ण भवन सर्वतः श्लथबन्धनम्।
वर्षावातविकम्पानामसहं स्यात्तथाविधम्॥
तथा शरीर सूताया. खिन्न प्रस्रवणश्रमैः।
वातपित्तकफोत्थाना व्याधीनामसह भवेत्॥
दोषैरेव शरीराणि धार्यन्ते सर्वदेहिनाम्।
तेषु क्षीणेषु सूताया ज्वरः सन्तापलक्षणः॥
देह सन्तापयत्याशु शुष्केन्धनमिवानल·।" (का स खि ११)

१ "अङ्गमर्दो ज्वरः कम्प· पिपासा गुरुगात्रता।
शोथ शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम्॥" (मा नि.)

२ "अनेन विधिनाऽध्यर्धमाससमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा
विगतसूतिकाऽभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके।" (सु शा. १०)

३. सु. सू. अ १४;

है वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य हो जाते है।[1] यद्यपि यह एक ज्वर का कारणानुसार भेद माना गया है तथापि यह अपने आपमे अर्थात् स्वय एक रोग है जिसमे उपर्युक्त लक्षण होते हैं।

निदान :—माधव ने सूतिका रोग के कारणो का वर्णन करते हुए कहा है कि मिथ्योपचार अर्थात् प्रसवविधानोक्त नियमो के न पालन करने से तथा उनके अनुचित प्रयोग से, मानसिक या शारीरिक क्लेश से, विषम भोजन तथा अजीर्ण से, सूतिका (प्रसूता स्त्री) के जो रोग उत्पन्न होते हैं वे सब दारुण (भयानक या कष्टसाध्य) होते हैं।[2] पुन. इन्होने कहा है कि इन उपर्युक्त कारणो से ज्वर अतिसार, शोथ, शूल, आनाह, बलहानि तथा कफ और वात से उत्पन्न होने वाले तन्द्रा, अरुचि और लालाप्रसेक आदि रोग प्रसवोत्तर काल मे उत्पन्न होते हैं। ये रोग बल तथा मास के क्षीण होने से तथा अग्नि बल की हीनता के कारण कृच्छ्रसाध्य होते हैं।[3]

वृद्ध जीवकीय तन्त्र (काश्यप सहिता) मे सूतिका ज्वर के वातिक, पैत्तिक, कफज, त्रिदोषज, स्तन्यागमोत्थ एवं ग्रहबाधा जनित, इस प्रकार छः भेदो का वर्णन प्राप्त होता है।[4]

इन उपर्युक्त छहो प्रकार के ज्वरो के निदान भी कहे हैं जैसे—

"षड्विधस्तु प्रसूताना नारीणा जायते ज्वर.।
निजागन्तुविभागेन निदानं तस्य मे शृणु॥
वेगसन्धारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामादत्यसृक्क्षयात्।
शोकादत्यग्निसन्तापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात्॥
दिवास्वप्नात् पुरोवाताद् गुर्वभिष्यन्दिभोजनात्।
स्तन्यागमाद् ग्रहाबाधाद् जीर्णाद् दुष्प्रजायनात्॥
ज्वरः सजायते नार्या. षड्विधो हेतुभेद।
स एव पूर्वरूपेषु व्यभिचीर्णो विरोधिभिः॥

---

१. सु. शा. १०;
२. "मिथ्योपचारात् सक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते॥"
३ "ज्वरातिसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षया.।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातमयोद्भवा॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमासबलाश्रित॥
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवा.॥" (मा. नि.)
४. का. स खि. ११,
(का. स खि. अ ११)

[illegible]

अर्थात्—निज तथा आगन्तु भेद से प्रसूता स्त्रियों में छः प्रकार का ज्वर हुआ करता है जिनका नाम पहले कह चुके हैं। इन छहों प्रकार के ज्वरों का निदान—उपस्थित वेगों का रोकना, रूक्ष आहार-विहार, उपवास, [illegible] विषम, शोक, अधिक सन्ताप, कटु, अम्ल तथा उष्ण पदार्थों का अधिक सेवन, दिन में सोना, पुरोवात (पूर्वी हवा) गुरु तथा अभिष्यन्दि भोजन, स्तनों में दूध का आगमन, ग्रहबाधा, अजीर्ण, अनुचित रूप से प्रसव है। इन सबों के पूर्व रूप परस्पर इतने मिले हुए रहते हैं कि इनका पृथक् करना कठिन है। इनमें से सन्निपात ज्वर अत्यन्त भयङ्कर होता है। इसकी चिकित्सा भी परम कठिन है। इन छहों प्रकार के ज्वरों के पृथक्-पृथक् लक्षण भी शास्त्र में वर्णित हैं।

(१) **वातज सूतिका ज्वर के लक्षण** :—इसमें ज्वर का वेग विषम रूप से होता है (अर्थात् ज्वर का ताप कभी अधिक तो कभी कम अथवा किसी अङ्ग में अधिक तो किसी अङ्ग में कम होता है।) अङ्गमर्द (अङ्गों का टूटना) जृम्भा, रोमहर्ष, कषायास्यता, वैरस्य, शीतता, उष्णेच्छा, दन्तहर्ष, प्रलाप, शुष्कोद्गार, अनिद्रा, आध्मान, अङ्गशोष, ये सब लक्षण होते हैं।[1]

(२) **पित्तज सूतिका ज्वर** :—इसमें तृष्णा (प्यास अधिक लगना), दाह, प्रलाप, वमथु (वमनेच्छा), कटुकास्यता, मुखशोष, स्वेद, नेत्र, नख, तथा दातों का पीला होना, मल मूत्र का वर्ण भी पीला हो जाना, गन्ध का लगना, ऐसा अनुभव होना कि सम्पूर्ण शरीर जल रहा है, भ्रम तथा शीत वस्तुओं की इच्छा, ये लक्षण होते हैं।[2]

(३) **कफज सूतिका ज्वर** :—इसमें उष्ण वस्तुओं की इच्छा, कास, शिरोरुक्, गात्रगौरव, मन्दाग्नि, प्रतिश्याय, शुक्लवर्ण का मल-मूत्र होना, निद्रा, तन्द्रा तथा शीतद्वेष, ये लक्षण होते हैं।[3]

(४) **सन्निपातज सूतिका ज्वर** :—बार-बार शीत का तथा उष्ण अनुभव होना, तापांश का कभी सम होना तथा कभी विषम होना, मल, मूत्र तथा अधोवात् का कष्ट से निकलना, वायु के कारण अङ्गों तथा आंतों में कष्ट का

१-३ का. स. खि, अ० ११।

अनुभव होना, दाह, तृष्णा, प्रलाप तथा पित्त के कारण विक्षिप्त चित्तता, कफ के कारण गुरुत्व, कण्ठरोध और बार-बार शीत का अनुभव होना ये लक्षण होते हैं।[1]

(५) स्तन्यागमोत्थ ज्वर :—प्रसूता स्त्री के तीसरे या चौथे दिन स्तनो मे दूध आता है। प्रथम तीन दिन स्तनो से शुद्ध दूध नही निकलता। अपितु खीस (Collustrum) नामक गाढा द्रव निकलता है जो गुरु होने के कारण रेचक होता है। इनसे दुग्धवाही स्रोतो के मार्ग अवरुद्ध रहते है। परिणामस्वरूप स्तनो मे स्तम्भ (अकड़ाहट), पिपासा, हृदय द्रव (Palpitation of the heart), कुक्षिशूल, पार्श्वशूल, अङ्गमर्द तथा शिरोवेदना के साथ ज्वर का आगमन होता है। पुन दूध के शुद्ध हो जाने पर ज्वर स्वयं शान्त हो जाता है।[2] इसको आधुनिक चिकित्सक भी मिल्क फीवर (Milk fever or fever of lactation) कहते हैं।

(६) ग्रहबाधोत्थ सूतिका ज्वर :—यह ज्वर प्रसूता स्त्रियो मे ग्रहो के देखने से, भय से, वायु के कारण, आघात से, तथा कम्पन (अवधूनन) के कारण होता है। इसमे शरीर मे कम्प, अङ्गो मे पीडा, नेत्रविभ्रम, थकावट तथा हस्तकम्प, नेत्रकम्प और मुख तथा नेत्र हरिद्रा वर्ण के हो जाते हैं। क्षण भर मे गात्र श्याव वर्ण का हो जाता है तथा क्षण भर मे ही पुन: प्रकृत वर्ण का हो जाता है। रुग्णा को होश रहता है परन्तु वह चिल्लाती है तथा केशो को नोचती है। इनके अतिरिक्त अन्य भी वातजन्यज्वर के लक्षण होते हैं।[3]

ये उपर्युक्त ज्वर प्रसव के समय अथवा प्रसवोत्तर काल मे किसी भी प्रकार से असावधानीवश बाह्य उपसर्ग (Infection) के होने पर होते है। गर्भकाल मे सामान्यत सगर्भा स्त्री की योनि से श्वेताभ स्राव होता रहता है। इस स्राव मे एपीथीलियल सेल तथा योनिगत डोडर्लीन के दण्डाणु मिले रहते हैं। ये दण्डाणु एक प्रकार के अम्ल की उत्पत्ति करते है जिससे किसी भी पूयजनक जीवाणु का कुछ भी प्रभाव वहाँ नही पडने पाता। इस क्रिया से योनिपथ तथा गर्भाशय का आन्तरिक भाग सदा निर्जीवाणुक (Sterile) बना रहता है। परन्तु अशुद्ध हाथ का स्पर्श होने से उसकी विशुद्धता नष्ट हो जाती है। प्रसव के पश्चात् गर्भाशय और योनि क्षारीय स्राव से पूर्णतया लिप्त रहते हैं। जीवाणुओ मे माला गोलाणु (Streptococcii), पुञ्जगोलाणु (Staphylococcii) तथा बीकोलाई का उपसर्ग सभव रहता है।

---

१ का. स खि. ११।

२. का स खि. ११–६३ से ६५।

३. „ ११–५६ से ७१।

प्रसव के समय या प्रसवोत्तर अशुद्ध हाथ, यन्त्र अथवा वस्त्र के सम्पर्क से उक्त उपसर्ग की सदा सम्भावना रहती है। इनके उपसर्ग होने पर अन्य भयङ्कर लक्षणो के साथ ज्वरोत्पत्ति होती है। अजीर्ण भी इनका सहायक कारण है। उपसर्ग होने से गर्भाशय कला मे शोथ (Endometritis) उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ अन्य सार्वदेहिक लक्षण भी होते है। सार्वदेहिक लक्षणो मे तापक्रम की वृद्धि—लगभग १०१ या अधिक अशतक होती है। सूतिकोक्त अन्य लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रतिकार :—'निमित्तस्यापायान्नैमित्तिकस्यप्यपाय:' इस सिद्धान्त के अनुसार सर्व प्रथम सूतिका ज्वर के कारणो (निदानो) का पता लगा कर निदान परिवर्जन की व्यवस्था करनी चाहिये क्योकि "सक्षेपत क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्" चिकित्सा का प्रथम सूत्र है। निदान परिवर्जन के अनन्तर स्थानीय क्षति या विकृति (गर्भाशय या योनिपथ सम्बन्धी) का पता लगा कर उसके निराकरण की व्यवस्था आवश्यक है। इस विकृति के मूल कारण उपसर्ग (Infections) का भी प्रायोगिक परीक्षणो द्वारा (रक्त परीक्षण आदि द्वारा) पता लगा लेना चाहिये और उसे उन्मूलन करने का (उपसर्ग विरोधी चिकित्सा द्वारा) प्रयास करना चाहिये। रुग्णा के नानाविध पीडाओ के उपशमनार्थ लाक्षणिक चिकित्सा का सहारा लेना चाहिये। रुग्णा को पूर्ण विश्राम देने का तथा सुजर एव पौष्टिक पथ्य का विधान परमावश्यक है। पथ्य की व्यवस्था रुग्णा के अग्निबल तथा रोग की अवस्थानुसार ही होनी श्रेयस्कर है।

काश्यप ने कहा है कि प्रसूता स्त्री के ज्वर की चिकित्सा मे यह सदा ध्यान रखे कि साधारण कारणो से भी बढे हुए दोषो को शान्त करना तथा धातुओ का प्रसादन करना परमावश्यक है।[1] साथ ही इस तथ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि प्रसूता स्त्री के दोष तथा शारीरिक धातुएँ अपनी प्रकृत अवस्था मे आने मे ६ मास की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् ६ मास मे अपनी पूर्व अवस्था मे आते है।[2]

काश्यप आगे चल कर कहते है कि यदि सूतिका ज्वर से आक्रान्त स्त्री का शरीर कफ एवं अभिष्यन्द से युक्त हो, स्थूल हो, क्लेदरहित तथा स्राव अल्प हुआ हो, भुक्तान्न विदग्ध होता हो (मन्दाग्निवश) तब उसे स्नेहन कराकर लघन करावें।[3] यदि सूतिका ज्वर से आक्रान्त रुग्णा का शरीर रूक्ष हो, रक्त पर्याप्त निकल चुका हो, कृश हो, वात ज्वर के लक्षणो से युक्त हो, भूख तथा प्यास से व्याकुल हो, शरीर क्लान्त हो, तो ऐसी रुग्णा को शमन औषध मे उपचार

---

१ का स खि. अ ११-५-२।

२ का. स. खि. अ. ११ ५२-५३।

३. का. स. खि अ. ११-७०;

करें। इस प्रकार की रुग्णा को उसी दिन पेया प्रभृति के क्रम से भोजन की व्यवस्था करावे।[1]

लघित (लंघन करायी हुई) रुग्णा के लिये भी मण्डादि की व्यवस्था करे। इस प्रकार सूतिका ज्वर से आक्रान्त रुग्णा की दो प्रकार की व्यवस्था करे अर्थात् कफज मे लघन (उपवास) क्रम से और वातज मे लघु भोजन के क्रम से।[2] पेया के देने से रुग्णा की अग्नि प्रदीप्त होती है तथा धातुओ के दोप का शमन होता है। मण्ड गर्भ के अवशिष्ट दोषो को नष्ट करता है तथा दोषो का पाचन करता है। अतः चिकित्सा क्रम के प्रारम्भ मे पेया और मण्ड का प्रयोग प्रशस्त माना गया है। दो तीन दिन तक अकृत तथा कृतयूष तथा मास रस का भी प्रयोग करना चाहिये।[3] पुन. कहा है कि स्वेद, युक्तिपूर्वक अपतर्पण, पाचन औपधियो का सेवन, कषायपान, आभ्यङ्ग एवं घृत—ये श्रेष्ठ ज्वरनाशक उपाय हैं।[4]

प्रसूता स्त्री के गर्भाशय के अपने स्थान से च्युत हो जाने के कारण शरीर स्थित दोप भी उपर्युक्त स्थानच्युत गर्भाशय का अनुगमन करते है अर्थात् नीचे की ओर आ जाते हैं। अतः ऐसी अवस्था मे शोधन कर्म—वमन, नस्य, बस्ति तथा विरेचन आदि करना श्रेयस्कर नही। शमन चिकित्सा ही प्रशस्त है। परन्तु यदि आवश्यक हो तो युक्तिपूर्वक दोप के बलाबल की परीक्षा कर शोधन की भी व्यवस्था की जा सकती है।[5]

यदि प्रसूता ज्वरयुक्त स्त्री के शरीर मे दोष बहुल (अत्यधिक मात्रा मे) हो और वे स्थान च्युत हो कोष्ठ मे आ गए हो तो भी उसे तीक्ष्ण औषधो से युक्त वमन तथा विरेचन नही देना चाहये। कारण ज्वर की ऊष्मा के कारण सतप्त हुए शरीर मे धातुओ का परिपाक हो जाता है। अत तीक्ष्ण औषधियो के प्रयोग मे उन धातुओ का अधिक पाक हो जाता है अर्थात् उनके दग्ध हो जाने की सम्भावना रहती है।[6]

सूतिका ज्वर में वमन का प्रयोग—कफज ज्वर मे जब रुग्णा को

---

१ का सं खि अ ११-७१, ७२;
२ का स. खि अ ११-७३;
३ का. स खि. अ. ११-७४,
४. का स खि ११-७५;
५. का. स खि ११-७७, ७८;
६. का. स खि ११-७९-८०;

ऐसा प्रतीत हो कि उस का हृदय या उरःप्रदेश कफ से जकड गया है और उसे उत्क्लेश हो रहा है तब वमन सह्य रुग्णा को मृदु वमन देना चाहिये।[1]

सूतिका ज्वर में नस्य—यदि रुग्णा अरुचि और कण्ठावरोध से पीडित हो, कफ शिर.प्रदेश मे स्थित होने से कवल का प्रयोग सफल नही हो सकता हो, तब ऐसी अवस्था मे नस्य का प्रयोग करना चाहिये।[2]

सूतिका, ज्वर मे कषाय प्रयोग—ससर्ग के कारण दोषो के पच जाने पर तथा ज्वर के मृदु हो जाने पर पाच या सात दिन वाद कषाय का प्रयोग करना चाहिये। इनमे भी पाचन कषाय पाच दिन वाद तथा अनुलोमन कषाय सात दिन वाद देना श्रेयस्कर है।[3]

कफज तथा पित्तज सूतिका ज्वर मे पाचवे दिन सशमन औषध का प्रयोग करना चाहिये। कारण, इस रोग मे पित्त की स्वाभाविक तीक्ष्णता के कारण, धातुओ के दुर्वल होने से तथा आमय के वहुत कुछ निकल जाने से दोष का पाचन शीघ्र ही हो जाता है।[4]

वात ज्वर मे प्रथम आभ्यङ्ग तथा मास रस के प्रयोग ज्वर के शान्त हो जाने पर तथा पक्वाशय स्थित दोष के निर्मल हो जाने पर अनुलोमन औषधो का प्रयोग करे। पश्चात् लघु एव पतले जाङ्गल मास रस के साथ लघु अन्न की पथ्य व्यवस्था करनी चाहिये।[5]

इन उपर्युक्त उपचारो से यदि वातज तथा पित्तज ज्वर शान्त न हो तो 'घृत' का प्रयोग करे। इससे शीघ्र सफलता मिलती है।[6]

सन्निपात ज्वर मे तथा वायु के वलवान् होने पर प्रसूता स्त्री को मांस-रस तथा यूप के द्वारा संस्कृत किए हुए पुराने घी का प्रयोग करना चाहिये।

सूतिका ज्वर मे निम्नलिखित योगो का यथावसर प्रयोग किया जाता है —

१—क्वाथ—

(क) दशमूल क्वाथ—

(ख) अमृतादि क्वाथ—

(ग) सहचरादि क्वाथ—

(घ) सूतिका दशमूल क्वाथ—

---

१ का स खि ११-८१;
२. का स खि. ११-८२,
३ का स खि ११-८३,
४. का स खि. ११-८४, ८५,
५. का स खि ११-८६;
६ का. स खि ११-८७, ८८;

(ड) देवदार्व्यादि क्वाथ—

२—सौभाग्य शुण्ठी—(सामान्य तथा बृहत्)

३—(क) पञ्च जीरक गुड़—

(ख) जीरकादि मोदक ।

४—(क) सूतिका विनोद रस ।

(ख) सूतिका हर रस ।

(ग) सौभग्यवटी ।

(घ) प्रताप लङ्केश्वर ।

(ड) सूत शेखर ।

(च) हेमगर्भ पोटली ।

५—(क) दशमूलारिष्ट ।

(ख) जीरकाद्यरिष्ट ।

(ग) कुमार्यासव ।

६—(क) धानवयादि-तैल ।

(ख) सूतिका दशमूल तैल

इन योगो का विस्तृत वर्णन परिशिष्ट मे देखें ।

आधुनिक चिकित्सक उपसर्ग के अनुसार इसमे ज्वरहर औषधो का तथा लक्षणानुसार पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमायसिन आदि का प्रयोग करते हैं ।

स्तन्यागमोत्थ ज्वर का प्रतिकारः—रुग्णा की सम्यक् शुश्रूषा तथा समुचित पथ्य-व्यवस्था एव पूर्ण विश्राम का प्रबन्ध होना चाहिये । स्तन्यागमनान्तर ज्वर स्वय ही शान्त हो जाता है । इसमे लक्षणो के अनुसार स्थानीय तथा ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये ।

ग्रहबाधोत्थ सूतिका ज्वरः—काश्यप ने इसमे वात ज्वर का विधान करने के लिए आदेश दिया है । इसमे भी लक्षणो के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये । ग्रह-शान्ति भी कराना लाभप्रद होता है ।[1]

सुश्रुत ने कहा है कि अपप्रजाताजन्य तथा स्तन्यावतरण ज्वर मे यथा दोष सशमन चिकित्सा करनी चाहिये—"स्त्रीणामपप्रजातानां स्तन्यावतरणे च य । तत्र सशमन कुर्याद् यथा दोष विधानवित् ॥" (सु० उ० आ० ३९–१६४) यहाँ सशमन से पाचन का ग्रहण करना चाहिये ।

---

१ का स खि ११-६९,

दुष्प्रजाता ज्वर

काश्यप संहिता मे दुष्प्रजाता के ६४ रोगो का उल्लेख है जिनमे एक ज्वर भी है।[1] इन सभी रोगो का कारण मिथ्योपचार है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसूता के सभी विकार कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य होते है। अतः प्रसूता की दशा, उसका वलावल देश तथा काल की सम्यक् प्रकार से परीक्षा कर ऐसी चिकित्सा की व्यवस्था करे जो व्याधिसात्म्य हो और रोग के लक्षणो को शीघ्र शमन करने वाला हो। ऐसा करने से किसी उपद्रव की सम्भावना नही रहती।[2]

प्रसव के समय गर्भाशयग्रीवा, योनि तथा भग प्रदेश (Perinium) के प्रसवकालीन विदार (Laceration or rupture) भी उपसर्ग (Infection) के लिये सहायक होता है। गर्भाशय प्रदेश के अन्दर अपरा के निकटवर्ती स्थान पर उपसर्ग होने की सर्वाधिक सभावना रहती है। इसके अतिरिक्त प्रथम गर्भता (1st pregnancy), उपद्रुत प्रसव (Complicated labour) तथा यान्त्रिक प्रसव (Instrumental labour) मे उपसर्ग होने की अधिक सभावना रहती है। प्रसवकाल मे यदि गर्भवती को अजीर्ण हो तो भी यह उपसर्ग मे सहायक होता है। उपसर्ग होने पर गर्भाशयकलाशोथ (Endometritis) तथा अन्य सार्वदेहिक लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

स्थानीय लक्षणः—प्रसवकाल में उपसर्ग होने पर दो तीन दिनो के पश्चात् लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अपरा (Placenta) के पृथक् होने वाले स्थान पर स्थित व्रण के अतिरिक्त, गर्भाशयस्थ रक्त के थक्के भी पूर्वोक्त जीवाणुओ के लिये वहुत अनुकूलता उत्पन्न कर देते हैं। मालागोलाणु (Streptococcal) संक्रमण वहुधा हस्तप्रयोग या परीक्षा आदि के द्वारा वाहर से ऐसे व्यक्तियों के द्वारा (हाथो से) होता है जिनके नासिका कण्ठ आदि मे ये मालागोलाणु रहते हैं। इनके सक्रमण का प्रकार इस प्रकार होता है जैसे नासिका कण्ठ आदि मे स्थित जीवाणु हस्त आदि के सम्पर्क होने पर तथा श्वास, क्षवथु, कास, हास्य आदि के कारण सूक्ष्म श्लेष्म विन्दुओ के साथ हाथ पर या यंत्र जिसका

---

१. (क) "दुष्प्रजातामयाः सन्ति चतु.षष्टिरितिस्थितिः।" (का स खि. ११)
(ख) इनका विस्तृत वर्णन यथास्थान किया जायगा।

२. "मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥
तस्यास्ता देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेव नान्ययमाप्नुयात्॥" (सु शा १०)

परीक्षण मे प्रयोग करना है उस पर आ जाते हैं और उनका सम्पर्क होने पर प्रसूता स्त्री के गर्भाशय मे निक्षिप्त हो जाते हैं। संक्रमण के पश्चात् जीवाणु भयकर गति से प्रसार करते हैं और स्थानीय कोशातन्तुशोथ उत्पन्न कर देते है। परिणामस्वरूप अविलम्ब व्यापी पूति संचार (Septicaemia) होने से आक्रान्त रुग्णा की मृत्यु तक हो जाती है। इस अवस्था में उग्र ज्वर होता है। साथ ही अन्य प्रलापादि लक्षण भी दृष्टिगोचर होते है। इसके अतिरिक्त योनितः स्राव (Lochial discharge) अत्यधिक होता है। स्राव रक्ताभ, गदला तथा दुर्गन्धित होता है। गर्भाशय स्पर्शासह तथा वृद्ध प्रतीत होता है। गर्भाशय शूल आदि लक्षण होते हैं।

देशान्तरीय ज्वर

महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी ने सिद्धान्त निदान मे देशान्तरीय ज्वरो का सकेत किया है। उसमे 'शोण हारिद्रकादय' इस पद द्वारा शोण ज्वर (Scarlet fever) तथा हारिद्रक ज्वर (yellow fever) का नामोल्लेख कर 'आदि' पद द्वारा अन्यो का भी सकेत किया है। इनमे शोण ज्वर (Scarlet fever) का तथा हारिद्रक (yellow fever) ज्वर का वर्णन किया जा चुका है। यह भी सकेत किया गया है कि 'अरुण ज्वर' तथा 'बभ्रु ज्वर' के नाम से इनका उल्लेख वेदो मे भी हुआ है। यहा देशान्तर से उनका अभिप्राय भारतेतर देशो का है जहाँ ये अधिक होते है। 'हारिद्रक ज्वर' का वर्णन वाग्भट्ट ने भी किया है। तन्त्रान्तरो मे 'हारिद्रक' को सन्निपात ज्वर के भेदो मे गिनाया है जैसे—"यस्यतिपीतमङ्ग नयने सुतरा मलस्ततोऽप्यधिकम्। दाहोऽति शीतता बहिरस्य स हारिद्रको ज्ञेय.॥" अर्थात् जिस त्रिदोष ज्वर मे रोगी का शरीर अत्यन्त पीला पड जाता हो तथा नेत्र और भी अधिक पीले हो जाते हो एव मल नेत्र से भी पीला हो जाता हो तथा शरीर के अन्दर दाह होता हो किन्तु बाहर से शीतल प्रतीत होता हो उसे 'हारिद्रक' ज्वर कहते है। आदि शब्द से 'माल्टा ज्वर' जो माल्टा द्वीप मे रहने वालो को होता है जिसका वर्णन किया जा चुका है, तथा 'मृग मक्षिका ज्वर' (Deer fly fever—Tularaemia) जो अमेरिका, रूस तथा जापान मे अधिक होता है, एव किज्वर, जापानी रीभर ज्वर, खाति ज्वर प्रभृति हैं।

मृग मक्षिका ज्वर

(Deer fly fever)

इसको 'पह्वन्ट' भेली फीवर' भी कहते हैं। यह 'पस्चुरेलिया टुलरेन्स' नामक जीवाणु के कारण होता है। अत इसका नाम टुलरेमिया भी है। इसके दो मुख्य

भेदो का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे ग्रन्थिक (glandular) और (२) टाइफवायड । ग्रन्थिक मे शीतकम्प के साथ ज्वर, अङ्ग मर्द, शिरोरुक्, शरीर पर स्फोटोका उद्गम जो पीछे फट जाता है, तथा प्रदेशीय लसिका ग्रन्थियो का शोथ होता है। यह विशेषत. बूचरो तथा कसाइयो मे पाया जाता है। टाइफायड प्रकार मे अधिक काल तक ज्वर विभिन्न तापाशो मे दृष्टिगोचर होता है। इसमे कोई स्थानीय लक्षण नही दृष्टिगोचर होते। यह घोडो की मक्खियो के दंश मे उत्पन्न होता है।

प्रतिकार—इसकी चिकित्सा लाक्षणिक करनी चाहिये। एतदर्थ एक सीरम आता है उसका प्रयोग होता है। स्ट्रेप्टोमायसीन मे भी लाभ होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा विषम ज्वरवत् ।

वतालिका

भेल ने 'जनमार' (जनपदोध्वंसी) रोगो का वर्णन करते हुए 'वतालिका' रोग का उल्लेख किया है जिसमे कहा है कि 'वतालिका' नामक रोग मे कक्षा के नीचे, ऊरुमूल मे, श्रोत्र मे, कण्ठ मे, वस्ति मे, हृदय मे तथा पाणि एव पाद-तलो मे पिडका उत्पन्न हो जाती है जो शीघ्र प्रतिकार नही करने पर आक्रान्त पुरुष को मार डालती है। यह पित्तश्लेष्म मे उत्पन्न होने वाली व्याधि है और इसमे वात एव रक्त की दुष्टि होती है।[1] तात्पर्य यह कि इसमे तीनो दोषो का प्रकोप होता है और रक्त प्रधान दूष्य होता है। यह वर्णन ज्वर वर्णन के प्रकरण मे है अतः आपाततः ज्वर का होना स्वाभाविक है। कुछ टीकाकारो ने इसको आधुनिक प्लेग से मिलाने का प्रयास किया है। इसके लक्षण भी इससे मिलते जुलते हैं। फिर भी यह चिन्त्य है।

इस रोग की चिकित्सा का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता। अतः ऐसी परिस्थिति मे आवस्थिकी चिकित्सा का ही अनुसरण करना होगा। लक्षणो के बलाबल के अनुसार चिकित्सक को प्रतिकार की व्यवस्था करनी चाहिये।

---

१ "वत (व) का (ता) लिकाना तु (नाम) पिडका चास्य जायते ।
कक्षायामूरुमूले च पाणिपादतलेषु च ॥
कण्ठे वा श्रोत्रमध्ये वा बस्तौ वा हृदयेऽपि वा ।
रक्तमार्गाश्रिता सा प्रवृद्धा मारयेन्नरम् ॥
पित्तश्लेष्म समुत्थाना वातशोणित मूर्च्छिता ।
वतालिकेति तामाहुर्यत्रास्तत्र जीवति ॥" (भे सू १३)

क्षतज तथा क्षयज ज्वर

सुश्रुत ने नानाविध अभिघातो से तथा क्षय (राजयक्ष्मा या धातुक्षय) से ज्वर की उत्पत्ति का संकेत किया है ।[1]

अभिघातज ज्वर—यह आगन्तुज ज्वर का ही एक आवान्तर रूप है। सुश्रुत ने कहा है कि नाना प्रकार के शस्त्र, लोष्ठ, काष्ठादि के अभिघात से जो ज्वर उत्पन्न होते हैं उन्हे भी उनके लक्षणो के आधार पर दोषो का सम्बन्ध स्थिर कर निदान कर ले ।[2] इस ज्वर मे आद्य निमित्त आघात होने मे इन्हे अभिघातज कहा गया है इस प्रकार इनमे पृथक्करण का उद्देश्य चिकित्सको को अविलम्ब आहृत स्थान की सर्वप्रथम चिकित्सा के लिये सतर्क करना है । क्षत या आहृत स्थान पर अनेक प्रकार के उपसर्ग होने की संभावना रहती है जिनका परिणाम भयकर हो जाता है । अत. सद्य. क्षत स्थान को उपसर्ग से वचाने का प्रयत्न तथा संभावित रोगो के प्रतिषेध का प्रयत्न करना चिकित्सक का कर्त्तव्य हो जाता है । अभिघातज या क्षतज ज्वर से दो प्रकार के ज्वरो की सभावना रहती है जैसे—अभिघातजन्य मानसिक तथा शारीरिक क्षोभ से तथा अभिघातोत्तर उपसर्ग से (Traumatic shock and infection) अत' इनका विचार कर प्रतिकार की व्यवस्था करें ।

इसकी सम्प्राप्ति वतलाते हुए सुश्रुत ने कहा है कि अभिघात से प्रकुपित वायु सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हो ज्वर को उत्पन्न करती है ।[3]

क्षय मे राजयक्ष्मा का ग्रहण करने पर उसका वर्णन इस क्षेत्र के वाहर हो जाता है । अत यहाँ क्षय से 'धातुक्षय' का ग्रहण कर ही वर्णन अभीष्ट होगा । उपलब्ध ग्रन्थो मे किसी भी धातु के क्षय के लक्षणो मे ज्वर का उल्लेख नही प्राप्त होता । परन्तु धातु क्षय से पवन (वायु) का प्रकोप तथा अग्निमान्द्य का स्पष्ट उल्लेख है ।[4] प्रकुपित वायु जव सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होता है तव ज्वर उत्पन्न करता है इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इसी प्रकार मन्दाग्नि होने पर 'आम दोप' की उत्पत्ति होती है जिससे ज्वर उत्पन्न हो सकता है । आम दोप से ज्वरोत्पत्ति का वर्णन शास्त्रो मे प्राप्त होता है ।

---

१ सु उ अ ३९-२० ।

२ सु उ अ ३९-७० ।

३ "श्रमक्षयाभिघातेभ्यो देहिना कुपितोऽनिल ।
पूरयित्वाऽखिल देह ज्वरमापादयेद् भृशम् ॥" (सु सू ३९)

४ धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्द सजायतेऽनल' ।
पवनश्च पर कोप याति··· ········ ·· ॥ (सु. सू १४-३७)

श्रमज ज्वर :—सुश्रुत ने श्रमज ज्वर का जो सकेत किया है उसकी सम्प्राप्ति भी इसी प्रकार समझे ।

प्रतिकार—इन तीनो प्रकार के ज्वरो मे अपतर्पण निषेध है । इनमे संतर्पक ज्वरहर औषधो की व्यवस्था करनी चाहिये । आहार भी (पथ्य भी) सुजर, लघु एव पौष्टिक होना आवश्यक है । सुश्रुत ने कहा है कि इन तीनो मे मूल व्याधि की चिकित्सा करे ।[1]

शाखानुसारी ज्वर

चरक ने ज्वर की चिकित्सा का वर्णन करते हुए कहा है कि शीतोपचार, 'उष्णोपचार', स्निग्धोपचार तथा रूक्षोपचार आदि जो ज्वर शान्ति के लिये विधान पहले कर चुके हैं, यदि इन विधानो (उपचारो) से ज्वर शान्त न हो तो समझो कि वह ज्वर 'शाखानुसारी' हो गया है । इस प्रकार का ज्वर रक्तमोक्षण से शान्त होता है ।[2] चक्रपाणि दत्त ने अपनी व्याख्या मे इसको रक्त दूषित करने वाला एक विशिष्ट ज्वर माना है ।[3]

'शाखानुसारी' की व्याख्या मे कहा है कि शाखा से रक्त आदि धातुओ का ग्रहण है । रक्तधातु मे ज्वर के प्रविष्ट हो जाने पर तथा रक्तदुष्टिजन्य ज्वर मे जो लक्षण होते हैं वे सब इस ज्वर मे सभव है । यही कारण है कि इसकी चिकित्सा मे बाहु के बीच मे रक्तमोक्षण का आदेश है ।[4] इसका तात्पर्य यह है कि इस ज्वर मे रक्त की पर्याप्त रूपेण दुष्टि होती है । अत दुष्ट रक्त के निकल जाने से ज्वर का भी निराकरण हो जाता है ।

'विधि शोणितीयाध्याय' में भी चरक ने कहा है कि जो व्याधि उस व्याधि के लिये विहित शीतोष्णस्निग्धरूक्ष आदि उपचारो से शान्त न हो तो उसे रक्तज

---

१ "चिकित्सेच्च ज्वरान् सर्वान् निमित्ताना विपर्ययै ।
श्रमक्षयाभिघातोत्थे मूल व्याधिमुपाचरेत् ॥" (सु उ अ ३९)

२ 'शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ।
शाखानुसारी सयस्य मोऽवसेकात् प्रशाम्यति ॥" (च चि ३-२८९)

३ 'शाखानुसारीत्यत्र "यद्यपि शाखा समादयो धातव " (सू अ ११) इत्युक्त, तथापीह रक्तदूषको विशेषेण ज्वरो ज्ञेय. (चक्र)

४. "रक्ताश्रये एव दोषे समोक्षस्य विशेषेण सामर्थ्यात् रक्तमोक्षस्थान च बाहुमध्य ज्ञेय यदुक्त—
'शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ।
शाखानुसारी तस्याशु मुञ्चेद् बाह्वो क्रमात् सिरा ॥' इति ।
शीतोष्णादि सेवा वचनात् सकलदोषानुरूपचिकित्साकृते सति रक्त दुष्ट्यैव प्रायो ज्वरानुबन्धो भवतीति दर्शयति ।" (चक्र)

समझे और इस प्रकार के रक्तज व्याधियो मे रक्तपित्तहर क्रिया क्रम करे जैसे विरेक, उपवास, रक्तमोक्षण आदि ।[1] इस रक्तमोक्षण का विधान करते हुए कहा है कि इस रक्तज व्याधि के बल को तथा दोष के बल और दुष्ट शोणित के आशय की सम्यक् प्रकार से परीक्षा कर ही रक्तमोक्षण करना चाहिये ।[2]

इन उपर्युक्त वर्णनो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा पर शाखा से 'रक्त' धातु का ही ग्रहण है । चिकित्सा तथा अन्य वर्णनो से यह भी प्रतीत होता है कि 'शाखानुसारी ज्वर' व्यापक रूप मे प्रयुक्त हुआ है । इससे उन सभी प्रकार के ज्वरो का जिनमे 'रक्तधातु' प्रधान रूपेण दुष्ट हो और रक्तस्राव के अतिरिक्त अन्य उपचार से लाभ न हो, अन्तर्भाव इस ज्वर मे हो जाता है ।

विषज ज्वर

सुश्रुत ने ज्वरो के कारणो मे विष को भी एक विशिष्ट करण मान कर 'विषज ज्वर' का सकेत किया है ।[3] डल्लन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि औषधियो के पुष्प के गन्ध से जो ज्वरो का सकेत है वहाँ विषौषधो के पुष्प का गन्ध समझना चाहिये ।

मेरे विचार से विषज ज्वर से अभिप्राय उन सभी ज्वरो का है जो विषो— प्राणिज, खनिज, तथा उद्भिज विषो से उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त जीवाणु विष, कीटाणु विष तथा विषाणु विष से उत्पन्न होने वाले ज्वरो का भी इसमे अन्तर्भाव हो जाता है । प्राणिज, खनिज तथा उद्भिज विषो के वर्णन मे इनसे उत्पन्न होने वाले ज्वरो का वर्णन किया जायगा । शेष का वर्णन पहले कर चुके हैं ।

रात्रि ज्वर

अष्टाङ्ग सग्रह मे रात्रि ज्वर तथा पूर्व रात्रिक ज्वर की सम्प्राप्ति तथा लक्षणो का वर्णन प्राप्त होता है । वहाँ कहा है कि हीन पित्त पुरुष के कफवात जब समावस्था मे रहते हैं तो तीक्ष्ण वा मन्द रूप मे रात्रि-ज्वर उत्पन्न होता

---

१. (क) शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये नराः ।
सम्यक् साध्या न सिद्ध्यन्ति रक्तजास्तान् विभावयेत् ॥"
(ख) कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् ।
विरेकमुपवास च स्रावण शोणितस्य च ॥"

२. "बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा ।
रुधिर स्रावयेज्जन्तोराशय प्रसमीक्ष्य वा ॥" (च सू अ २४,)

३. कफवातौ समौ यस्य हीनपित्तस्य देहिन. ।
तीक्ष्णो वा यदि वा मन्दो जायते रात्रिको ज्वर· ॥"

है। इसी प्रकार सूर्य के अतिबल रहने पर व्यायाम से शारीर धातुओ के अधिक शोषित होने पर वायु के कारण पूर्वरात्रिक ज्वर होता है।[१]

भैषज्य रत्नावली मे विशेश्वर रस को कहा है कि यह रात्रि ज्वर की विशेष औषधि है। योग रत्नाकर मे भी कुरण्टकादि लेह के गुणो मे कहा है कि यह उग्र रात्रि ज्वर को नष्ट करता है। कही-कही निशाज्वर भी इसको कहा है।

इस ज्वर से आक्रान्त रोगी दिन भर ज्वर मुक्त रहता है। रात्रि होने पर ज्वर का सन्ताप व्यक्त होता है। यह भी विषम ज्वर का ही एक भेद प्रतीत होता है।

औषधो के गुण वर्णन मे अनेक ऐसे ज्वरो का सकेत प्राप्त होता है जिनका वर्णन कही उपलब्ध नही होता जैसे—

(१) मध्य ज्वर (यो० र० १९२)—योगरत्नाकरकार ने ज्वर का अवस्थानुसार तीन भागो मे विभक्त कर दिया है जिसमे (१) तरुण ज्वर (२) मध्य ज्वर और (३) पुराण ज्वर के लिये पृथक्-पृथक् पथ्य की व्यवस्था का निर्देश किया है।[१]

(२) मद्योत्थ ज्वर—मद्यपान से उत्पन्न हुआ ज्वर।

(३) भूत ज्वर—ग्रहबाधा से तथा मानसाभिघात से उत्पन्न ज्वर।

(४) वारिदोषज ज्वर—जल के दोष से उत्पन्न ज्वर।

(५) विरुद्ध भेषजभव ज्वर—विरुद्ध भेषज के सयोग से उत्पन्न ज्वर।

(६) भौतिक ज्वर।

(७) ऋक्ष दोषोद्भव ज्वर।

इन ज्वरो का उल्लेख औषध गुण वर्णन मे प्राप्त होता है। जैसे विषम ज्वरान्तक लौह तथा सर्वज्वरहर लौह के गुण-वर्णन मे (भै० र०)। इसी प्रकार व्रण ज्वर (व्रण के कारण उत्पन्न होने वाला ज्वर) दीर्घ रात्रि ज्वर (रात्रि मे दीर्घ बली होने वाला तथा अधिक रात्रि तक रहने वाला ज्वर), अन्तस्थ तथा बहिरस्थ ज्वर (ज्वर के स्वरूप) प्रभृति के नाम भी औषधो के गुण-वर्णन मे उपलब्ध होते हैं। इनके नाम से ही इनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इनके लिये, अभ्यङ्ग, प्रदेह, ज्वरान्तक लौह, आदि के गुणो को देखे।

नासा ज्वर (आहक ज्वर)
(Hay fever)

भैषज्य रत्नावली मे आहकारि रस तथा आहकारि नस्य एव दूर्वा तैल के गुणो मे इस ज्वर का उल्लेख है। उपलब्ध सहिताओ मे ज्वर के प्रकरण मे इसका

१ "दिवकरातिबले व्यायामाच्च विशोषिते।
शरीरे नियत वाताज्ज्वर स्यात्पूर्वरात्रिक ॥"

कोई वर्णन प्राप्त नही होता। आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थो मे 'हे फीवर'(Hay fever) नामक रोग का वर्णन प्राप्त होता है। इस रोग के सम्बन्ध मे कहा है कि यह अनूर्जा (Allergy) की अवस्था वश किसी घास या पुष्प की गन्ध ग्रहण से उत्पन्न हो जाता है। यह विशेष कर अप्रील, मई, जून या अगस्त मे दृष्टिगोचर होता है यह भी कहा है कि यह व्यक्ति की अनूर्जता की विभिन्नता के अनुसार होताहै। विभिन्न व्यक्तियो मे विभिन्न प्रकार के पुष्प या घास से अनूर्जता होती है। इसका प्रभाव नासा की श्लेष्मल कलाओ तथा नेत्रवर्त्म की उत्तेजना (Sensitivity) पर निर्भर है।

लक्षण—इसके लक्षण ४ वर्ष की आयु से लेकर २० वर्ष की आयु तक संभव हैं। इसका आक्रमण प्रति वर्ष उक्त आयु तक देखा गया है। इसमे नासा, नेत्र तथा कण्ठ के पश्चात् भाग पर अधिक उत्तेजना (Irritation) दीख पडती है। इसमे क्षवथु के वेग बार-बार आते हैं जिसमे नासा-स्राव तथा नेत्र-स्राव प्रभूत मात्रा मे होता है। शिर शूल, मन साद, तथा क्लम का अनुभव रोगी करता है। अधिक दोष वाले रोगियो मे श्वास कष्ट (Asthma) के तथा कास के लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह देखा गया है कि इसके लक्षण उष्ण वायु के सम्पर्क से बढते हैं और शीत वायु के सम्पर्क से घटते हैं। इसमे नासा की श्लेष्मल कलाये शोथयुक्त हो जाती हैं जिससे नासा-रन्ध्र अवरुद्ध सा अनुभव होता है। नासा की कलाये जलपूर्ण हो जाती है। तथा पाण्डु वर्ण की दीख पडती हैं।

निदान—यह पहले कहा जा चुका है कि इसका आक्रमण किसी घास या पुष्प के पराग का नासा की श्लेष्मल कलाओ के साथ सम्पर्क होने से अनूर्जता-वश होता है। इस प्रकार की अनूर्जता वाले व्यक्ति सूखी घासो (Hay) के क्षेत्र मे जाते ही इसका शिकार बन जाते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार यह प्रतिश्याय के अन्दर ही आता है। वातज तथा पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण अधिक मिलते हैं।

प्रतिकार—सर्वप्रथम निदान का परिवर्जन आवश्यक है। तत्पश्चात् दुर्वातैल, अणुतैल का नस्य तथा आहकारि रस का प्रयोग करना चाहिये। सुरसादि फाण्ट, व्याघ्री हरीतकी-तथा नारदीय लक्ष्मीविलास का भी प्रयोग यथावसर करने से लाभ होता है। रोगी को समशीतोष्ण स्थान पर पूर्ण विश्राम-पूर्वक रखे तथा घास एव पुष्पो की गन्ध से पृथक् रखे। आधुनिक चिकित्सक अनूर्जतानाशक उपाय (Antiallergic treatment) करते हैं। बेनेड्रील तथा

एफेड्रीन प्रभृति का आभ्यन्तर प्रयोग करते है। 'अर्जिरन्' आदि का भी उपयोग नस्य मे करते हैं।

अर्धाङ्ग ज्वर या अर्ध नारीश्वरज्वर

विनोदलाल सेन ने विषम ज्वर के प्रकरण मे 'अर्धाङ्ग ज्वर' का उल्लेख किया है। इसको किसी तन्त्रकार ने अर्धनारीश्वर ज्वर भी कहा है। इसकी सम्प्राप्ति बतलाते हुए कहा है कि—जब शरीर मे अन्नरस विदग्ध रहता है तथा श्लेष्म पित्तरस वह स्रोतो मे व्यवस्थित होता है तो आधा शरीर शीतल तथा आधा शरीर उष्ण हो जाता है। इस लक्षण वाले ज्वर को 'अर्धाङ्ग ज्वर' कहते हैं।[1] इसी प्रकरण मे ऐसे ज्वर (विषम ज्वर) का भी वर्णन है जिसमे सम्पूर्ण शरीर उष्ण तथा हाथ पैर शीतल रहते हैं। ठीक इसके विपरीत दूसरे मे हाथ पैर उष्ण तथा शरीर शीतल रहता है। इन दोनो की सम्प्राप्ति-भेद का भी वर्णन है, जैसे प्रथम मे पित्त का प्रकोप कोष्ठ मे होता है और श्लेष्मा प्रकुपित हो हाथ-पैरो मे संस्थित रहता है। दूसरे मे कफ कोष्ठ मे प्रकुपित होता है और पित्त प्रकुपित हो हाथ पैरो मे संस्थित रहता है।[2]

प्रतिकार—विषम ज्वरवत्। इसके लिये 'बृहत् सर्वज्वरहर लौह' विशिष्ट औषधि है।

ऋक्ष दोषोद्भव ज्वर

इस नक्षत्रो के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले ज्वर ('ऋक्ष दोषोद्भव) का उल्लेख भैषज्य रत्नावली मे बृहत् सर्वज्वरहर लौह' के गुण-वर्णन मे उपलब्ध होता है। नक्षत्र दोष से ज्वर किस प्रकार उत्पन्न होता है इसका वर्णन उपलब्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे प्राप्त नही होता। परन्तु नक्षत्रो के दोष से ऋतुओ का व्यापन्न होना तथा उनसे नाना विध रोगो की उत्पत्ति का संकेत यत्र-तत्र चरक तथा सुश्रुत मे प्राप्त होता है। चरक के जनपदोध्वंसनीयाध्याय (वि० ३) मे कहा है कि नक्षत्र, ग्रहगण, चन्द्र, सूर्य, वायु आदि के दोष से ऋतुएँ व्यापन्न

---

१ (क) विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते।
तेनार्धं शीतलं देहमर्धमुष्णं प्रजायते॥"
(आयुर्वेद विज्ञान) (अ. हृ. नि. २)

(ख) विषमज्वर विशेषानाह—विदग्ध इत्यादि × × × अर्धत्व चार्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा।" (मधुकोषः)

२ (क) अ नि २,
(ख) मा. नि.

होती हैं जिससे आहार तथा औषध द्रव्यो मे भी विकृति आ जाती है जो रोग का कारण बनता है। इसी प्रकार सुश्रुत ने भी (सू० अ० ६) मे ऋतुव्ययात्ति के वर्णन मे इसका सकेत किया है।

नक्षत्रो की सख्या २७ है। इन नक्षत्रो के स्वामी के अनुसार इनका शुभाशुभ फल होता है। नक्षत्रो के दोष से भी अनेक प्रकार के ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं। रोगो के साध्यासाध्यविचार मे भी नक्षत्रो के प्रभाव का ज्ञान सहायक होता है। जैसे—कृतिका नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर की पीडा ९ दिनो तक रहती है। रोहिणी नक्षत्र का कष्ट ३ दिन, मृगशिरा का ७ दिन तक ज्वर का कष्ट रहता है। आर्द्रा नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर घातक होता है। पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर ७ दिन के पश्चात् तथा आश्लेषा नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर ९ दिन के वाद उतरता है। मघा नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर का अन्त श्मशान मे होता है तथा पूर्वा फाल्गुनो नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वरादि व्याधि २ मास तक ठहरती है। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर की अवधि १५ दिन है। इसी प्रकार हस्त नक्षत्र का ज्वर ७ दिन के पश्चात्, चित्रा का अर्ध मास के वाद, स्वाती का २ मास वाद, विशाखा का २० दिन वाद, अनुराधा का १० दिन वाद, ज्येष्ठा का १५ दिन वाद, उत्तरापाढ का २० दिन वाद श्रवण का दो मास वाद धनिष्ठा का १५ दिन वाद, शतभिषा नक्षत्र का उत्पन्न ज्वर १० दिन के पश्चात्, पूर्वभाद्रपद का १९ दिन वाद, उत्तराभाद्रपद १½ मास वाद रेवती का १० दिन वाद और अश्विनी नक्षत्र मे उत्पन्न ज्वर २४ घन्टे वाद उतरता है। भरणी नक्षत्र का ज्वर घातक होता है। (भै० र०)

प्रतिकार—लक्षणानुरूप तथा नक्षत्र-दोष की यथा विधि शान्ति की व्यवस्था करे। इस विषय का विशेष ज्ञान ज्योतिष के आचार्यों से प्राप्त करे।

प्लीह ज्वर

यह वह ज्वर प्रतीत होता है जिसमे ज्वर के साथ-साथ प्लीहा की वृद्धि भी हो जाती है। यह अवस्था अनेक विषम ज्वरो मे दृष्टिगोचर होती है। 'सर्व-ज्वरहर लौह', के गुण-वर्णन मे इस ज्वर का उल्लेख प्राप्त होता है। जीर्ण ज्वर की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस अवस्था मे प्लीहा अभिवृद्ध हो जाती है। इसी प्रकार मलेरिया, कालाजार, अन्त्रिक ज्वर आदि मे भी प्लीहाभि-वृद्धि हो जाती है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान मे भी 'प्लीह ज्वर' (Splenic fever) का सकेत प्राप्त होता है। मृत्यूत्तर परीक्षणो (Post mortem) मे देखा गया है कि जीवाणुओ के उपसर्ग से जब प्लीहा मे अत्यधिक रक्त सञ्चय (Conges-

tion) हो जाता है तो प्लीहा का शोथ उत्पन्न हो प्लीहा अभिवृद्ध हो जाती है। इसमे ज्वर का सताप भी होने से इसे 'स्प्लीनिक फीवर' कहा जाता है। परन्तु यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि यह स्वतन्त्र रोग न होकर लक्षण रूप रोग ही है। अत इसका प्रतिकार भी इसके कारणो का पता लगा कर करना उचित है। 'सर्वज्वरहर लौह' सभी प्रकार के विषम-ज्वरो की प्रसिद्ध औषधि है। अत इस प्रसङ्ग मे उल्लिखित प्लीह ज्वर से उस विषम ज्वर का सकेत प्रतीत होता है जिसमे ज्वर के साथ प्लीहा की भी वृद्धि हो जाती है। इसका सकेत पहले कर चुके है। अत इसका प्रतिकार भी विषम ज्वर के समान ही होगा। प्लीहाभिवृद्धि के कारणो का विस्तृत वर्णन यथास्थल किया जायगा।

अजीर्णजज्वर

अजीर्ण (अन्न के न पकने) से 'आम' दोष की उत्पत्ति होती है। आम दोष के कारण स्रोतो मे (रसवह तथा स्वेदवह) अवरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दशा मे जब आमाशयस्थ दोष प्रकुपित हो अग्नि (कोष्ठाग्नि) को मन्द कर तथा उसको स्थान से विचलित कर रस धातु के साथ उसे मिला देते है तब ज्वर की उत्पत्ति होती है। इसको 'आम ज्वर' भी कहते हैं। इसमे 'आम ज्वर' के लक्षण होते है।

प्रतिकार—इस ज्वर मे आम दोष के पाचनार्थ लघन सर्व प्रथम कराना चाहिये। तत्पश्चात् अग्नि दीपनार्थ 'अग्निकुमार रस' का यथावश्यक प्रयोग करना उचित है। लंघनान्तर ज्वर के न्यून होने पर लघु भोजन, यवागू आदि से प्रारम्भ कर देना चाहिये। रूक्षण तथा स्वेदन क्रिया के लिये रूक्ष तथा अग्निगुण विशिष्ट (उष्ण) ज्वरहर द्रव्यो का प्रयोग अभीष्ट है। इसमे पञ्चकोल क्वाथ से तथा पचभद्र क्वाथ से पाचन का कार्य अच्छा होता है।

अंशुघात ज्वर

यह उष्ण प्रदेशो मे ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य की प्रखर किरणो से वायु के सतप्त होने पर विशेष कर पहाडी प्रदेशो मे सतप्त वायु (लू) के आघात से उत्पन्न होता है। कहा भी है—

"प्रचण्डचण्डाशुकरैर्यदैव, प्रतप्तशीर्षं पुरुपस्तदैव। वपुर्विमर्दी ननु देहिनोऽ-शुघाताभिधोव्याधिरुदेति तस्मिन् ॥" अर्थात् ग्रीष्मकालीन सूर्य की अत्यधिक प्रचण्ड किरणो से सिर के सतप्त हो जाने पर मानव शरीर को नष्ट करने वाले 'अशुघात' नाम रोग की उत्पत्ति होती है। यह प्राय तेज धूप मे फिरने वाले

दुर्बल पुरुषों को होता है। उष्ण प्रदेशों में भूमि की आर्द्रतावश तथा वायु की स्थिरता होने से उष्ण कार्यों में निरन्तर लगे रहने वाले पुरुषों में भी यह अधिक देखा गया है। जो मनुष्य गरमी की मौसम में जूते तथा छाते के बिना घूमते रहते हैं वे इस रोग के बहुधा शिकार होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में उष्ण देशों के कारागार में रहने वाले क़ैदी तथा अन्य पहरेदार आदि में भी यह रोग अधिक रूप में देखा गया है।

लक्षण—अंशुघात में उत्पन्न कष्टप्रद लक्षणों को तीन भागों में विभक्त कर दर्शाया जा सकता है। पहली—शीतावस्था, दूसरी साधारणी और तीसरी तीव्रावस्था। त्वचा का क्लिन्न एवं शीतल स्पर्श से अनुभव होना, मूर्च्छा, श्रम, दौर्बल्य, नाडी गति का तीव्र होना, ये प्रथमावस्था के लक्षण हैं। यदि इस अवस्था में उचित प्रतिकार हुआ तो रोगी बच जाता है। इस अवस्था में हृदय को बल देने वाली औषधि का प्रयोग करना चाहिये। एतदर्थ 'रत्नेश्वर' रस परमोपयोगी है। द्वितीयावस्था में रोगी के शिर में अत्यधिक पीडा (शिरः-शूल) उत्पन्न होती है, त्वचा शुष्क हो जाती है, तथा शरीर संताप से युक्त होता है। नाडी की गति अधिक चञ्चल हो जाती है और हृदय और श्वास की गति दुर्बल एवं क्षीण प्रतीत होती है। मूर्च्छा आदि लक्षण भी वर्तमान रहते हैं। इस दशा में हृद्य औषधों के साथ-साथ ज्वरहर तथा संतापहर औषधों का प्रयोग भी आवश्यक होता है। एतदर्थ 'महाशिशिर पानक' का प्रयोग तथा कच्चे आम को पकाकर उसका पानक बना कर देना, नारिकेल जल का पान कराना आवश्यक होता है।

• तीसरी अवस्था में ज्वर का ताप अत्यधिक तथा श्वास कष्ट बढ जाता है। प्रलाप, मुखाकृति का श्याव या नीलवर्ण का हो जाना, सन्यास के लक्षण आदि होते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति हो जाने पर रोगी प्राय नहीं बचता। यदि हाथ तथा पैरों का भी वर्ण नीला हो जाय, नाडीस्पन्दन क्षण-क्षण में लुप्त होने लगे तथा आक्षेप के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे तो समझना चाहिये कि रोगी का निश्चित ही अन्त होने वाला है।

प्रतिकार—सर्वप्रथम रोगी को वस्त्रादि से अनावृत कर सुखद, शीतल, सुगन्धित पुष्पों की परिमल से युक्त पवन के सचार वाले खुले स्थान में रखे। मृदु शय्या वाले रमणीक पलङ्ग पर रोगी को शीघ्र लिटा देवे। खस के पखों को जलसिञ्चित कर उसकी हवा देवे तथा शीतल जल का परिषेक यथावश्यक करते रहे। पिपासा शान्ति के लिये सहसा शीतल जल न देवे। अपितु चन्दन, उशीर आदि से सिद्ध शीतल जल का ही प्रयोग करे।

रोगी के संताप तथा दाह की शान्ति के लिये उसके समस्त शरीर को शीतल जल से गीले किए हुए वस्त्रों से ढँक देना चाहिए। तथा मस्तिष्क पर फुहारे से शीतल जल का परिषेक करते रहना चाहिये। यदि रोगी को कोष्ठबद्धता हो तो कोष्ठ शुद्धि के लिये 'दन्ती तैल' (½ से १ बूँद तक) मिश्री या बताशे मे डाल कर देने से लाभ होता है। अंशुघात के रोगी के लिये यह उत्तम विरेचन है।

आधुनिक चिकित्सको ने इसे 'सनस्ट्रोक' या 'हीट स्ट्रोक (Sunstroke or Heat Stroke) कहा है। इसको ऊष्माभिघात से उत्पन्न होने वाला उग्रतापी ज्वर (Heat hyper Pyrexia) भी कहा गया है। उन्होने कहा है कि इसके लक्षण अकस्मात् उत्पन्न होते है। (१) ज्वर, मूर्च्छा तथा मोह इसके प्रधान लक्षण हैं। परन्तु कभी-कभी अरति, भ्रम, श्वास कष्ट और आमाशयिक विकार पूर्व रूप के रूप मे भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसमे स्वेदावरोध हो जाता है और रोगी की नाडी की गति तीव्र हो जाती है तथा वह बेहोश हो जाता है। छिन्न श्वास के तथा कभी-कभी महाश्वास के भी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं (Stertorus breathing or cheynestoke's breathing)। मांशपेशियो मे ऐंठन प्रारम्भ हो जाती है तथा त्वचा अत्यधिक उष्ण एव रूक्ष प्रतीत होती है। नेत्र रक्तवर्ण के तथा मुख-मण्डल रक्तनीलाभ हो जाता है मूत्र मे अल्ब्युमेन, इण्डिकेन तथा कीटोन बडीज आने लगते हैं। भयंकर आक्षेप (Verulent Convulsion) के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ज्वर ताप (गुदा प्रदेश मे १०८ से ११२ फा०) अत्यधिक बढ जाता है। किसी-किसी मे अतिसार के भी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। परीक्षण से जानुविक्षेप (Knee jerk) का अभाव मिलता है। उचित प्रतिकार के अभाव मे रोगी की नाडी गति क्षीण हो जाती है तथा श्वास गति रुक जाती है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी अतिसार इतना उग्र रूप का होता है कि विसूचिका (Cholera) की शंका होने लगती है। (२) ऊष्माघात (Heat exhaustion) अकस्मात् दौर्बल्य, भ्रम तथा मूर्च्छा के साथ होता है। ज्वरताप १०२° से १०३° फा०, नाडी गति तीव्र, होती है। इसमे हृद्भेद से मृत्यु होती है। कोष्ठबद्धता इसका सामान्य लक्षण होता है। उचित प्रतिकार के अभाव मे मृत्यु हो जाती है। (३) तीसरा कष्ट इस प्रकार का उन लोगो मे देखा जाता है जो कारखानो मे निरन्तर ऊष्मा मे कार्य करते है। उन्हे 'हीट क्राम्प' (Heat cramp) होता है। इसमे मासपेशियो का भयंकर संकोच होता है। यह रक्त गत लवण (Chloride) के क्षय से, जो (अत्यधिक स्वेद के निकलने से होता है) उत्पन्न होता है। यह बहुत कष्टप्रद होता है।

प्रतिकार—पूर्वोक्तवत्। शीत क्रिया के लिये वर्फ और जल (लवण जल) की बस्ति का भी विधान है। शीतजलार्द्रवस्त्रावगुण्ठन का विधान है। आवश्यकता-

नुसार लवण जल की सिरावस्ति को भी देना चाहिये। शेष चिकित्सा लक्षणानुरूप करनी चाहिये।

आयुर्वेद वाङ्मय मे उपलब्ध ज्वर वर्णन की एक झाँकी—वैदिककालीन से लेकर अब तक के यथासाध्य उपलब्ध आयुर्वेद साहित्य मे जिस रूप मे ज्वर का वर्णन प्राप्त होता है उसके संकलन तथा समझने का प्रयास पूर्वोक्त पाच अध्यायो मे किया गया है। सकलनो के पूर्वापर पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्वरो के नामकरण मे यथा सभव सज्ञाओ को सर्वसुबोध रखने का प्रयास आचार्यों ने किया है जैसे—लक्षण रूप ज्वर, रोग रूप ज्वर, तथा उपद्रव रूप ज्वर। लक्षण रूप ज्वर की सज्ञा 'संताप' (त्वचा की वृद्धा ऊष्मा) है। रोग रूप ज्वर सताप के साथ कुछ अन्य शारीरिक तथा मानसिक अवश्यम्भावि लक्षणो का समुदाय है। ये ज्वर रोग मे होने वाले लक्षण ज्वर के आरब्धक कारण दोषो के अनुसार हुआ करते हैं अतः उनकी सज्ञा दोष परक होती है जैसे—वातज, पित्तज, कफज आदि। इसे निज भी कहा है। पुनः आगन्तुक कारणो से उत्पन्न होने वाले ज्वरो को आगन्तुज कहा है इन आगन्तुजो को भी इनके प्रकार विशेषानुसार अभिघातज, अभिचारज, अभिषङ्गज तथा अभिशापज सज्ञाये दी गई है। पुन. इनके विभिन्न कारणो के अनुसार ज्वर की सज्ञाये हुई हैं। जैसे अभिघातज के क्षतजादि, अभिचारज के मन्त्रज आदि, अभिषङ्गज के भूतग्रहावेशौषधिविषजादि तथा अभिशापज के गुरुद्रोह आदि। इसी प्रकार निज ज्वरान्तर्गत द्वद्वज सन्निपातज तथा सन्निपातज के भेदो की सज्ञा जैसे—वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, एक या दो अथवा तीनो दोषो के उल्वणत्व, हीन, मध्य, अधिकत्व के अनुसार एवं उनमे उत्पन्न होने वाले विशिष्ट लक्षणो के अनुसार उनकी सज्ञा दी गई है।

ज्वरो के काल बलादि के अनुसार पुन. उनकी समज्वर तथा विषमज्वर सज्ञाये दी गई है। विषम ज्वरके प्रकारो की संज्ञा भी इसी आधार पर दी गई है। इनके नाम मात्र से ही इनके प्रधान लक्षणका बोध हो जाता है। जैसे सन्तत से निरन्तर रहने वाला, सतत से दो बार चढने उतरने वाला, अन्येद्यु से एक बार चढने वाले ज्वर का बोध होता है। सतत का नाम सदन्दि ज्वर, तथा सतत का नाम द्विकालीन ज्वर भी है। इसी प्रकार अन्येद्यु का नाम एकाहिक ज्वर भी है। तृतीयक ज्वर, त्र्याहिक ज्वर, चातुर्थक ज्वर, पञ्चाहिकज्वर, षडाह ज्वर, पाक्षिक ज्वर, मासिक ज्वर, सम्बत्सरोत्थ ज्वर प्रभृति संज्ञाये ज्वरके आनेका काल निर्देश करते हैं। इन सभी विषम ज्वरो मे ज्वर के आगम, अपगम, क्षोभ, मृदुता, वेदना तथा ऊष्मा के वैषम्य का सकेत रहता है। इन निज, आगन्तुज तथा विषमज्वरो की सज्ञा पुनः इनकी अवस्थानुसार भी की गई है जैसे—आम ज्वर निराम ज्वर,

पच्यमान ज्वर, पक्वज्वर, तरुण ज्वर या नव ज्वर, जीर्ण ज्वर या पुराण ज्वर, चिरकालिक या चिर ज्वर, दैर्घरात्रि ज्वर, अन्तस्थ ज्वर, वहिस्थ ज्वर, केशसीमन्तकृज्ज्वर, शाखानुसारी ज्वर इत्यादि। इसी प्रकार प्रधान लक्षणो के अनुसार भी इनकी सज्ञाये हुई है जैसे—अरुणज्वर, बभ्रु या पीत या हारिद्र ज्वर, कृष्णमेह ज्वर, दाह ज्वर, प्लीहज्वर, विसर्प ज्वर, विस्फोट ज्वर, मसूरिका ज्वर, रोमान्तिका ज्वर, शीत ज्वर, शीताभिप्राय ज्वर, उष्णाभिप्राय ज्वर, वेला ज्वर इत्यादि।

इनके अतिरिक्त विशिष्ट कारणो से उत्पन्न होने वाले ज्वरो की सज्ञा निदान परक भी की गई है जैसे—वारिदोषोद्भव ज्वर, विरुद्ध भेषज ज्वर, ओजोनिरोधज ज्वर, स्तन्यागमोत्थ ज्वर, सूतिका ज्वर, अपप्रजाता ज्वर, ऋक्षदोषोद्भव ज्वर, विषज ज्वर, अजीर्णज ज्वर, ग्रहोत्थ ज्वर, भूताभिषङ्गज ज्वर, व्रण ज्वर, प्लीहज्वर, स्नेह विभ्रमज ज्वर, क्षतज ज्वर, क्षयज ज्वर, रोगोत्थानज ज्वर, सात्म्यविपर्ययज ज्वर, ऋतु विपर्ययज ज्वर, श्रमज ज्वर, मूशिक दशज ज्वर, इत्यादि। पुन कालपरक सज्ञा भी ज्वरो की प्राप्त होती है जैसे—अभ्रजा, शारद ज्वर, विश्वशारद ज्वर, वार्सिक ज्वर, ग्रैष्म ज्वर हायन ज्वर, रात्रिज्वर इत्यादि। स्थानपरक ज्वरो की सज्ञा भी उपलब्ध होती है जैसे—वन्य ज्वर या जाङ्गल ज्वर, देशान्तरीय ज्वर, इत्यादि। अवयव परक सज्ञा भी ज्वरो की शास्त्रो मे उपलब्ध होती है जैसे—सन्धिक ज्वर, नासा ज्वर, शाखानुसारी ज्वर, अर्धाङ्ग ज्वर, इत्यादि। इस प्रकार की सज्ञाओ का प्रचलन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे—रेमीटेन्ट (अविसर्गी), इन्टरमीटेन्ट (विसर्गी), कन्टीनीउअल (सदन्दि या संतत) पिरीयोडिकल (वेला ज्वर) रीलाप्सीग (पुनरावर्तक) एक्युट (उग्ररुपी) क्रौनीक (दीर्घकालिक) डेगु (दण्डडेक), ग्लान्ड्युलर (ग्रन्थिक) जङ्गल (वन्य ज्वर) क्वार्टन (चातुर्थक) क्वोटीडियन (अन्येद्युः) टर्सीयन (तृतीयक), जापानीज रीवर, फीवर रौकीमाउन्टेन फीवर, सेंडफलाई फीवर, ट्रेंच फीवर, टाइफस फीवर, इत्यादि।

इन उपर्युक्त ज्वर की सज्ञाओ मे चिकित्सक के लिये प्रतिकारार्थ पर्याप्त सकेत रहता है। ज्वर के सम्पूर्ण वर्णनो पर दृष्टिपात करने से इन्हे अधोलिखित विभागो मे विभक्त किया जा सकता है। जैसे—

(१) सक्रामक (Infectious and Contagious)—ऐसे ज्वर जिनके सम्पर्क मे आने वाला स्वस्थ पुरुष भी क्षमताहीन होने से ज्वर से सक्रान्त हो सकता है। जैसे—आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका ज्वर, ग्रन्थिक ज्वर (प्लेग) प्रभृति।

(२) असंक्रामक (Non-infectious and non-Contagious)—ऐसे ज्वर जिन के सम्पर्क मे आने पर भी स्वस्थ पुरुष उससे सक्रान्त नही होता है जैसे—निज ज्वर, विषम ज्वर (Malaria) प्रभृति।

(३) मरक, जनमार या जनपदोध्वंसी (Epedemic fevers)—यह इस प्रकार के ज्वर हैं जो जिस देश या प्रान्त मे जब उत्पन्न होते हैं तो उस देश या क्षेत्र के निवासियो को सामूहिक रूप मे आक्रान्त करते हैं और सामूहिक रूप मे उनका ध्वस भी करते हैं जैसे—प्लेग, मसूरिका, शोण ज्वर, रोमान्तिका आदि।

(४) स्थानिक ज्वर (Endemic)—यह वह ज्वर है जो स्थान विशेष मे कभी-कभी व्यापक रूप मे उत्पन्न होता है जैसे—मलेरिया, कालाजार आदि।

(५) वैयक्तिक या क्वाचित्की (Sporadic)—यह एक प्रकार का ऐसा ज्वर है जो व्यक्ति विशेष को ही आक्रान्त करता है जैसे—कर्णमूलिक ज्वर (Mumps) या पाषाण गर्दभ आदि।

सन्निपात ज्वर—सन्निपात ज्वर की मूल धारणा का सकेत-मात्र किया गया है। इस विषय पर कुछ और विशेष विवेचन आवश्यक है। 'सन्निपात' को दुश्चिकित्स्य रोगो मे श्रेष्ठतम कहा है तथा इसके चिकित्सक को कहा है कि वह मृत्यु के साथ युद्ध करता है।[1] सन्निपात ज्वर मे दोषो का पाक विलम्ब से होता है।[2] सन्निपात ज्वरो मे तीनो दोषो का प्रकोप होने से तीनो दोषो के लक्षण दुःसह रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। इनको भी पुनः दो भागो विभक्त कर दर्शाया गया है। यह विभाग दोषो के समवाय के स्वरूपानुसार किया गया है जैसे—(१) प्रकृति सम समवायारब्ध सन्निपात ज्वर तथा (२) विकृति विषम समवायारब्ध सन्निपात ज्वर।[3] इस द्विविध समवाय का ज्ञान (रोग निदान) तथा चिकित्सा मे सहायक होता है। इन उभयविध सन्निपात ज्वरो का वर्णन किया जा चुका है। प्रकृति सम समवेत सन्निपात ज्वर का लक्षण पृथक् रूप मे न कह कर यह निर्देश किया गया है कि इनके लक्षण वे ही होते हैं जो वात ज्वर तथा कफ ज्वर मे दृष्टिगोचर होते है। अर्थात् तीन दोषो के समवेत मिले हुए लक्षण अपेक्षाकृत दुःसह रूप मे दीख पडते हैं। परन्तु विकृति विषम समवेत सन्निपात ज्वरो मे कुछ इनसे भिन्न लक्षण भी होते हैं अत उनका पृथक्-पृथक् वर्णन अभीष्ट हुआ है। जैसे कि पहले निर्देश कर चुके हैं कि इन विकृत विषम समवेत सन्निपात ज्वरो के मूल

---

१ (i) "सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्' (च सू अ. २५)
(ii) "मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातचिकित्सिता।" (भालुकिः)
२ "चिरात् पाकश्च दोषाणा सन्निपातज्वराकृतिः।" (च. चि अ. ३)
३ (i) "सर्वजे सर्वलिङ्गानि" (सु उ. अ ३९-३८)
(ii) " ··प्रकृति समसम वेतस्य···सर्वदोषजे सर्वलिङ्गानि···इति (डल्हण)
(iii) च चि. अ ३-(चक्रपाणि)

१३ भेद सम्भव है जैसे—एक-एक दोषो के उल्वणता के अनुसार तीन, दो-दो दोषो के उल्वणता के अनुसार तीन, तथा तीनो दोषो के उल्वणता के अनुसार एक, इस प्रकार सात सन्निपात ज्वर दोषोल्वणता के अनुसार होते है। पुन हीन, मध्य तथा अधिक के अनुसार ६ सन्निपातो का उदय होता है। इस प्रकार मूल तेरह सन्निपात ज्वर होते हे जिनका उल्लेख पहले कर चुके है। इन सन्निपात ज्वरो के स्वतन्त्र नामकरण भी तन्त्रान्तरो मे प्राप्त होते हैं जिसका भी उल्लेख किया जा चुका है।[1]

१३ मूल सन्निपात ज्वरों के नाम

नाम	ग्रन्थ निर्देश	दोषावस्था
१ विस्फारक	आयुर्वेद विज्ञान	वातोल्वण
"	का० स०, भालुकिः	"
विस्फुरकः	"	"
२ (i) आशुकारी	आ० वि०	पित्तोल्वण
(ii) शीघ्रकारी	का० स० भालुकि॰	"
३ (i) कम्पन	आ० वि०	कफोल्वण
(ii) कप्फण (फप्फण)	का स भालुकि॰	"
४ (i) वभ्रु	आ वि	वात पित्तोल्वण
(ii) विघु या विभ्रु	का स, भालुकि	"
५. (i) शीघ्रकारी	आ वि	वातश्लेष्मोल्वण
(ii) मकरी	का स, भालुकि	"
६ (i) भल्लु	आ वि	पित्तश्लेष्मोल्वण
(ii) फल्गु	का स भालुकिः	"
७. (i) कूट पालक	आ वि	त्रिदोषोल्वण
(i) कूट पाकल	का स, भालुकि॰	"
(iii) अभिन्यास	सुश्रुत	"

१. (i) "एकोल्वणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्वणाश्च तथेति षट्।
व्युल्वणश्च भवदेको विज्ञेय स तु सप्तम ॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्।
सन्निपातज्वरस्यैव स्युर्विशेषास्त्रयोदश ॥" (आ वि)
(ii) "सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदश विधस्य हि।
प्राक्सूचितस्य वक्ष्यामि लक्षण वै पृथक् पृथक् ॥ (च. चि अ. ३)

८ सम्मोहक	आ वि.	कफ हीन,-पित्त
,,	मालुकि	मध्य-वात वृद्ध ।
९ (i) पालक	आ वि	कफहीन वात पित्त वृद्ध ।
(ii) पाकल	,,	,,
(iii) ककच	का सं मालुकि	,,
१० याम्य	आ वि	वातहीन, कफ मध्य
,,	का सं मालुकि,	पित्त वृद्ध ।
११ (i) ककच	आ वि.	पित्त हीन, कफमध्य
(ii)		वात वृद्ध ।
(iii) पालक	का सं मालुकि	,,
१२ कर्कटक	आ. वि	पित्तहीन, वात मध्य
,,	,,	कफ वृद्ध
१३ वैदारिक	आ. वि	वातहीन पित्त मध्य
,,	,,	कफ वृद्ध ।

मधुकोष व्याख्या मे विजय रक्षित ने इन सन्निपातो का उद्धरण मालुकि तन्त्र से देकर कुछ विचार किया है। उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद विज्ञानोक्त १३ प्रकार के सन्निपातो के नाम करण मे कुछ भिन्नता है जैसे—वातोल्वण को मालुकि ने विस्फारक, पित्तोल्वण को शीघ्रकारी, कफोल्वण को कक्कण या कम्पण, वात पित्तोल्वण को विघु या विभु, वातश्लेष्मोल्वण को मकरी, पित्तश्लेष्मोल्वण को फल्गु, त्रिदोषोल्वण को कूटपालक, कहा है। नाम भेद मात्र इनमे नही है अपितु लक्षणो के वर्णन मे भी कुछ भिन्नता दिखाई पडती है। जैसे—विस्फुरक के लक्षण मे—तृष्णा ज्वर ग्लानि, दृष्टिसक्षय, पिण्डिकोद्वेष्टन, दाह, ऊरुमाद, बलक्षय, सरक्त विण्मूत्र प्रवृत्ति, शूल, निद्राविपर्यय, गुदभेद, वस्ति परिकर्तन, आयाम, भेद, हिक्का, विलाप करना, हसना तथा रोना ये लक्षण कहे है जो विस्फारक के लक्षणो मे वर्णित नही है। केवल दो लक्षण पार्श्वरुक् और मूर्च्छा दोनो में समान है। इसी प्रकार अन्य शीघ्रकारी आदि के लक्षणो मे भी भेद दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तुलनात्मक वर्णन सन्निपात ज्वरो के भेद प्रदर्शक कोष्टको मे देखे।

सन्निपात ज्वरो का प्रभाव शरीर के सभी धातुओं तथा मलो (दूष्यो) पर होता है। इन धातुओ तथा मलो के दूषित होने के कारण ही सन्निपात ज्वरो को कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य कहा गया है और इसकी चिकित्सा का इतना महत्त्व दिया गया।

सन्निपात ज्वरो के भेद प्रदर्शक कोष्ठक

क्र.	नाम—	लक्षण—	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
१	विस्फारक (आयुर्वेद विज्ञाने योगरत्नाकरेच)	श्वास	आयुर्वेद विज्ञान	वातोल्वण सन्निपात ज्वर ।
		कास	योग रत्नाकर	
		भ्रम	" च चि अ ३	
		मूर्च्छा	" भालुकि	
		प्रलाप	" च चि अ ३	मधुकोष व्याख्या से उद्धृत ।
		मोह	"	
		वेपथु	"	
		पार्श्ववेदना	" भालुकि	
		जृम्भा	"	
		काषायास्यता	"	
	विस्फुरक— (भालुकितन्त्रे)	तृष्णा	भालुकितंत्र, च चि अ ३	
		ज्वर	"	
		ग्लानि	"	
		दृष्टि सक्षय	"	
		पिण्डिकोद्वेष्टन	"	
		दाह	"	
		ऊरुसाद	"	
		बल क्षय	"	चरक ने इसे पित्तोल्वण का लक्षण कहा है ।
		सरक्त विण्मूत्र प्रवृत्ति	"	
		शूल	" च चि ३	चरक में सन्धि, अस्थि तथा शिरःशूल का उल्लेख है ।
		निद्रा विपर्यय	"	
		गुदनिर्भेद	"	
		बस्तिपरिकर्तिका	"	
		आयाम	"	
		भेद	"	
		हिक्का	"	
		विलाप	"	
		स्फायन	"	
		रोदन	"	
		गौरव	च. चि ३;	
		कण्ठास्य शुष्कता	"	

क्र.	नाम—	लक्षण—	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
७	अह्मुकारा (आयुर्वेद विज्ञान, योग रत्नाकर)	अतिसार	आयुर्वेद विज्ञान,	पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर।
		भ्रम	" योग रत्नाकर	
		मूर्च्छा	" च चि अ ३	
		हृत्शूल	"	
		गात्र (शरीर) पर रक्त बिन्दुओं की उत्पत्ति	"	
		अतिदाह	भालुकितन्त्र च चि अ.३	बाह्य तथा आभ्यन्तर दाह और ज्वर की वृद्धि।
	शीतगात्र— (भालुकितन्त्र)	ज्वर (घोर-तीव्र)	भालुकितन्त्र	शीत सेवनान्तर व.क. मारुत प्रकोप वश।
		हिक्का	"	
		श्वास	"	
		प्रमीलक	"	
		विमूढचित्त	"	
		पर्वभेद	"	
		प्रलाप	"	
		गौरव	"	
		भ्रम	"	
		नासिकरुजा	"	
		पार्श्वरुजा	"	
		स्रोतमार्ग में रक्तस्राव		
		तृष्णा	" च चि अ. ३	
		दाह	"	
		रक्तनिष्ठीवन	च चि अ ३	
		बलक्षय	"	
८	वस्पन (आयुर्वेद विज्ञान योग रत्नाकर)	जड़ता	आ वे वि योग रत्नाकर	कफोल्वण सन्निपात।
		गद्गदवाणी	"	
		रात्रि में निद्रा	" भालुकि.	
		प्रस्तब्ध नेत्र	"	
		मुखमाधुर्य	" भालुकि.	
	कण्कण या कण्कण (भालुकि)	शीतज्वर	भालुकि तन्त्र	
		गौरव	"	
		आलस्य	" च. चि अ ३	
		तन्द्रा	" "	
		छर्दि	" च चि अ ३	
		मूर्च्छा	"	
		तृषा	"	

क्र.	नाम—	लक्षण—	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
३	[illegible]	दाह	[illegible]	
		[illegible]	"	
		अतीसार	[illegible]	[illegible]
		हृद्ग्रह	"	[illegible]
		[illegible]	"	
		[illegible]	"	
		वाग्ग्रह	"	
		दृष्टिग्रह	"	[illegible]
		पित्तोद्रेक	"	
		वातोद्रेक	"	
		मोह	"	
		हृल्लास	च चि [illegible] ३	
		अरुचि	"	
		श्रम	"	
		कास	"	
४	[illegible] (आ. वे त्रि यो र)	ज्वर	[illegible] मालुकि	[illegible]
		मद	"	
		तृष्णा	[illegible]	
		मुखशोष		तालुशोष।
		प्रमीलक	"	
		आध्मान	"	
		अरुचि	"	
		तन्द्रा		
		कास	"	
		श्वास	"	
		श्रम	"	
	विस्रु या विस्रु- (मालुकि	भ्रम	" च चि ३	
		अङ्गमर्द	मालुकि	
		तालुशोष	"	
		दाह	च चि अ ३	
		गौरव	"	
		अतिनिद्रा	"	

क्र.	नाम—	लक्षणें—	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
५	शीघ्रकारी— (आ. वे वि यो र)	शीतज्वर	आ वे. वि यो र च चि. ३, भालुकि	वातश्लेष्मोल्बण सन्निपात ज्वर।
		मूर्च्छा	,,	
		क्षुत्	,, भालुकि	
		तृष्णा	,, भालुकि	
		पार्श्वनिग्रह	,, भालुकि	दक्षिण पार्श्वतोद।
		शूल	,, भालुकि	
		अस्वेद	आ वे वि, यो. र	वातश्लेष्मोल्बण सन्निपात
		तन्द्रा	,, भालुकि:	
	मकरी (भालुकि:)	श्वास	च चि ३	
		निद्रा	,,	
		शिरोगौरव	भालुकि	
		आलस्य	,,	
		उरोदाह	,,	
		कटिरुक	,,	
		प्रमीलक	,,	
		शैत्य	च चि अ ३	
		कास	,,	
		अरुचि	,,	
		दाह	,,	
		रुजा (कटिरुक)	,, भालुकि	कटिरुक् बस्तिरुक्।
		व्यथा	,,	
६	भल्लु— (आ. वे वि, यो र)	अन्तर्दाहबहि.	अ वे वि यो र	पित्तश्लेष्मोल्बण सन्निपात ज्वर।
		शीत	,, भालुकि	
		तृष्णा	,, ,, च चि ३	
		दक्षिण पार्श्वतोद	,, ,,	
		उरोग्रह	,, ,	
		शीर्षग्रह	,, ,,	
		गलग्रह	,, ,	
		श्लेष्मपित्त	,	
		निष्ठीवन	,, ,,	
		(कृच्छ्रतापूर्वक)		
		कोठ	,,	
		विड्भेद	,, ,	
		श्वास	,	
		हिक्का	,, ,,	
		प्रमीलक	, ,,	

क्र.	नाम—	लक्षण	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
	फक्कु— (भालुकि)	तन्द्रा	भालुकि	
		वण्डु	,,	
		मोह	च चि अ ३	
		छर्दि	च चि अ. ३	
		शैत्य	,,	
		दाह (मुहुर्मुहु)	,,	
		अतिवेदना	,,	
७	कूटपाकल— (अ वे वि यो र)	तीनों दोषों के दुस्सह तथा भयङ्कर लक्षण	आ वे वि, यो र का म	त्रिदोषोल्बण सन्निपात ज्वर।
		केवलोच्छ्वास	,,	इस ज्वर से पीड़ित पुरुष की आयु तीन रात की होती है। इसके लक्षण ऐसे विचित्र होते हैं कि चिकित्सक मोह में पड़ जाता है। मूढ लोग इन लक्षणों को देख कर राक्षस, पिशाचादि से गृहीत समझते हैं।
		स्तब्धाङ्ग	,,	
		स्तब्ध लोचन	,,	
		इससे आक्रान्त रोगी न सुनता है, न देखने में ही समर्थ होता है	,,	
		क्षणे दाहः क्षणे शीतः	च चि अ ३	
		अस्थि, सन्धि तथा शिर में रुजा	,,	
		सास्राव, कलुष, तथा रक्तवर्ण का नेत्रों होना	,,	मूकता, स्रोतों का पाक, उदर गौरव, दोषों के देर से पाक।
		एवं निर्भुग्ननेत्र का होना	,,	
		कानों में शब्दों का सुनाई देना तथा पीड़ा होना	,,	
		शूकावृत कण्ठ तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम	,,	
		परिदग्धा, खरस्पर्श जिह्वा, स्रस्ताङ्गता		
		सरक्त पित्तकफ ष्ठीवन	,,	
		शिरोलोठन	,,	
		तृष्णा, निद्रानाश	,,	

क्र.	नाम	लक्षण	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
७	कूटपालक—(अ वे वि यो र.)	हृदय व्यथा	च चि अ ३	
		स्वेद मूत्र पुरीष का विलम्ब से तथा अल्प प्रवृत्ति	,,	
		गात्रों का अनतिकृशत्व	,,	
		प्रतत कण्ठकूजन	,,	
		श्याव रक्तकोठों तथा मण्डलाकार दर्शन	,,	
८	सम्मोहक (आ वि, यो र)	प्रलाप	आ वे वि, यो र	वात प्रवृद्ध पित्त मध्य कफ हीन सन्निपात ज्वर।
		आयाम	,,	
		सम्मोह	,,	
		कम्प	,,	
		मूर्च्छा	,,	
		अरति	,,	
		भ्रम	,,	
		एक पक्षाभिघात	,,	
		श्वास	च चि अ ३	
		कास	,,	
		प्रतिश्याय	,,	
		मुखशोष	,,	
		अतिपार्श्वरुक्	,,	
९	पालक (आ वे वि, यो र)	मोह	आ वे वि, यो र	पित्त प्रवृद्ध वात मध्य कफ हीन सन्निपात ज्वर।
		प्रलाप	,,	
		मूर्च्छा	,,	
		मन्यास्तम्भ	,,	
		शिरोग्रह	,,	
		कास	,,	
		श्वास	,,	
		भ्रम	,, च चि अ ३	
		तन्द्रा	,,	
		संज्ञानाश	,,	
		हृद्व्यथा	,,	
		स्रोतों से रक्तस्राव	,,	
		सरक्त स्तब्ध नेत्रता	,, —का स क	
		वर्चोभेद	च चि अ ३	

क्र.	नाम	लक्षण	ग्रन्थनिर्देश	विशेष
	वैडालिक—	श्रम	आ वे वि, यो र	
		क्लम	"	
		वस्तिरुक्	"	
		शिरोरुक्	"	
		मन्यारुक्	"	कफ प्रवृद्ध पित्त मध्य वात हीन सन्निपात ज्वर।
		हृदयरुक्	"	
		वाग्रुक्	"	
		प्रमालक	"	
		श्वास	"	
		हिक्का	"	
		जडता	"	
		विमज्जना	"	
		प्रतिश्याय	च चि अ ३	
		छर्दि	"	
		आलस्य	"	
		तन्द्रा		
		अरुचि		
		अग्निमार्दव		

उपर्युक्त भेद प्रदर्शक कोष्ठको से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न सन्निपात ज्वरो के लक्षणों के वर्णन मे पर्याप्त मतभेद है। इनके नामकरण मे भी परस्पर मतभेद दृष्टिगोचर होता है जैसे—काश्यप ने वात प्रवृद्ध कफ मध्य पित्त हीन सन्निपात ज्वर को 'पाकल सन्निपात ज्वर' कहा है और इसी को योगरत्नाकर तथा आयुर्वेद विज्ञान मे 'क्रकच सन्निपात' कहा है। काश्यप ने पित्त प्रवृद्ध, वात मध्य कफ हीन सन्निपात ज्वर को 'क्रकच सन्निपात' कहा है जिसे योगरत्नाकर तथा आयुर्वेद विज्ञान मे 'पालक सन्निपात' कहा गया है। भालुकि ने भी कुछ भिन्न सज्ञाये दी हैं जैसे—विस्कारक की विस्फुरक, आशुकारी की शीघ्रकारी, कम्पन की फप्फण या कफ्फण, वभ्रु की विबु या विभु, शीघ्रकारी की मकरी, भल्लुक की फल्गु, इत्यादि।

इन संज्ञा भेदो का तथा लक्षण भेदो का क्या कारण हो सकता है इस पर थोड़ा ऊहापोह करना आवश्यक है।

काश्यप ने सन्निपात नामकरण के दो कारण बताए है जैसे (१) तीनो दोष मिल कर निश्चित रूप से शरीर गिरा देते है अत इसका नाम सन्निपात हुआ है अथवा (२) शीघ्र ही यह शरीर को नष्ट कर देता है अतः यह सन्नि-

पात कहलाता है।[1] 'सन्निपात' का अर्थ सम्मिलित भी होता है जैसे 'रस-दोष सन्निपाते' तथा 'दोषधातु सन्निपाते' आदि प्रसङ्गो मे। देखा भी जाता है कि सन्निपात ज्वरो मे तीनो दोषो के सम्मिलित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। पहले निर्देश कर चुके हैं कि जिन सन्निपात ज्वरो के लक्षण उपलब्ध तन्त्रो मे प्राप्त होते हैं वे सब विकृति-विषम-समवेतारब्ध सन्निपात ज्वरे हैं। ऐसी परिस्थिति मे विकृति विषम समवेतारब्ध सन्निपात ज्वरो मे विभिन्न लक्षणो का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। पर्यवेक्षक आचार्यो ने जिन-जिन लक्षणो को देखा अपनी सुविधानुसार वर्णन किया तथा उनका नामकरण भी किया। इससे उनकी चिकित्सा मे कोई भेद का सशय नही।[2] रोगो के नाम-करण मे कितनी स्वतन्त्रता हमारे आचार्यो ने दी है उसका मूर्त्त उदाहरण सन्निपात ज्वरो की अन्य १३ सज्ञाओ से प्राप्त हो जाता है। इन सज्ञाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मुख्यरूपेण लक्षण परक सज्ञाये ही हैं। इन तेरहो मे कौन लक्षण मुख्य है तथा कौन गौण है नीचे निर्दिष्ट कोष्ठक से स्पष्ट हो जायगा :—

नाम	प्रधान लक्षण	गौण लक्षण
१–शीताङ्ग	"शीताङ्गता" वहुवात वमन स्वरविकृति	श्वास कास हिक्का मोह, क्लम, कम्प, प्रलाप, वहुकफता, दाह, अङ्गपीडा
२–तन्द्रिक	"अतितन्द्रा" अतिसन्तप्त तनु गलेश्वयथु— गलेकण्डू सुश्यामा रसना	तृषा, अतिसार, श्वास, कास, रुक्, क्लम, कफ, दाह, श्रवण मन्दता
३–प्रलापक	अतिप्रलाप (सहसोत्थ)	कम्प, व्यथा, दाह, पतन, विसञ्ज्ञता

१ "सङ्गता नियत यस्मात् पातयन्ति कलेवरम्।
अन्यच्चाशु सन्निपत्यातो वा सन्निपातता॥" (का स क)

२ "स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये, विकारसङ्घा वहव· शरीरे। न ते पृथक् पित्तकफानि-लेभ्य ···(च. चि १९) तत्रानुवन्ध प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा तत· कर्म समाचरेत्॥"

नाम	प्रधान लक्षण	गौण लक्षण
४–रक्तष्ठीवी	रक्तष्ठीवन—कृष्णमण्डल तनौनयन लौहित्य'	तृषा, अरुचि, वमन, श्वास, अतिसार, भ्रम, आध्मान, विसञ्ज्ञता, पतन, हिक्का
५–भुग्ननेत्र	भुग्ननेत्रता या नयन वक्रता	श्वास, कास, तन्द्रा, मद, प्रलाप, वेपथु, श्रवणहानि, मोह
६–अभिन्यास	अतिमोह, विचेष्टता, विकलता. चिक्कणमानन	श्वास, मूकता, दाह, बलक्षय, अग्निमान्द्य
७–जिह्वक	अत्यधिक वृत्ता, कठिना-कण्टकावृता जिह्वा	मूकता, श्रुति क्षति, बलक्षय, श्वास, कास, सन्ताप
८–सन्धिग	सन्धियों में सव्यथा शोथ	प्रभूतकफता मुखे, अनिद्रा, कास, रुक्
९–अन्तक	अजस्र मूर्धविधूनन, अति-सन्ताप वैकल्प	कास, सर्वाङ्गपीडा, हिक्का, श्वास, दाह, मोह, प्रलाप
१०–रुग्दाह	अत्यधिक रुग् दाह, मन्या तथा हनु में व्यथा	श्वास, प्रलाप, अरुचि, भ्रम, मोह, पीडा, कण्ठरुजा, श्रम
११–चित्तभ्रम्	चित्तविभ्रम हँसना, गाना, नाचना विकृत निरीक्षण	प्रलाप, मोह, दाह, व्यथा, भय
१२–कर्णिक	कर्णमूलशोथ, वाधिर्य, प्रस्वेद	ज्वर, तीव्र, कण्ठग्रह, श्वास, प्रलाप, मोह, दाह
१३–कण्ठकुब्ज	शूकशतावरुद्ध कण्ठ, ध्वनि, हनुस्तम्भ	श्वास, प्रलाप, अरुचि, दाह, देहरुजा, तृषा, शिरोरुक्, मोह, वेपथु

इसी प्रकार तन्त्रान्तरो मे अन्य १३ नाम भी सन्निपात ज्वरो के प्राप्त होते हैं जिनका संकेत पहले किया जा चुका है। जैसे (१) कुम्भीपाक मे प्रधान लक्षण नासामार्ग से अत्यधिक कृष्णमिश्रित लाल रग के रक्त का निःस्राव, (२) प्रोर्णुनाव मे अपने अङ्गो को ऊपर उठा-उठा कर नीचे फेंकना, (३) प्रालपिनी मे अत्यधिक प्रलाप, (४) अन्तर्दाह मे अन्तर्दाह और बहिः शीत, (५) दण्ड पात मे उठ-उठ कर भ्रमातुर हो सर्वत्र घूमना, (६) अन्तक मे सम्पूर्ण शरीर

मे ग्रन्थि का निकल आना, (७) एणीदाह मे सम्पूर्ण शरीर मे दाह तथा सर्प आदि के विचरण का अनुभव होना, (८) हारिद्रक मे सम्पूर्ण शरीर का हरिद्रवर्ण हो जाना, (९) अजघोष मे वकरे की वोली के समान आवाज का हो जाना, (१०) भूतहास मे हँसना, रोना तथा नाचना आदि, (११) यन्त्रा-पीड मे शरीर का यन्त्र से पीडित हुए जैसे अनुभव होना, (१२) सन्यास मे अक्षिमण्डल का उग्र हो जाना तथा अङ्गो का इधर-उधर फेंकना और (१३) सशोषिणी मे मेचक के समान शरीर का हो जाना आदि प्रधान लक्षण के रूप मे होते है।

विषम ज्वर—विषम ज्वर के सम्बन्ध मे पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है अत उसे पुन दोहराने की यहाँ कोई आवश्यकता नही।

पिडकामय ज्वर—इनके अन्तर्गत उन ज्वरो का ही वर्णन किया गया है जिन मे ज्वर के साथ-साथ शरीर के विभिन्न भागो पर पिडकाये निकल आती है। ये पिडकायें अनेक प्रकार की होती हैं और इनसे युक्त ज्वरे भी नाना प्रकार के होते है। इनमे कुछ भयानक सक्रामक होते हैं कुछ अल्प सक्रामक तथा कुछ असक्रामक भी होते है। साथ ही कुछ तो जानपदिक रूप मे उत्पन्न होने वाले होते है तथा कुछ ऐसे भी होते है जो स्थान विशेष या समय विशेष मे ही उत्पन्न होते हैं। इन सभी प्रकार के पिडकामय ज्वरो का वर्णन किया जा चुका है।

आगन्तुक ज्वर—इन ज्वरो का भी क्षेत्र वहुत व्यापक है। ये अनुबन्ध्या-नुबन्ध उभय रूप मे पाये जाते हैं। जैसे कहा जा चुका है कि विषम ज्वरो मे प्राय आगन्तुक कारणो का अनुबन्ध होता है। अनुबन्ध्य रूप आगनुक ज्वरे वे हैं जिनमे आघातादि ज्वर की उत्पत्ति मे कारण होते हैं। दोषवैषम्य इनमे पश्चात् काल मे हुआ करता है।

—०—

परिशिष्ट

ज़हर मोहरा पिष्टी और भस्म (रसामृत)

यह एक बहुरंगी पत्थर (खनिज) है। पिलाई लिये हुए हरे रंग का ज़हर मोहरा श्रेष्ठ माना जाता है। खातोन पर्वतमाला मे इसकी उपलब्धि होती है अत इसको 'जहर मोहरा खताई' भी कहते हैं। इसका प्रयोग युनानी वैद्यक मे प्रचुर रूप मे होता है। सम्प्रति आयुर्वेदीय चिकित्सक भी इसका व्यवहार पर्याप्त रूप मे करते हैं। इसका नाम नाग पाषाण तथा हरिताश्म भी परवर्ती आचार्यों ने रखा है। चीन खता तिब्बत, ख़ुरासान तथा मध्य भारत की पर्वत-मालाओ मे भी इसकी उपलब्धि होती है।

संगठन—आधुनिक विश्लेषणानुसार यह कैलसियम (चूना), सिलिका (सिकता) और गन्धक का योग प्रतीत होता है।

गुण-कर्म—युनानी मतानुसार यह पहले दर्जे का उष्ण एव रूक्ष गुण-युक्त होता है। यह सौमनस्य-जनक, उत्तमाङ्गो को बल देने वाला, तथा ओजोवर्धक है। यह सतापहर तथा विषहर है। इसका प्रयोग शुद्ध कर भस्म या पिष्टी बना कर होता है। भस्म तथा पिष्टी की मात्रा १ से ४ रत्ती दिन मे ३ बार मधु के साथ अन्य यथायोग्य अनुपान से किया जाता है। इसका भस्म पित्त-प्रसाधक तथा पौष्टिक है। ज्वर के सताप को यह कम करता है तथा पित्त-प्रसाधक होने से बच्चो के हरे-पीले अतिसार मे सफलतापूर्वक उपयोग मे आता है। यह छर्दि को भी नष्ट करता है। रक्तचापवृद्धि को भी यह न्यून करता है। यह पित्तहर होने से ज्वरहर होता है। दन्तोद्भेद जन्य बालको के कष्ट मे यह सफलतापूर्वक व्यवहृत होता है।

विषाण भस्म (रसामृत)

यह मृग (हिरण) के शृङ्ग का भस्म है। मृग-शृङ्ग को टुकडे-टुकडे कर निम्बु के रस मे पहले शुद्ध कर लेते है। तदनन्तर उसे अग्नि दग्ध कर भस्म बनाते हैं। इसका भस्म प्राय कृष्णवर्ण का होता है परन्तु अधिक दग्ध हो जाने पर घूसर श्वेताभ भस्म होता है। इसका भस्म आक के दुग्ध मे अभिषिक्त कर इसे पीस कर टिकिया बना शराव सम्पुट मे रख गजपुट मे फूँकने से भी हो जाता है। भस्म की मात्रा १ से ३ रत्ती दिन मे ३ बार। इसके भस्म बनाने की अनेक अन्य विधियाँ भी हैं।

गुण-कर्म—यह ज्वरघ्न होता है। हृदय तथा फुफ्फुस को बल प्रदान कर उनकी गति का नियमन करता है। फुफ्फुस में जमे कफ का विलयन कर उसका स्राव कराता है। अतः श्वसनक ज्वर तथा अन्य फुफ्फुस विकारों में भी स्वतन्त्र रूप से तथा अन्य औषधों के साथ उपयोग में आता है। यह पित्त-प्रसाधक तथा वात श्लेष्महर होता है। इसका प्रभाव क्षय के कीटाणुओं पर भी होता है। यह शरीर में उत्पन्न कीटाणु जन्य विषों को उदासीन करता है। यह हृद्य होने से हृदय के विकारों में भी प्रयुक्त होता है। यह जीर्ण ज्वर, सेन्द्रिय विषजनित अस्थिक्षय, राजयक्ष्माजन्य ज्वर, प्रतिश्याय प्रभृति में सफलतापूर्वक प्रयोग में आता है। यह विशेष रूप से कफ दोष, रस-रक्त-अस्थि इन धातुओं की पुष्टि में, श्वसनेन्द्रिय, हृदय तथा वृक्क इन के विकारों में लाभप्रद होता है।

गोदन्ती भस्म (रसामृत)

यह खटिक का एक योग (Calcium Sulphate) है। इसको जीप्सम (Gypsum) भी कहते हैं। गरम जल में अच्छी प्रकार प्रक्षालन करने से इसकी शुद्धि हो जाती है। रसतरङ्गिणी में इसकी निम्बु स्वरस से तथा द्रोणपुष्पी स्वरस से शुद्धि करने का विधान है। शुद्धि के अनन्तर शराव सम्पुट में यथाविधि इसका भस्म बनाते हैं। इसकी मात्रा (भस्म की) ४ रत्ती से २ माशा तक है।

गुण-कर्म—इसका भस्म शीतल, पित्तज्वरघ्न, दीपन तथा बल्य होता है। ज्वर के सन्ताप को कम करने के लिए इसका पर्याप्त प्रयोग होता है। यह शिर शूल तथा प्रतिश्यायजन्य कास में अच्छा लाभ करता है। धातुओं का बृंहण होने से यह बालशोष, उर क्षत तथा पाण्डु रोग एवं श्वेत प्रदर में लाभ करता है। यह दाह, तृषा तथा रक्तस्राव को नष्ट करता है। इसका प्रभाव जीर्ण ज्वर तथा विषम ज्वर पर भी अच्छा होता है। यह ज्वर सन्ताप को दूर करने के साथ-साथ ज्वर प्रतिषेधक भी होता है।

शिरःशूल—सूर्यावर्त्त तथा अर्धावभेद में, मस्तिष्क में उष्णता होने पर इसके भस्म का प्रयोग (१ मा० से २ मा० तक) घी (१ तो०) तथा शक्कर (१ तो०) के साथ अच्छा लाभ करता है। यह आमदोष का पाचन भी करता है। बृंहण होने से बच्चों के शोष (बालशोष) में भी इसका स्वतन्त्र तथा अन्य औषधों के साथ प्रयोग होता है। अनुपान भेद से तथा अन्य ज्वरघ्न, औषधों के साथ इसका प्रयोग जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर आदि में होता है।

मुक्ता भस्म या पिष्टी (रसामृत)

युनानी चिकित्सक भस्म की अपेक्षा पिष्टी का प्रयोग अधिक करते हैं। घृत-कुमारी स्वरस मे घोटकर टिकिया बना शराव सम्पुट मे इसका यथाविधि भस्म बनाते हैं। विशेष प्रकार के खरल मे (सगमुसा या श्यामक) इसको गुलाबजल मे घोटने से इसकी पिष्टी तैयार होती है। मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

गुण-कर्म—यह कफ, पित्त, क्षय, कास, श्वास, अग्निमान्द्य, दाह तथा ज्वर के सन्ताप को नष्ट करता है। यह हृदय तथा मस्तिष्क को बल प्रदान करता है। यह शीतवीर्य होने से पित्त का प्रबल शामक है तथा अपने बल्यगुण के कारण वात का भी शमन करता है। यह मस्तिष्क की दुर्बलता को दूर करने के लिये परमोपयोगी औषध है। गर्मी के दिनो मे तीव्र धूप मे भ्रमण करने से, अग्नि का अधिक सेवन करने से तथा अधिक जागरण से उत्पन्न नासा रक्तस्राव मे यह परम लाभप्रद होता है। यह पित्त के सभी विकारो मे तथा रस-रक्त-मास-अस्थि इन धातुओ की दुष्टि मे परम हितकर होता है। त्वचा, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, अन्तःस्रावी ग्रन्थियो के विकारो मे यह अच्छा लाभ करता है। राजयक्ष्मा मे इसका स्वतन्त्र तथा अन्य योगो के साथ पर्याप्त रूप मे व्यवहार होता है और इससे लाभ भी पहुँचता है। आभ्यन्तर रक्तस्राव मे अन्य रक्तस्तम्भक औषधो के साथ इसका सफलतापूर्वक उपयोग होता है।

गोदन्ती मिश्रण (सिद्धयोग सग्रह)

गोदन्ती भस्म ८ भाग, जहरमोहरा पिष्टी २ भाग, रसादि वटी २ भाग। सबको एकत्र मिलाकर खरल कर काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ माशा, दिन मे ३ से ४ बार यथा आवश्यक प्रयोग करे।

यह योग ज्वर के सन्ताप को कम करने के लिए निरापद औषध है। इनके भिन्न घटको का वर्णन यथास्थल किया जा चुका है। यह सब प्रकार के ज्वरो मे सन्ताप को न्यून करने के लिए सफलता पूर्वक प्रयोग मे आता है। अनुपान की व्यवस्था यथादोष चिकित्सक ज्वर की अवस्था को देखकर कर ले।

रसादि वटी (सिद्धयोग सग्रह)

कज्जली	२ भाग	सुगन्धवाला	१ भाग
कपूर	१ ,,	नागरमोथा	१ ,,
सफेद चन्दन	१ ,,	खस	१ ,,
जटामासी	१ ,,		

कज्जली को छोडकर अन्य सबको एकत्र कर बारीक चूर्ण कर ले। पुनः

कज्जली को भी उपर्युक्त चूर्ण मे मिलाकर अच्छी प्रकार खरल करे। पश्चात् अर्क गुलाब तथा अर्क चन्दन की यथाविधि भावना देकर वटी बना ले।

मात्रा—२ से ४ रत्ती।

इसमे सूक्ष्म एला बीज, दरयाई नारियल (समभाग मे) मिलाने से विशेष लाभ होता है। यह ज्वर के सन्ताप, दाह, तृष्णा तथा हिक्का को नष्ट करता है।

हिंगुलेश्वर रस (रसतरङ्गिणी)

शुद्ध वत्सनाभ	२ तोला	पिप्पली चूर्ण	२ तोला
शुद्ध हिंगुल	२ „		

समभाग।

इन उपर्युक्त तीनो द्रव्यो को उक्त प्रमाण मे लेकर जल या निम्बु (कागजी) के रस मे अच्छी प्रकार घोट कर आधी रत्ती की गोली बना लें। सूखने पर काँच की शीशी मे सुरक्षित करे। मात्रा १ से ३ गोली दिन मे ३ बार अवश्यकतानुसार।

गुण-कर्म—इससे वात ज्वर तथा आमवातोत्थ ज्वर मे अच्छा लाभ होता है। माङ्गमर्द तीव्र ज्वर मे तथा सन्धिशूल युक्त आमवातिक ज्वर मे इसके प्रयोग से लाभ होता है। इसका प्रयोग विशेषकर नव ज्वर मे ही होता है।

मृत्युञ्जय रस (रसतरङ्गिणी)

शुद्ध वत्सनाभ	पिप्पली चूर्ण
शुद्ध हिंगुल	मरिच चूर्ण
शुद्ध गन्धक	शुद्ध टकण चूर्ण

इन सबको समभाग लेकर तीन दिन आर्द्रक रस की यथाविधि भावना देवे और आधी रत्ती की वटी बनाकर सुखा ले और सूखने पर काँच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी दिन मे ३ बार। अनुपान अदरख का स्वरस या जल तथा मधु।

गुण-कर्म—यह सब प्रकार के ज्वर के सन्ताप को दूर करता है। वात ज्वर, पित्त ज्वर, फुफ्फुस शोथयुक्त ज्वर तथा प्रवाहिका को शान्त करता है। आध्मान तथा अजीर्ण युक्त ज्वरो मे इसके प्रयोग से अच्छा लाभ होता है। इन्फ्लुएञ्जा तथा न्यूमोनिया के प्रथम अवस्था मे इसके प्रयोग से लाभ होता है। इसका प्रयोग विशेष रूपेण नव ज्वर मे ही होता है।

त्रिभुवनकीर्ति रस (सिद्धयोग संग्रह)

शुद्ध हिंगुल	१ भाग	शुद्ध टंकण	१ भाग
शुद्ध वत्सनाभ	१ ,,	पीपलमूल	१ ,,
त्रिकटु	३ ,,		

इन सबको यथोक्त प्रमाण मे लेकर खूब बारीक चूर्ण कर ले। पुन इन्हे यथाविधि तुलसी स्वरस, आर्द्रक स्वरस और धत्तूरपत्र स्वरस की क्रमशः ३–३ भावनाएँ देकर आधी रत्ती की वटी बना ले और सूखने पर कांच की शीशी मे सुरक्षित करे। वृद्ध वैद्य परम्परा के अनुसार इसमे जीरा और सौंफ ये दो औषधियां और मिलाते है।

मात्रा—१ से २ वटी दिन मे ३ वार आर्द्रक स्वरस और मधु के साथ।

गुण-कर्म—यह ज्वरघ्न, कफघ्न, स्वेदल तथा वेदनाहर है। यह सब प्रकार के वातप्रधान तथा कफप्रधान नव ज्वरो मे, वात कफ ज्वर (Influenza), सतत तथा सततक ज्वर मे लाभ करता है। रोमान्तिका के ज्वर मे जब श्वास अधिक हो और कुछ दाने बाहर आ गए हो तो आभ्यन्तर विष को बाहर निकालने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। यह वत्सनाभप्रधान औषधियो मे सर्वोत्तम ज्वरहर योग है।

इस रस के सेवन करने पर हृदय, मस्तिष्क स्थित हृदय केन्द्र पर इसकी प्रक्रिया होती है। इसके प्रयोग से त्वगस्थित स्वेद ग्रन्थियां उत्तेजित होती हैं जिससे प्रचुर मात्रा मे स्वेद निकलता है और ज्वर का सन्ताप न्यून होता है। इसमे मूत्र का परिमाण बढ जाता है जिससे मूत्र प्रवृत्ति अधिक होती है। वात-नाडियो पर इसका संशमन प्रभाव होने से यह वेदनापह भी होता है। इसके प्रयोग से श्वास कष्ट मे भी लाभ होता है। प्रतिश्याय (जुकाम) होकर शुष्ककास सहित ज्वर मे इसके प्रयोग से लाभ होता है। यह कण्ठ के श्लैष्मिककला मे उत्पन्न क्षोभ को तथा फुफ्फुस प्रदाह एव फुफ्फुसावरण शोथ को शान्त करता है।

ज्वरकेशरी (भैषज्य रत्नावली)

कज्जली	२ भाग	त्रिफला चूर्ण	३ भाग
शुद्ध वत्सनाभ	१ ,,	शुद्ध जमालगोटा	१ ,,
त्रिकटु चूर्ण	३ ,,		

सभी औषधो को यथोक्त परिमाण मे लेकर बारीक चूर्ण कर १२ घण्टे भांगरे के रस मे खरल करे। पुन १ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ से २ वटी दिन मे २ या ३ बार आवश्यकतानुसार। अनुपान जल, नारिकेल जल तथा मधु।

इसका उपयोग प्रधानरूपेण पित्त ज्वर मे होता है। परन्तु अन्य नव ज्वरो मे भी जिनमे कोष्ठवद्धता हो ज्वर के सन्ताप को दूर करने के साथ-साथ कोष्ठशुद्धि के लिए इसका प्रयोग होता है। इसके प्रयोग से ज्वर का सन्ताप, दाह तथा कोष्ठ-बद्धता दूर होती है। यह अग्निमाद्य शूल, अजीर्ण तथा अन्य पित्त विकारो को शान्त करती है।

ज्वर संहार रस (रसामृत)

निम्ब की अन्तरछाल, सोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, कूठ, नागरमोथा, शुद्ध टंकण, पीली सरसो, इन्द्रयव, लाल चन्दन, कालीजीरी, कुटकी, अतीस, इन सभी द्रव्यो को समभाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले तथा कपड़छान कर ले। उक्त सभी द्रव्यो के चूर्ण के समभाग रस-सिन्दूर लेवे और इसे भी खूब महीन चूर्ण कर लें। पुन महीन पीसे हुए रस-सिन्दूर मे उक्त कपडछान किए हुए चूर्ण को मिलावे और सम्भालु की पत्ती, तुलसी, धतूरे की पत्ती और अदरख के स्वरस की यथाविधि एक-एक भावना देवे और २–२ रत्ती की वटी बनावे तथा उन्हे छाया मे सुखा ले।

मात्रा—१–२ वटी मधु तथा किसी ज्वरहर कषाय के अनुपान से देवे।

यह सब प्रकार के ज्वर को दूर करता है। विशेषकर इसका उपयोग कफ ज्वर और वात ज्वर मे लाभप्रद होता है। अनुपान भेद से यह सब प्रकार के ज्वरों मे व्यवहृत होता है। इसका उपयोग अकेला या गोदन्ती भस्म के साथ होता है। गोजिह्वादि क्वाथ के अनुपान से यह कफ ज्वर मे अच्छा लाभ करता है। कफज्वर मे यदि पार्श्वशूल हो तो २ से ६ रत्ती श्रृङ्ग भस्म के साथ देने से पर्याप्त लाभ होता है। श्वसनक ज्वर मे (Pneumonia) इसके साथ शृग भस्म ४ से ८ रत्ती तथा अभ्रक भस्म १ रत्ती मिलाकर देने से लाभ होता है। इसके अनुपान मे गोजिह्वादि क्वाथ अथवा भार्ग्यादि क्वाथ नवसादर तथा यवक्षार का प्रतिवाय देकर देने से अधिक लाभ होता है।

सञ्जीवनी वटी (शार्ङ्गधर संहिता)

विडग	वहेडा
सोठ	वचा
पिप्पली	गुडूची
हरड	शुद्ध भल्लातक
आंवला	शुद्ध वत्सनाभ

इन सभी द्रव्यो को समभाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले, पुन इन्हे एक साथ मिलाकर गोमूत्र की यथाविधि भावना देवे। पश्चात् आर्द्रक स्वरस की भावना देकर १ रत्ती की वटी बनाकर सुखा लेवें।

मात्रा—१ वटी दिन मे ३ वार आवश्यकतानुसार, जल, तथा आर्द्रक स्वरस से देवे। यह ज्वर, अजीर्ण, विसूचिका, कृमि तथा अन्य उदर विकारो मे लाभ करती है। इसका प्रयोग ऐसे ज्वरो मे जिनमे ज्वर के साथ अजीर्ण, अतिसार तथा अन्य उदर विकार हो करना चाहिये।

विशेष—यदि इस वटी के निर्माण मे वत्सनाभ के समान भाग हिंगुल भी मिला दे तो यह अधिक प्रभावशाली होती है। यह वटी उदरशूल तथा गुल्म मे भी अच्छा लाभ करती है। मन्थर ज्वर के प्रथमावस्था से लेकर अन्तिमावस्था पर्यन्त यदि इसका सावधानीपूर्वक प्रयोग किया जाय तो लाभ होता है।

गुडूच्यादि क्वाथ (भै० र०)

गुडूची (गिलोय)	धनिया
नीम की छाल	पद्माख
लाल चन्दन	

इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर जवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे। (निम्बगुडूची का प्रयोग श्रेयस्कर है)।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ वार।

इसका उपयोग सामान्यरूपेण सभी जाति के तरुण ज्वरो मे होता है। विशेषत. पित्त कफ ज्वर के लिये इसका निर्देश है। इसका प्रयोग अग्निदीपन होता है तथा दाह, उत्क्लेश, तृषा, छर्दि और अरुचि की शान्ति होती है। इसका प्रयोग आमाशय की श्लैष्मिककला के प्रदाह या अपचन के कारण वमन और व्याकुलता के साथ ज्वर उत्पन्न होने पर उपकारक होता है। यह पाचन क्रिया को सुधारता है तथा विष और कीटाणुओ को नष्ट करता है। यह प्रस्वेद लाकर ज्वर को कम करता है।

द्राक्षादि क्वाथ (भै० र०)

द्राक्षा, गुडची, गम्भारी की जड की छाल, त्रायमाणा और अनन्तमूल, इनको समभाग मे लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ वार.

क्वाथ मे गुड का प्रक्षेप देकर पिलावे। इसके प्रयोग से वात ज्वर तथा पित्त ज्वर शान्त होता है।

रास्नादि क्वाथ (भै० र०)

रास्ना, द्राक्षा, वच, हरड, अजवायन, मुलेठी, सौंफ, इन्द्रयव, कुटकी, सोठ और गुडूची, इन सब द्रव्यों को पृथक्-पृथक् २ माशा परिमाण मे लेकर आठ पल जल मे पकावे। चतुर्थांश शेष रहने पर उतार ले और स्वाङ्गशीतल हो जाने पर ½ पल मधु मिलाकर अनेक बार मे एक दण्ड के अन्तर से पीवे। इसके प्रयोग मे ज्वर का सन्ताप दूर हो जाता है। वातज्वर मे यह अधिक लाभ करता है।

मात्रा—२½ तोला या १ औंस। दिन ४ से ६ बार।

विश्वादि क्वाथ (भै० र०)

सोठ, सुगन्धबाला, पित्तपापडा, खस, नागरमोथा और लाल चन्दन, इनका यथाविधि क्वाथ बनाकर स्वाङ्गशीतल होने पर पिलावे। इसे पीने से ज्वर, तृषा, वमन और दाह नष्ट होते हैं।

मात्रा—२½ तोला से ५ तोला तक। दिन मे २ से ३ बार।

क्वाथ्य द्रव्य के अष्टगुण जल देवे और चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छान ले। स्वाङ्गशीतल होने पर इसका व्यवहार करे।

विल्वादि क्वाथ (भै० र०)

विल्व, अरणी (गनियार), सोनापाठा, गम्भार, पाढल, इनकी जड की छाल, गिलोय, आँवला और धनियाँ, इन सब द्रव्यो को समभाग लेवे और यथा-विधि इनका क्वाथ बनावे।

मात्रा—२½ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

इसके प्रयोग से वातज्वर नष्ट होता है।

भूनिम्बादि क्वाथ (भै० र०)

चिरायता, नागरमोथा, सुगन्धबाला, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गिलोय, गोखरू, सोठ, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, पुष्करमूल, इन सबो को समान भाग मे लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२½ तोला। दिन मे २-३ बार।

इसके प्रयोग से वातज्वर शान्त होता है।

नोट—एक दूसरा भूनिम्बादि क्वाथ कफज्वर के लिये भी है जिसमे—चिरायता, निम्ब की छाल, पीपल, कचूर, सोठ, शतावर, गिलोय और बडी कटेरी है। इन सबो का भी यथाविधि क्वाथ बनावे।

पञ्चमूलादि क्वाथ (भै० र०)

शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू, गिलोय, नागरमोथा, सोठ और चिरायता इन सभी औषधो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२½ से ५ तोले तक। दिन मे दो बार।

यह वात-पित्त शामक, आमपाचक, विषहर तथा ज्वरघ्न है। इसका प्रयोग वात-पित्त ज्वर मे होता है। यह दोषो का पाक कर ज्वर को नष्ट करता है।

शालपर्ण्यादि क्वाथ (भै० र०)

शाल्पर्णी, वला, द्राक्षा, गिलोय, सारिवा (अनन्तमूल) इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे ले यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे।

मात्रा—२½ तोला से ५ तोला तक। दिन मे २ वार।

इसके प्रयोग से वातज्वर नष्ट होता है।

नोट—ग्रहणी रोगाधिकार मे वर्णित शालपर्ण्यादि क्वाथ से यह भिन्न है।

ह्रीवेरादि क्वाथ (भै० र०)

सुगन्धवाला, रक्तचन्दन, खस, नागरमोथा और पित्तपापडा इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२½ से ५ तोला तक दिन मे २ वार।

यह पित्तज्वर मे विशेष लाभ करता है। इससे दाह तथा तृष्णादि की शान्ति होती है।

पटोलादि क्वाथ (भै० र०)

परवल की पत्ती, हरड़, वहेडा, आँवला, नीम की अन्तरछाल, गिलोय, नागरमोथा, सफेद चन्दन, मूर्वा, कुटकी, पाठा, हल्दी, धमासा, इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर ले और यथाविधि क्वाथ बनावे। यह भैषज्य रत्नावली के दो पटोलादि क्वाथो का सम्मिलित योग है।

मात्रा—२½ से ५ तोला। शीतल होने पर दिन मे २ वार।

यह क्वाथ श्लेष्म पित्तज्वर, कण्डू, त्वचा के रोग, विस्फोटक, विषजन्य विसर्प को नाश करता है।

नोट—पित्तज्वर मे प्रोक्त पटोलादि क्वाथ मे ४ ही द्रव्य है—परवल की पत्ती, इन्द्रयव, धनियाँ और मुलेठी। इनके क्वाथ मे मधु मिलाकर पिलाने से पित्तज्वर शान्त होता है।

किरातादि क्वाथ (१) (भै० र०)

चिरायता, गुडूची, धनिया, रक्त चन्दन, खस, पित्तपापडा और पद्माख, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे।

मात्रा—२½ से ५ तोला। दिन मे २ वार। इसके उपयोग से पित्तज्वर शान्त होता है।

किरातादि क्वाथ (२) (भै० र०)

चिरायता, नीम गिलोय, द्राक्षा, आँवला और कचूर, इनका यथाविधि क्वाथ वनावे और गुड मिलाकर वातपित्तज्वर मे पिलावे।

मात्रा—२½ से ५ तोला। दिन मे २ वार।

किरातादि क्वाथ (३) (भै० र०)

चिरायता, कुटकी, पीपल इन्द्रयव, कटेरी, कचूर, वहेडा, देवदारु, हरड, मरिच, कायफल, नागरमोथा, अतीस, आँवला, पुष्करमूल, चित्रक, काकडा-शृङ्गी, अडूसा, सोठ, इन सवको समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे। इनका प्रयाग कठकुब्ज सन्निपातज्वर मे अच्छा लाभ करता है।

मात्रा—२ से ४ तोला।

पञ्चमूलादि क्वाथ (वृहत्) (भै० र०)

वृहत् पञ्चमूल (वेल, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, गनियार) वला (खिरैटी) रास्ना, कुलथी, पुष्करमूल, इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे।

मात्रा—२½ से ५ तोला। दिन मे दो वार।

इस प्रयोग से शिर कम्प, जोडो का दर्द (सन्धिरुक् या पर्वभेद) तथा वात-ज्वर नष्ट होता है।

(१) पिप्पल्यादि क्वाथ (भै० र०)

पिप्पली, अनन्तमूल, द्राक्षा, सौफ, हरेणुका; इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे, और उपयुक्त मात्रा मे व्यवहार करे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे यथावश्यक दो या तीन वार।

गुण-कर्म—इसके प्रयोग से वात तथा वातकफज्वर नष्ट होता है।

(२) पिप्पल्यादि क्वाथ (भा० प्र०)

पीपल, पीपलामूल, काली मिर्च, गजपीपल, सोठ, चित्रकमूल, चाभ, निर्गुण्डी

बीज, इलायची, अजमोदा, सरसो, हीग, भारङ्गी, पाठा, इन्द्रयव, जीरा, वकायन, के फल, मूर्वा, अतीस, कटुकी और वायविडग, इन सवको समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि कषाय वनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ वार यथावश्यक।

उपयोग—आम पाचन के लिए कफज्वर मे इसका प्रयोग अतिहितकर होता है। यह कफ और वात का नाशक है। इससे प्रतिश्याय, ज्वर तथा शूल का नाश होता है। गुल्म मे भी इससे लाभ होता है।

कणादि क्वाथ (भै० र०)

पीपल, लहसुन, गिलोय, सोठ, कटेरी, सम्भालु, चिरायता, नागरमोथा, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि कषाय वनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से तीन वार आवश्यकतानुसार।

उपयोग—इसका प्रयोग वातज्वर, कफज्वर तथा वातकफज्वर मे हितकर है। इससे अग्निमान्द्य, कण्ठ तथा हृदय का अवरोध, स्वेद, हिचकी, शरीर का ठण्डा होना, मूर्च्छा, आदि विकार शान्त होता है।

नोट—ज्वरातिसार मे भी एक कणादि क्वाथ है जिसमे पीपल, गजपीपल, लाजा (धान का लावा) है। इनको समान भाग मे लेकर यथाविधि-क्वाथ वनावे और शीतल होने पर मधु और खण्ड का प्रक्षेप देकर पिलावे। इससे प्यास की शान्ति होती है।

मात्रा—२ से ४ तोला। २ से ३ वार।

शतपुष्पादि क्वाथ (भै० र०)

सौफ, वच, कूठ, देवदारु, रेणुका (सम्भालु वीज) धनिया, खस, और नागरमोथा, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे। स्वाङ्गशीत होने पर मधु तथा खॉड मिलाकर पिलावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ वार यथावश्यक।

उपयोग—इसके प्रयोग से वात तथा पित्तज्वर मे अच्छा लाभ होता है।

दशमूलादि क्वाथ (भै० र०)

दशमूल (वेल की छाल, गम्भार, जनियार, सोनापाठा, पाढल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, वडी कटेरी, गोखरू), रास्ना, पीपल, पिपलीमूल, कूठ, सोठ, चिरायता, नागरमोथा, वला (खिरेटी), गिलोय, सुगन्धवाला, द्राक्षा, जवासा और सोया (शताह्वा), इन सभी द्रव्योको समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ वनावे।

मात्रा—२½ से ५ तोला तक। दिन मे २ से ३ बार।

इसके प्रयोग से सोपद्रव, वातज्वर तथा कफज्वर नष्ट होता है। इसको वातज्वरहर कषायो मे श्रेष्ठ माना गया है। केवल दशमूल क्वाथ का वर्णन करते समय आचार्यो ने कहा है कि इसके प्रयोग से अनेक प्रकार के वात तथा कफजन्य विकार दूर होते हैं। अनुपान भेद से यह अनेक प्रकार के ज्वरो को तथा अन्य व्याधियो को दूर करता है। सूतिका ज्वर के लिये तथा प्रसूता के अन्य कष्टो के लिए यह परमोत्तम औषध माना गया है। इसका जनता मे भी पर्याप्त प्रचार है। प्रसूता को दशमूल का क्वाथ देना हितकर है यह सर्वविदित है। इसके प्रयोग से कण्ठावरोध, हृदयावरोध, तन्द्रा, श्वास कष्ट, पसलियो की पीडा, मुखशोष, भ्रम, कास, प्रभृति कष्ट दूर होते हैं।

अनुपान भेद से इसका प्रयोग वृद्ध वैद्य अनेक रोगो मे करते है। जैसे वातश्लेष्म ज्वर मे पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप देकर, ज्वर के साथ विशेष कास होने पर चातुर्जात का प्रक्षेप देकर, ज्वर के साथ विवन्ध हो तो त्रिवृच्चूर्ण का प्रक्षेप देकर, श्वास कास के साथ पार्श्वशूल हो तो पुष्करमूल चूर्ण का प्रक्षेप देकर, ज्वर के साथ अतिसार हो तो सोठ का प्रक्षेप देकर, देने से पर्याप्त लाभ होता है। मूत्रकृच्छ्र या मूत्राल्पता होने पर शिलाजतु और यवक्षार का प्रक्षेप देकर पिलाने से अच्छा लाभ होता है। शोथ होने पर पुनर्नवा के प्रक्षेप के साथ इससे पर्याप्त लाभ होता है।

निम्बादि क्वाथ (भै० र०)

नीम की छाल, सोठ, गिलोय, देवदारु, कचूर, चिरायता, पुष्करमूल, पीपल, गजपीपल, बडी कटेरी, इन सबको समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—यह कफज्वर मे अच्छा लाभ करता है।

मुस्तादि क्वाथ (भै० र०)

नागरमोथा, इन्द्रयव, हरड, बहेडा, आँवला, कुटकी और फालसा, इनको समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—यह कफज्वर मे अच्छा लाभ करता है।

कटुत्रिकादि क्वाथ (भै० र०)

सोठ, पीपल, मरिच, नागकेशर, हल्दी, कुटकी, इन्द्रयव, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला । दिन मे २ से ३ बार । इसके उपयोग से कफज्वर नष्ट होता है ।

गुडूच्यादि क्वाथ (भै० र०)

गिलोय, चिरायता, सुगन्धवाला, खस, नागरमोथा, निशोथ, आमला, दाख, अडूसा और पित्तपापडा, इन सब द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे और शीतल होने पर मधु मिलाकर पिलावे ।

मात्रा—२ से ४ तोला । दिन मे २ से ३ बार ।

इसके उपयोग से पित्तज्वर शान्त होता है ।

पर्पटादि क्वाथ (भै० र०)

पित्तपापडा, गिलोय और आँवला, इनका यथाविधि क्वाथ बनाकर पिलाने से पित्तज्वर नष्ट होता है । यो तो केवल एक पित्तपापडा ही पित्तज्वर को शान्त करने के लिए पर्याप्त है पुन यदि उसमे रक्तचन्दन, सुगन्धवाला और सोठ मिला देवे तो उसका क्या कहना अर्थात् वह पित्तज्वर को शीघ्र नष्ट करता है ।

गुडूची तथा शतावरी स्वरस से भी ज्वर मे लाभ होता है । यह स्वतन्त्र तथा अनुपान के रूप मे भी प्रयुक्त होता है ।

पित्तज्वरान्तक वटी (आ० नि० भा०)

कडवे अतीस का चूर्ण, ५ तोला फिटकिरी का लावा २½ तोला

दोनो को मिलाकर मधु मे खरल कर २ रत्ती की वटी बनावे और स्वर्ण-गैरिक चूर्ण मे डालकर सुखा ले सूखने पर शीशी मे भर सुरक्षित करे ।

मात्रा—१ से २ वटी । दिन मे ३ बार जल से ।

इसके प्रयोग से पित्तज्वर शान्त होता है । यह पसीना लाकर ज्वर उतारता है, अतिसार होने पर मल को बाँधता है ।

कफकुठार रस (र० रा० सु०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक (कज्जली), सोठ, पीपल, काली मिर्च, ताम्रभस्म और लौहभस्म, सब समान भाग लेवे । सर्वप्रथम कज्जली तैयार कर ले, पुनः उसमे भस्म मिलावे । पश्चात् त्रिकटु का कपडछान चूर्ण मिलाकर कण्टकारी के फलो के स्वरस मे ६ घण्टे खरल करे । बाद कुटकी क्वाथ मे तथा धतूरे की पत्तियो के स्वरस मे १-१ भावना देकर १ रत्ती की वटी बना ले ।

मात्रा—१-२ वटी । पान के रस के साथ ।

उपयोग—यह रस कफज्वर को नष्ट करने वाली अति तीक्ष्ण औषध है। कफज्वर मे जब छाती मे अत्यधिक कफ का जमाव हो गया हो तो इसका प्रयोग करे। इससे जमा हुआ कफ द्रव होकर निकल जाता है तथा कास का वेग न्यून होता है। इसका प्रभाव श्वास वाहिनियों पर (प्राणवाही स्रोतो पर) बहुत अच्छा होता है। यह स्रोतो विशोधक है। इसका प्रयोग उद्रिक्त कफ और तज्जन्य कास के साथ ज्वर पर होता है। यह वेदनाशामक, आक्षेप नाशक और कफोत्पत्ति को कम करता है।

कफकेतु रस (भै० र०, र० त०)

गोमूत्र शोधित वत्सनाभ	१ तोला	शङ्ख भस्म	१ तोला
पिप्पली चूर्ण	१ ,,	शुद्ध टङ्कण	१ ,,

इन द्रव्यो को आर्द्रक स्वरस मे ३ दिन तक घोटे और आधी रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१–२ वटी। दिन मे २ से ३ बार यथावश्यक।

इसके उपयोग से प्रतिश्याय, कास, श्वास, कण्ठरोग, गलग्रह आदि कष्ट तथा ज्वर (कफज) शान्त होता है। वातश्लेष्मज्वर मे यह अच्छा लाभ करता है। इसका प्रयोग प्राय नव ज्वर मे करते है। प्रतिश्याय सहित ज्वर मे, फ्लु या इन्फ्लुएञ्जा के कष्ट मे यह अच्छा लाभ करता है। इसके प्रयोग से स्तब्धाङ्गता दूर होती है।

श्लेष्म कालानल रस

कज्जली २ भाग (हिङ्गुलोत्थ पारद और शुद्ध गन्धक समभाग से प्रस्तुत), ताम्रभस्म १ भाग, शुद्ध तुत्थ १ भाग, शुद्ध मन शिला १ भाग, शुद्ध हरताल १ भाग, कायफल का चूर्ण १ भाग, शुद्ध धत्तूर बीज १ भाग, घृत भर्जित हिंगु १ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म १ भाग, कूठ १ भाग, निशोथ १ भाग, दन्ती की जड १ भाग, त्रिकटु चूर्ण ३ भाग, आरग्वध फल मज्जा १ भाग, वङ्गभस्म १ भाग और शुद्ध टङ्कण १ भाग। इन द्रव्यों को यथोक्त परिमाण मे लेकर उपर्युक्त प्रकार से निर्मित कज्जली मे प्रथम ताम्रभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, वङ्गभस्म को अच्छी प्रकार मिलाकर खरल करे। तत्पश्चात् शेष द्रव्यो के बारीक चूर्ण को एकत्र कर मिलाकर खूब अच्छी प्रकार खरल करे। पश्चात् शुद्ध स्नुहीदुग्ध की भावना देकर खरल करे और सूखने पर कॉच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ रत्ती। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—इसका उपयोग वातश्लेष्मज तथा पित्तश्लेष्मज ज्वर मे अच्छा

लाभ करता है। इससे मन्दाग्नि, शोथ तथा जीर्णज्वर भी नष्ट होता है। श्लेष्मोल्वण सन्निपात मे यह रस सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसके प्रयोग से अन्य कफ विकार भी दूर होते हैं श्लेष्म प्रकृति पुरुष के विकारो मे यह अच्छा लाभ करता है।

कस्तूरी भैरव रस (भै० र०)

३ प्रकार के कस्तूरी भैरव रस के योग भैषज्य रत्नावली मे है। जैसे—स्वल्प कस्तूरी भैरव रस, (२) मध्य कस्तूरी भैरव रस, (३) वृहत् कस्तूरी भैरव रस। ये तीनो ज्वराधिकार मे ही वर्णित है।

(१) कस्तूरी भैरव (स्वल्प)

शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध टकण, जातिपत्री चूर्ण (जावित्री चूर्ण), जायफल चूर्ण, मरिच चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, कस्तूरी। इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेवे और इनका पृथक्-पृथक् कपडछान चूर्ण (वारीक चूर्ण) वना ले। पुन कस्तूरी को छोडकर शेष द्रव्यो को एक साथ मिलाकर आर्द्रक स्वरस की भावना देकर १ रत्ती की वटी वना ले। सूख जाने पर (छाया शुष्क होने पर) काँच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से २ वटी। दिन मे २ से ३ वार यथावश्यक।

विशेष—वङ्गाल के कविराज इसमे कर्पूर भी मिलाते है तथा ब्राह्मी स्वरस और पान के स्वरस की भावना देते है। इससे इसका गुण और वढ़ जाता है।

गुण-कर्म—यह रस ज्वर की तरुणावस्था मे आमपाचन कर ज्वर को शान्त करता है। इसका प्रयोग अनुपान भेद से सभी ज्वरो मे होता है। यह हृदय को वल देने वाला ज्वरहर औषध है। सन्निपात ज्वर मे भी इसका सफल प्रयोग होता है।

(२) कस्तूरी भैरव (मध्यम)

वङ्गभस्म, खर्परभस्म (या यशदभस्म), कस्तूरी, स्वर्णभस्म, रजतभस्म, ये सव १–१ भाग लेवे। कान्तलौहभस्म, धतूरे का घनसत्त्व, पारदभस्म (इसके स्थान पर रस-सिन्दूर लेते है), लौग, जायफल, इन द्रव्यो का चूर्ण पृथक्-पृथक् २ भाग (अर्थात् उपर्युक्त प्रत्येक द्रव्य के द्विगुण भाग) लेवे और इन्हे यथाविधि सम्मिश्रित कर गुमा और नागरवेल (पान) के स्वरस से ७-७ भावना देवे। पुनः २ भाग कर्पूर और २ भाग त्रिकटु का वारीक चूर्ण डालकर मर्दन करे और ३ रत्ती से १ माशे तक की वटी वनाकर सुखा ले।

मात्रा—१ वटी। दिन मे २–३ वार यथावश्यक।

उपयोग—इसका उपयोग वातोल्वण सन्निपात ज्वर, महाश्वास, श्लेष्म रोग,

सूतिका ज्वर, गर्भाशय विकृति, कास, श्वास तथा राजयक्ष्मा प्रभृति में लाभ करता है। यह शीताङ्ग सन्निपात ज्वर में परमोपकारी है, प्रसूता के धनुर्वात में भी यह अच्छा लाभ करता है। इसके प्रयोग से हृदय को बल प्राप्त होता है तथा सन्निपात में उत्पन्न उपद्रव (प्रलाप आदि) शान्त होते हैं। इसका उपयोग विषम ज्वर, नष्ट शुक्र, प्रमेह, गुल्म तथा क्षय प्रभृति में भी होता है। यह कामोत्तेजक तथा वृष्य भी है।

(३) कस्तूरी भैरव (बृहत्)

उत्तम कस्तूरी, १ भाग, कर्पूर १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, धावा के फूलों का चूर्ण १ भाग, शुद्ध केवाँच बीज का चूर्ण १ भाग, रजतभस्म १ भाग, स्वर्ण भस्म १ भाग, मुक्ताभस्म १ भाग, प्रवालभस्म १ भाग, लोहभस्म १ भाग, पाठा चूर्ण १ भाग, वायविडङ्ग चूर्ण १ भाग, नागरमोथा का चूर्ण १ भाग, सोंठ चूर्ण १ भाग, ह्रीवेर चूर्ण १ भाग, शुद्ध हरताल १ भाग, अभ्रकभस्म १ भाग और आँवले का चूर्ण १ भाग, इन सब द्रव्यों को यथोक्त प्रमाण में लेकर यथाविधि चूर्ण कर तथा खरल में पीस कर एक साथ मिलावे और आक के पत्तों के स्वरस की भावना देकर १ रत्ती की वटी बनावे।

मात्रा—१–२ वटी। दिन में २ से ३ बार यथावश्यक। अनुपान आर्द्रक स्वरस तथा मधु।

उपयोग—यह रस सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। आर्द्रक स्वरस के अनुपान से सेवन करने पर सब प्रकार के विषमज्वरों को भी शान्त करता है। द्वन्द्वज तथा सन्निपातज्वरों में भी इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। अन्य मानसिक कारणों से उत्पन्न ज्वर भूताभिषङ्गज ज्वर, आक्षेपक ज्वर आदि को भी यह रस नष्ट करता है। बिल्वशलाटु चूर्ण तथा जीरक के अनुपान से ज्वरातिसार, आमातिसार तथा ग्रहणी रोग को भी यह दूर करता है। यह अग्नि का दीपन करता है तथा फुफ्फुस में सञ्चित कफ का निःसरण कराकर कास को भी नष्ट करता है। श्वसनक ज्वर (Pneumonia) में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

द्राक्षादि फाण्ट या क्वाथ (भै० र०)

द्राक्षा (दाख), हरड, नागरमोथा, कुटकी, अमलतास के फल मज्जा, पित्तपापडा, इन सब द्रव्यों को समान भाग में लेकर यवकुट कर यथाविधि क्वाथ अथवा फाण्ट बनावे।

मात्रा—क्वाथ की २ से ४ तोला। फाण्ट की २½ तो० से ५ तोला। दिन में २ या ३ बार आवश्यकतानुसार।

इसके प्रयोग से पित्तज्वर नष्ट होता है। यह पिपासा, मुखशोथ, प्रलाप, अन्तर्दाह, भ्रम तथा मूर्च्छा को शान्त करता है। यह रक्त पित्त मे भी उपकार करता है।

आरग्वधादि वर्ग (सु० सू० अ० ३८)

आरग्वध, मैनफल, गोप घोण्टा (कर्कोटक), कण्टकी (विरूङ्कत विकरो), कुटज, पाठा, पाढल, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, निम्ब, कुरण्टक (पीतपुष्पा पियावासा), दासी, कुरण्टक, (नीलपुष्पा पियावासा), गिलोय, चित्रक, काकजङ्घा, करञ्ज, महाकरञ्ज, परवल की पत्ती, चिरायता, करैला, ये आरग्वधादिगण के द्रव्य है। इनमे से यथालाभ द्रव्यो को सम भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्राथ वनावे।

मात्रा—२ से ४ तो०। २ से ३ वार दिन मे इसके प्रयोग से ज्वर, श्लेष्म विष, मेह, कुष्ठ, छर्दि तथा कण्डु का नाश होता है।

सन्निपातहर नस्य के योग

(१) तन्द्राहर नस्य (भै० र०)

सोठ, पीपल, कालीमिर्च, इनके चूर्ण को अगस्त्य के पुष्प के स्वरस मे भली-भाँति सूक्ष्म पीसकर नस्य लेने से तन्द्रा का नाश होता है। इसका प्रयोग तन्द्रिक सन्निपात मे किया जाता है।

२—अश्वगन्ध, सेन्धानमक, वच, महुए का सार, कालीमिर्च, पीपल, सोठ, और लहसुन, इस सभी द्रव्यो को सम भाग मे लेकर वकरे के मूत्र मे पीसकर नस्य देने से भुग्ननेत्र सन्निपात मे लाभ होता है।

(३) नस्य भैरव (भै० र०)

रस सिन्दूर, ताम्रभस्म, शुद्ध टंकण, खर्परभस्म, लौहभस्म, चित्रकमूलत्वक्, सोठ, पीपल, मरिच, इन सभी द्रव्यो को समभाग मे लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले। पश्चात् मदार (आक) के दूध मे दिन भर मर्दन करे और वटी वना ले। पुनः आक के दूध मे पीस कर नस्य देवे। इससे सन्निपातज्वर मे लाभ होता है। इसके प्रयोग से सज्ञानाश दूर होता है।

(४) उन्मत्त रस (भै० र०)

कज्जली को धतूरे के फलो के रस मे दिन भर मर्दन करे और उसमे समान भाग त्रिकटु डाले। इसका प्रयोग नस्य के रूप मे सन्निपात ज्वर मे होता है।

(५) मोहान्ध सूर्य रस (भै० र०)

कज्जली को रसोनस्वरस मे १ प्रहर तक घोटे। पुन इसको रसोन-स्वरस मे पीस कर नस्य देवे। इससे तन्द्रा, मूर्च्छा आदि (सन्निपात ज्वर मे उत्पन्न) दूर होते हैं। इसके प्रयोग से प्रलाप भी शान्त होता है।

(६) कुलवधु रस (भै० र०)

शुद्ध पारा, नागभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध मैनशील, और शुद्ध तूतिया, इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण करके एक दिन तक इन्द्रवारुणी के स्वरस मे खरल करे और इनकी चने बराबर की वटी बना ले। इस वटी को जल मे पीस कर नस्य देने से सन्निपात ज्वर मे लाभ होता है।

(७) मूर्च्छान्तक नस्य

नौसादर, चूना और कलमी सोरा, प्रत्येक १–१ तोला। इन्हे पृथक्-पृथक् पीस कर स्टौपर्ड बोतल मे भर कर रख ले। पश्चात् ३ माशे कर्पूर मिलाकर अच्छी रीति से हिला दे।

इसे सूंघने से मूर्च्छा दूर होती है। सन्निपात ज्वर मे तथा अन्य प्रकार की मूर्च्छा मे भी इसका उपयोग होता है।

सन्निपात हर अञ्जन

(१) रसोनादि अञ्जन

रसोन (लहसुन), पीपल, राई, वच और हरड, इनको समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर वर्ती बना ले।

इस वर्ती को जल मे घिसकर अजन के रूप मे प्रयोग करे। इसके प्रयोग से अभिपङ्गज ज्वर, विपमज्वर तथा सन्निपात ज्वर मे लाभ होता है।

(२) सन्निपात हर अञ्जन (भै० र०)

कज्जली, लौहभस्म और पीपल, इन द्रव्यो को क्रमश. २ तोला, १ तोला, १ तोला प्रमाण मे लेवे तथा शुद्ध जमालगोटा १२ तोला लेकर २१ दिन तक जम्बीरी निम्बु के रस मे खरल करे और इनकी वर्ती बना ले।

इस वर्ती को जल मे घिस कर अजन करने से सन्निपातज्वर मे उत्पन्न तन्द्रा, प्रलाप आदि विकार नष्ट होते है। रोगी सज्ञायुक्त (सचेत) होता है। इसका दूसरा नाम अजन भैरव है।

चतुर्दशाङ्ग क्वाथ (भै० र०)

दशमूल और किराततादिगण के चार औषध (चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ) मिलाकर यथाविधि क्वाथ बनाने से चतुर्दशाङ्ग क्वाथ बनता है।

इसकी मात्रा २ से ४ तोला है। दिन मे २ या ३ बार देवे।

इसके उपयोग से चिरज्वर, वातकफोल्वण तथा सन्निपातज्वर शान्त होता है। यदि रोगी की कोष्ठशुद्धि करनी हो तो इस क्वाथ मे त्रिवृच्चूर्ण का ३ या ४ माशा प्रमाण मे प्रक्षेप डालकर प्रयोग करे।

अष्टादशाङ्ग क्वाथ (भै० र०)

दशमूल, कचूर, काकडाश्रृङ्गी, पुष्करमूल, दुरालभा (यवासा), भार्गी, इन्द्रयव, पटोलपत्र और कुटकी, इन १८ द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ५ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—इसके सेवन से सन्निपातज्वर, कास, हृद्ग्रह, पार्श्वपीडा, श्वास, हिक्का और छर्दि शान्त होती है।

भूनिम्बादि अष्टादश क्वाथ (भै० र०)

चिरायता, देवदारु, दशमूल की औषधिया, सोठ, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रयव धनियां और गजपीपल; इन १८ औषधियो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ५ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—इस प्रयोग से सन्निपातज्वर मे उत्पन्न तन्द्रा, प्रलाप, कास, अरुचि दाह, मोह, श्वासादि उपद्रव सहित ज्वर की शान्ति होती है।

बृहत् कट्फलादि क्वाथ (भै० र०)

कायफल, नागरमोथा, वचा, पाठा, पुष्करमूल, कालाजीरा, पित्तपापडा, काकडाश्रृगी, इन्द्रयव, धनिया, कचूर, भृङ्गराज, पिप्पली, कुटकी, हरड, चिरायता भारङ्गी, घृतभर्जित हिंगु, वला, दशमूल की औषधियां और पीपलामूल, इन सव औषधो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ५ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—सन्निपातज्वर, विशेषकर कफवातोल्वण सन्निपात। इसके प्रयोग से ज्वर, कास, स्वरभेद, गलरोग प्रभृति उपद्रव शान्त होते हैं।

चन्दनादि क्वाथ (भै० र०)

रक्तचन्दन, पद्मकाठ, कुटकी, पीठवन, इन सभी द्रव्यों को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२ से ५ तोला। दिन मे २ से ३ वार।

उपयोग—पित्तोल्वण सन्निपातज्वर मे देने से लाभ होता है, इसका प्रयोग दाह को शान्त करता है।

बृहत्यादि क्वाथ (भै० र०)

छोटी कटेरी, वडी कटेरी पुष्करमूल, भारङ्गी, कचूर, काकडाश्रृगी, धमासा, निर्मली के वीज, पटोलपत्र और कुटकी इन औषधो को समभाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ बनावे। (यह बृहत्यादिगण भी कहलाता है)।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ वार।

उपयोग—इसके उपयोग से कफोल्वण सन्निपातज्वर मे लाभ होता है। इस ज्वर मे उत्पन्न कास, श्वास आदि उपद्रव शान्त होते हैं। इससे फुफ्फुस मे जमा हुआ कफ पिघल कर बाहर आ जाता है।

चातुर्भद्र क्वाथ (भै० र०)

चिरायता, नागरमोथा, गिलोय और सोठ, इन चार औषधो के योग से निष्पन्न क्वाथ को चातुर्भद्रक क्वाथ कहते हैं। इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्वाथ कर ले।

मात्रा—३ तोला से ५ तोला। दिन मे २ से ३ वार।

उपयोग—इसके प्रयोग से वातपित्तोल्वण ज्वर शान्त होता है।

पर्पटकादि क्वाथ (भै० र०)

पित्तपापडा, कायफल, कूठ, खश, रक्तचन्दन, सुगन्धवाला, सोठ, नागरमोथा, काकडाश्रृङ्गी, पीपल, इन सव द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर यथा विधि क्वाथ वनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ वार।

उपयोग—इसके प्रयोग से पित्तकफोल्वण सन्निपातज्वर शान्त होता है। यह तृष्णा, दाह, अग्निमान्द्य को नष्ट करता है।

योगराज क्वाथ (भै० र०)

सोठ, धनिया, भारङ्गी, पद्मकाठ, रक्तचन्दन, परवल की पत्ती, नीम की छाल त्रिफला, (आमला, हरड, वहेडा) मूलहठी, वला, मिश्री, कुटकी, नागरमोथा,

गजपीपल, अमलतास, चिरायता, गिलोय, दशमूल की औषधिया और कटेरी, इन सबको समान भाग मे लेकर (मिश्री को छोडकर) यवखण्ड कर ले और यथाविधि क्काथ बनावे। क्काथ तैयार हो जाने पर मिश्री मिलावे।

मात्रा—२ से ५ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—इसका प्रयोग सब प्रकार के सन्निपातो मे अच्छा लाभ करता है। यह परमोत्तम सन्निपातहर क्काथ है। त्रिदोषोल्वण सन्निपात मे इसका प्रयोग होता है।

दार्व्यादि क्काथ (भै० र०)

देवदारु, पित्तपापड़ा, भारङ्गी, नागरमोथा, वचा, धनिया, कायफल, हरड, सोठ, शुद्ध करञ्जबीज, समान भाग लेकर यवखण्ड कर यथाविधि क्काथ बनावे। घृतभर्जित हिंगु २ रत्ती तथा मधु ६ माशा मिलाकर पीवे।

मात्रा—२ से ४ तोला।

उपयोग—कफवातोल्वण ज्वर, हिक्का, शोष, गलग्रह, श्वास, कास आदि नष्ट करता है।

देवदार्व्यादि क्काथ (नि० र०)

देवदारु, वच, कूठ, पीपल, सोठ, कायफल, नागरमोथा, चिरायता, कुटकी, धनिया, छोटी हरड, गजपीपल, छोटी कटेरी, गोखरू, धमासा, बडी कटेरी, अतीस गिलोय, काकड़ाशृगी और कालाजीरा इन २० द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवखण्ड कर ले और यथाविधि क्काथ बनावे।

मात्रा—२ से ४ तोला। दिन मे २ से ३ बार पिलावे।

उपयोग—यह प्रसूता स्त्री के सब प्रकार के (त्रिदोष) ज्वर आदि विकारो मे अच्छा लाभ करता है। इसके प्रयोग से प्रलाप, शूल, कास, श्वास, दाह, तृषा, मूर्च्छा अतिसार आदि विकार शान्त होते हैं।

अर्कादि क्काथ

आक का मूल, धमासा, देवदारु, चिरायता, रास्ना, निर्गुण्डीपत्र, वच, अरनी की छाल, सहिजन की छाल, चित्रकमूल, पीपल, पीपलामूल, चव्य, सोठ, अतीस, और भाँगरा, इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर यथाविधि क्काथ बनावे।

मात्रा—२ से ४ तोले। दिन मे २ या ३ बार।

उपयोग—वातोल्वण सन्निपात में यह लाभ करता है। यह वातनाडी उत्तेजक है।

चक्रिका रस (भै० र०)

समान भाग रस-गन्ध से निर्मित कज्जली २ भाग, शुद्ध वत्सनाभ १ भाग शुद्ध धत्तूरे के बीज १ भाग, मरिच १ भाग, शुद्ध हरताल १ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म १ भाग, इन सब औषधों को यथोक्त प्रमाण मे लेकर खरल मे मिलावे। पश्चात् दन्तीमूल के क्वाथ से भावना देकर १ रत्ती की वटी बनावे। सूखने पर काँच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी। दिन मे ३ बार।

उपयोग—इस रस का प्रयोग सब प्रकार के सन्निपात ज्वर मे लाभ करता है। इसके प्रयोग से प्रलाप शीघ्र दूर हो जाता है और ज्वर का ताप भी न्यून होता है।

आनन्दभैरव रस (भै० र०)

शुद्ध वत्सनाभ, सोठ, पीपल, मरिच, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टकण, ताम्रभस्म, शुद्ध धत्तूरे के बीज, तथा शुद्ध हिंगुल, इन सब द्रव्यो को समान भाग मे लेकर भाग के स्वरस मे एक दिन मर्दन करे और चने के प्रमाण (२ रत्ती) की वटी बनाकर सूखने पर काँच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी दिन मे २ से ३ बार।

अनुपान—आक की जड का क्वाथ त्रिकटु चूर्ण के प्रक्षेप से। यह सन्निपात ज्वर मे अच्छा लाभ करता है।

उपयोग—इसका उपयोग ऐसे सन्निपातज्वर मे जिसमे उदर विकार, अतिसार, ग्रहणीदोष हो तथा श्वास कष्ट आदि उपद्रव हो उसमे अच्छा लाभ करता है।

आनन्दभैरव रस (भै० र०)

शुद्ध हिंगुल, सोठ, कालीमिर्च, पीपल, शुद्ध टकण, शुद्ध वत्सनाभ और शुद्ध गन्धक, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर १२ घण्टे तक निम्बु के रस मे घोटे। पश्चात् १–१ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ से २ वटी। दिन मे २ या ३ बार।

अनुपान—लक्षणानुसार जल, छाछ, चावल के धोवन तथा अनार शर्वत।

उपयोग—कफज्वर, ज्वरातिसार, अतिसार, कास, श्वास, प्रतिश्याय, मन्दाग्नि, अजीर्ण, प्रभृति। इसका प्रयोग ऐसे ज्वरो मे जिनमे अजीर्ण, अतिसार आदि उदरविकार उपद्रव के रूप मे उपस्थित हो वहाँ करना चाहिये। इसका

प्रभाव आंतो की क्षुब्ध श्लैष्मिक कला पर होता है जिससे अजीर्ण आदि लक्षण शान्त होते हैं।

मृतोत्थापन रस (भै० र०)

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, शुद्ध मन शिला १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ १ भाग, शुद्ध हिंगुल १ भाग, कान्त लोहभस्म १ भाग, अभ्रभस्म १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, तीक्ष्ण लौहभस्म १ भाग, शुद्ध हरताल १ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म १ भाग, इन सभी द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण लेकर सर्वप्रथम पारद और गन्धक की कज्जली यथाविधि बना ले। पुनः शेष द्रव्यो के बारीक चूर्ण को मिलाकर अम्लवेत, जम्बीरी निम्बु, चाङ्गेरी, निर्गुण्डी और हस्तिशुण्डी के स्वरस मे पृथक्-पृथक् मर्दन करे। इस प्रकार २—३ दिन तक मर्दित एवं सुभावित औषध द्रव्यो को शुष्क होने पर भूधर यन्त्र मे एक दिन तक पकावे, सन्ध्याकाल स्वाङ्गशीतल हो जाने पर यन्त्र से पाक किए औषधो को निकाल ले और चित्रक स्वरस मे पुनः दो प्रहर तक खरल करे अर्थात् खूब घोंटे। पश्चात् सूख जाने पर काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से २ रत्ती। अनुपान घृतभर्जित शुद्ध हिंगु ३ रत्ती, त्रिकटु चूर्ण ३ रत्ती, आर्द्रक स्वरस ½ तोला मिलाकर सेवन करे। पश्चात् पान के बीड़े में कर्पूर डालकर भक्षण करावे।

उपयोग—सन्निपात ज्वर मे जब रोगी संज्ञाहीन हो मृतवत प्रतीत होता हो तो इसके प्रयोग से सद्य चेतना आ जाती है।

सन्निपात भैरव रस (भै० र०)

शुद्ध हिंगुल, ४½ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला २ माशा, शुद्ध वत्सनाभ २ तोला २ माशा, शुद्ध धत्तूरे के बीज का चूर्ण ३ तोला, तथा शुद्ध टकण १ तोला १ माशा, इन ओषधो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर बारीक चूर्ण कर खरल मे अच्छी प्रकार मिला ले। पुन. इन्हे जम्बीरी निम्बु के रस मे खूब १ प्रहर तक घोंटे और १ रत्ती प्रमाण की वटी बनावे। छाया शुष्क कर इन्हे काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी, दिन मे २ या ३ बार आर्द्रक स्वरस से।

उपयोग—घोर सन्निपात ज्वर मे भी इन के प्रयोग से लाभ होता है।

चिन्तामणि रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, ये तीनो समान भाग लेवे। शुद्ध वत्सनाभ शुद्ध पारद के आधा प्रमाण मे लेवे। शुद्ध जायफल विष की अपेक्षा २

भाग अर्थात् १½ भाग लेवे। प्रथम पारद १ तोला और गन्धक १ तोला को मिलाकर यथाविधि कज्जली बनाले। पश्चात् १ तोला अभ्रकभस्म मिलावे और शुद्ध वत्सनाभ चूर्ण ½ तोला तथा शुद्ध जायफल ½ तोला मिलाकर खूब घोटे। काञ्जी की भावना देकर इनका गोला बना ले और इस गोले को पान के पत्तो मे लपेट कर शराव सम्पुट मे बन्द कर कुक्कुट पुट मे फूँक देवे। स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल ले।

पुनः इन्हे खरल मे पीस कर बारीक चूर्ण कर ले और काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ रत्ती। दिन मे २ से ३ वार आवश्यकतानुसार।

अनुपान—त्रिकटु चूर्ण सैंधव तथा चित्रक चूर्ण—सब मिल कर ४ माशा।

उपयोग—इसके उपयोग से सब प्रकार के सन्निपात मे लाभ होता है। इसका प्रयोग विशेष कर ऐसे सन्निपातो मे जिस मे शूल ग्रहणी आदि उदर विकार उपद्रव के रूप मे हो, अच्छा लाभ करता है। इस रस के सेवन के पश्चात् यदि सन्ताप का अनुभव हो तो मस्तिष्क को शीतल जल से धोना चाहिये और क्षुधा लगने पर दही भात खिलाना चाहिये।

प्राणेश्वर रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, शुद्ध वत्सनाभ, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेवे और सर्व प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले। तत्पश्चात् अभ्रकभस्म और शुद्ध वत्सनाभ के बारीक चूर्ण को मिलावे। पुन इसे ३ दिनो तक तालमूली स्वरस (मुशली स्वरस) मे घोटे। सूखने पर इसे एक काच कूपी मे उसके तृतीयांश तक भर दे। पश्चात् काच कूपी (आतसी शीशी) को सात परतो की कपड मिट्टी कर सुखा ले। सूखने पर वालुका यन्त्र मे यथा विधि (रस सिन्दूर की विधि से) पकावे। ४ प्रहर तक आँच देवे। पश्चात् स्वाङ्ग शीत होने पर शीशी को निकाल कर यथा विधि शीशी को तोड कर औषध निकाल कर खरल मे बारीक पीस ले। पुनः इसमे स्याह जीरा, सफेद जीरा, शुद्ध हिंगु, सज्जीखार, शुद्ध सोहागा, सौराष्ट्र मृत्तिका, शुद्ध गुग्गुलु, पाचो नमक, यवाखार अजवायन, मरिच, पिप्पली, इन द्रव्यो मे से प्रत्येक के बारीक चूर्ण को पारद के समान प्रमाण मे लेकर सोलह गुना जल मे डाल कर क्वाथ बनावे। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार ले और इस क्वाथ से उक्त रस को सात बार भावित करे और धूप मे सुखावे। पुन सूखने पर खरल मे घोट कर काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—२ रत्ती। दिन मे २ या ३ बार यथावश्यक।

अनुपान—पान का रस व मधु।

उपयोग—यह सन्निपात के प्रकोप का नाश करता है। यह शीताङ्ग सन्निपात मे विशेष उपकारी है। दाह तथा शूल को नष्ट करता है। इसके प्रयोग मे रोगी को यथेच्छ भोजन दे सकते है। इससे ज्वर का सताप दूर होता है तथा रोगी बल का अनुभव करता है। कभी कभी उदर पर दाह शान्ति के लिये चन्दन का प्रलेप करना पडता है।

लक्ष्मीविलास रस (यो० र०)

स्वर्णभस्म, रजतभस्म, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, वगभस्म, लौहभस्म, मडूरभस्म, कान्त लौहभस्म, नागभस्म, शुद्ध वत्सनाभ, और मुक्ताभस्म, इन (ग्यारह ११) औषधो को समान भाग (प्रत्येक १ तोला) मे ले और सब के सम (बराबर) रस सिन्दूर (११ तोला) लेवे। इन सब को एक साथ खरल मे अच्छी प्रकार मिलावे (खरल करे)। पुन इन्हे मधु मे घोटे और धूप मे सुखावे। ३–४ दिनो मे सूख जाने पर इन्हे शरावसम्पुट मे बन्द कर ताक्ष्यंपुट अर्थात् ८-१० उपलो की अग्नि मे फूंके। स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल कर चित्रक क्वाथ मे ८ प्रहर तक खरल करे (घोटे)। पुन ½ रत्ती की वटी बना ले और सूखने पर काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—½ से १ रत्ती तक। दिन मे २ से ३ बार।

अनुपान—रोगी की अवस्थानुसार मधु, आर्द्रक स्वरस, तथा पान के स्वरस से।

उपयोग—यह परमोत्कृष्ट रसायन है। सब प्रकार के सन्निपात ज्वरो मे विभिन्न अनुपान से (अवस्थानुसार) यह परमोपयोगी है। यह ज्वर के सताप को तथा तज्जन्य उपद्रवो को भी शान्त करता है। श्वास, कास तथा प्रतिश्यायोपद्रुत सन्निपात ज्वर मे इससे अधिक लाभ प्राप्त होता है।

यह हृदय को बल देने वाली तथा प्राणवह स्रोतो को शुद्ध करनेवाली औषध होने से ऐसे ज्वरो मे जिसमे हृद्दौर्बल्य होता है तथा प्राणवह स्रोतो मे अवरोध होता है उसमे लाभ करती है। इसका प्रयोग टायफायड, श्वसनकज्वर (न्युमोनिया) तथा आक्षेपकज्वर मे भी लाभ पहुँचाता है।

गुण-कर्म—रसायन, त्रिदोषहर, हृदय को बल प्रदान करना, प्राणवह स्रोतो का शोधक, अग्निदीपक, शक्तिवर्धक, क्षय रोग निवारक, कीटाणु नाशक, धातुबृहण, इन्द्रियो को बल प्रदान करना, फुफ्फुस की क्रिया को सुधार करनेवाला, पाचक रसो का स्रावक, यकृत् की क्रिया का नियामक, रक्तनिर्मापक, क्लैब्य दोष हर, रक्ताभिसरण क्रियोत्तेजक, नाडीगति नियामक इत्यादि।

इन उपर्युक्त गुणो के कारण इसका उपयोग ज्वरातिरिक्त अन्य अनेक रोगो मे यथावश्यक अनुपान भेद से होता है। कुशल चिकित्सक वात के प्रायः सभी विकारो मे इसका प्रयोग अनुपान भेद से करते हैं। क्षयज जैसे राजयक्ष्मा, जीर्ण ग्रहणी, पाण्डु, कामला, शोथ, मासक्षीणता, कार्श्य, इन्द्रिय दौर्वल्य तथा नपुसकता आदि विकारो मे भी इसका सफलता से व्यवहार होता है। इसके सत्प्रयोग से रोगी अनेक रोगो से मुक्त हो सबल तथा कार्यशील एव कार्यक्षम बनता है। यह नाडी दौर्वल्य को दूर करता है तथा मास पेशियो को बल प्रदान करता है।

लक्ष्मी विलास रस (२) (र० यो० सा०, भै० र०)

अभ्रकभस्म ४ तोले, शुद्ध पारद २ तोले शुद्ध गन्धक २ तोले, कपूर, जायफल, जावित्री, विधारा के बीज, धत्तूरे का शुद्ध बीज, गाजे का बीज, विदारीकन्द, शतावरी, नागवला, अतिवला, गोखरू, जलवेतस के बीज, इन सब द्रव्यो को एक-एक तोला प्रमाण मे लेवे। सर्व प्रथम पारद गन्धक की कज्जली बना ले। पश्चात् अभ्रभस्म मिलावे। तदनन्तर शेष द्रव्यो के बारीक चूर्ण को एक एक कर मिला कर खरल करता जाय। पुन. पान के रस मे १२ घन्टे तक घोटे और २ रत्ती की वटी बनाकर सुखाले और काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१–२ वटी। दिन मे २ से ३ बार।

अनुपान—रोगानुसार मधु तथा दूध से।

उपयोग—यह रसायन सभी प्रकार के सन्निपात ज्वरो मे अनुपान भेद से लाभ करता है। यह हृदय को बल देने वाली औषध है। श्वसनक और श्लैष्मिक सन्निपात ज्वर मे हृदय की निर्वलता होने पर इसके प्रयोग से अच्छा लाभ होता है।

यह हृदय की भित्तियो तथा कपाटो के शोथ को दूर करता है। इसके प्रयोग से फुफ्फुस का शोथ नष्ट होता है। यह तन्द्रा, बेहोशी, प्रलाप आदि उपद्रवो को दूर करता है। आन्त्रिक सन्निपात (मधुरा) मे हृदय क्षीणता, सर्वाङ्ग शूल, भ्रम, शुष्क काम, प्रभृति को नष्ट करता है। यह इन्फ्लुयेंजा मे अच्छा लाभ करता है।

नारदीय लक्ष्मी विलास रस (भै० र०)

उपर्युक्त योग का ही नाम नारदीय लक्ष्मी विलास है क्योकि इसके पाठ मे स्पष्ट रूपेण कहा है—"प्रोक्त. प्रयोगराजोऽय नारदेन महात्मना।" (भै० र०)। द्रव्यो की मात्रा मे कुछ मतभेद है। जैसे किसी-किसी पाठ मे रस (पारद)

गन्धक, कर्पूर, जावित्री, जायफल इन पाच द्रव्यों को आधा-आधा पल अर्थात् प्रत्येक द्रव्य २ तोला प्रमाण लेवे और शेष वृद्धदारक बीज आदि ९ द्रव्यों को एक-एक तोला प्रमाण मे लेवे। यही प्रमाण प्रचलित भी है। परन्तु राढ देशीय वैद्य कज्जली (पारा गन्धक सम्मिलित २ तोला लेते है।

नागवल्लभ रस (रसामृत)

कस्तूरी, दालचीनी, शुद्ध टकण, प्रत्येक तोला लेवे। केसर, शुद्ध हिङ्गुल, छोटी पीपल, प्रत्येक २ तोला, अकरकरा, जावित्री, जायफल और शुद्ध वत्सनाभ, प्रत्येक चार-चार तोला लेवे। प्रथम हिङ्गुल को खरल मे खूब पीस ले, बाद अन्य द्रव्यो का सूक्ष्म कपड छान किया हुआ चूर्ण एक एक करके मिलावे और घोटे। पुन इनको पान के रस की भावना देकर खूब मर्द्दन करे और १ रत्ती की वटी बना कर सुखाले और काच की शीशी में सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी दिन में ३ वार आर्द्रक स्वरस और मधु। इसका प्रयोग वात कफ ज्वरो मे तथा कास और श्वास मे लाभ दायक है।

त्रैलोक्य सुन्दर रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, इनको १-१ तोला कज्जली बना ले। पश्चात् कुटज मुशली, धत्तूर, भाँगरा, देवदाली, जैन, तथा मण्डूक पर्णी इन सबो के पत्तो का स्वरस निकाल कर यथा विधि भावना देवे और १ माशा की वटी बना कर सुखा ले।

मात्रा—१ वटी, दो या तीन वार यथा आवश्यक।

प्रयोग—सन्निपात ज्वर मे जब उदर विकार साथ हो तो इसका प्रयोग करे। दाह होने पर नारिकेल का पानी पिलावे।

मृतसंजीवनी रस (भै० र०)

शुद्ध हिङ्गुल ४ भाग, शुद्ध जमालगोटा ३ भाग, शुद्ध टकण २ भाग, शुद्ध वत्सनाभ चूर्ण १ भाग लेवे और इनको खरल मे अच्छी प्रकार पीसे। १ प्रहर पीसने के बाद आर्द्रक स्वरस की भावना देकर दिन भर घोटे। सूखने पर शीशी में रखे।

मात्रा—१ रत्ती, दिन मे २ से ३ बार। अनुपान त्रिकटु, चित्रक चूर्ण तथा सैंधव।

उपयोग—उक्त अनुपान के साथ सेवन करने से ज्वर का सताप नष्ट होता है। इसका प्रभाव २ मास के अन्दर दृष्टि गोचर होता है। इस रसको सेवन

करने के बाद कर्पूर, चन्दन आदि का लेप करने से शीघ्र लाभ होता है। पैर के तलवे मे पुराना गोघृत लेप कर कास्य पात्र के पेदे से मर्दन करने पर ज्वर शीघ्र उतरता है।

सूचिका भरण रस (भै० र०)

शुद्ध वत्सनाभ ४ तोला, शुद्ध पारद ४ माशा इन दोनो द्रव्यो का लेकर खरल मे एक दिन घोटे। पुनः इसकी टिकिया बना कर मिट्टी के सकोडे मे बन्द कर कपडमिट्टी कर सन्धि बन्धन कर दे। पुन: सुखा कर इसे वालुका यन्त्र मे रख कर दो प्रहर तक धीरे-धीरे पाक करे। पाकानन्तर स्वाङ्ग शीत होने पर सकोडे को खोले और उसमे भीतर संलग्न धूम सदृश काले अंश को यत्न पूर्वक निकाल कर काच की शीशी मे रख ले और उसकी डाट अच्छी तरह बन्द कर दे। इसके लिये Stoppered Bottle को लेना चाहिये। (सूचिका भरण रस अनेक हैं)

मात्रा—सूई की नोक पर जितनी औषध आ सकें।

उपयोग—सन्निपात ज्वरो मे जब रोगी सज्ञा हीन हो गया हो तो उसके शिर पर ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश मे वेधन पत्र से सूक्ष्म छिद्र कर उक्त प्रमाण मे औषध भर दे और उस प्रदेश को अङ्गुली से मर्द्दन करता रहे। इससे औषध रक्त मे प्रवेश कर अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके प्रयोग से सज्ञा हीन रोगी सज्ञा युक्त हो जाता है।

प्राचीन काल मे भी रक्त द्वारा औषध को साक्षात् रूपेण प्रविष्ट कराने की विधि प्रचलित थी, इसका प्रमाण इस प्रकार के योगों मे स्पष्ट रूप मे प्राप्त होता है। यह प्रयोग प्रायः चिकित्सक ऐसी अवस्था मे ही करते थे जब रोगी मुख द्वारा औषध नही ग्रहण करता था।

कस्तूरी भूषण रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, अभ्रभस्म, शुद्ध टकण, सोठ, कस्तूरी, पीपल, दन्तीमूल, भाग के बीज, कर्पूर, मरिच, ये सभी द्रव्य समान भाग मे लेवे। पृथक्-पृथक् द्रव्यो का बारीक चूर्ण करले। पुन इन्हे एक साथ मिला कर आर्द्रक स्वरस की सात (७) भावना देवे और इनकी रत्ती प्रमाण की बटी बना ले।

मात्रा—१ बटी दिन मे २ या ३ बार यथावश्यक। अनुपान आर्द्रक स्वरस तथा मधु।

नोट—पारद मे पारदभस्म या रस सिन्दूर तथा कज्जली का ग्रहण करना चाहिए।

गन्धक, कर्पूर, जावित्री, जायफल इन पाच द्रव्यो को आधा-आधा पल अर्थात् प्रत्येक द्रव्य २ तोला प्रमाण लेवे और शेप वृद्धदारक बीज आदि २ द्रव्यो को एक-एक तोला प्रमाण मे लेवे। यही प्रमाण प्रचलित भी है। परन्तु राढ देशीय वैद्य कज्जली (पारा गन्धक सम्मिलित २ तोला लेते है।

नागवल्लभ रस (रसामृत)

कस्तूरी, दालचीनी, शुद्ध टकण, प्रत्येक तोला लेवे। केसर, शुद्ध हिङ्गुल, छोटी पीपल, प्रत्येक २ तोला, अकरकरा, जावित्री, जायफल और शुद्ध वत्सनाभ, प्रत्येक चार-चार तोला लेवे। प्रथम हिङ्गुल को खरल मे खूब पीस ले, बाद अन्य द्रव्यो का सूक्ष्म कपड छान किया हुआ चूर्ण एक एक करके मिलावे और घोटे। पुन इनको पान के रस की भावना देकर खूब मर्द्दन करे और १ रत्ती की वटी बना कर सुखाले और काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी दिन में ३ वार आर्द्रक स्वरस और मधु। इसका प्रयोग वात कफ ज्वरो मे तथा कास और श्वास मे लाभ दायक है।

त्रैलोक्य सुन्दर रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, इनको १-१ तोला कज्जली बना ले। पश्चात् कुटज मुशली, धत्तूर, भांगरा, देवदाली, जैत, तथा मण्डूक पर्णी इन सबो के पत्तो का स्वरस निकाल कर यथा विधि भावना देवे और १ माशा की वटी बना कर सुखा ले।

मात्रा—१ वटी, दो या तीन वार यथा आवश्यक।

प्रयोग—सन्निपात ज्वर मे जब उदर विकार साथ हो तो इसका प्रयोग करे। दाह होने पर नारिकेल का पानी पिलावे।

मृतसंजीवनी रस (भै० र०)

शुद्ध हिङ्गुल ४ भाग, शुद्ध जमालगोटा ३ भाग, शुद्ध टकण २ भाग, शुद्ध वत्सनाभ चूर्ण १ भाग लेवे और इनको खरल मे अच्छी प्रकार पीसे। १ प्रहर पीसने के बाद आर्द्रक स्वरस की भावना देकर दिन भर घोटे। सूखने पर शीशी मे रखे।

मात्रा—१ रत्ती, दिन मे २ से ३ वार। अनुपान त्रिकटु, चित्रक चूर्ण तथा सैंधव।

उपयोग—उक्त अनुपान के साथ सेवन करने से ज्वर का सताप नष्ट होता है। इसका प्रभाव २ मास के अन्दर दृष्टि गोचर होता है। इस रसको सेवन

करने के वाद कर्पूर, चन्दन आदि का लेप करने से शीघ्र लाभ होता है। पैर के तलवे मे पुराना गोघृत लेप कर कास्य पात्र के पेदे से मर्दन करने पर ज्वर शीघ्र उतरता है।

सूचिका भरण रस (भै० र०)

शुद्ध वत्सनाभ ४ तोला, शुद्ध पारद ४ माशा इन दोनो द्रव्यो को लेकर खरल मे एक दिन घोटे। पुन: इसकी टिकिया बना कर मिट्टी के सकोडे मे वन्द कर कपडमिट्टी कर सन्धि वन्धन कर दे। पुन: सुखा कर इसे वालुका यन्त्र मे रख कर दो प्रहर तक धीरे-धीरे पाक करे। पाकानन्तर स्वाङ्ग शीत होने पर सकोडे को खोले और उसमे भीतर संलग्न धूम सदृश काले अश को यत्न पूर्वक निकाल कर काच की शीशी मे रख ले और उसकी डाट अच्छी तरह वन्द कर दे। इसके लिये Stoppered Bottle को लेना चाहिये। (सूचिका भरण रस अनेक हैं)

मात्रा—सूई की नोक पर जितनी औषध आ सके।

उपयोग—सन्निपात ज्वरो मे जव रोगी सज्ञा हीन हो गया हो तो उसके शिर पर ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश मे वेधस पत्र से सूक्ष्म छिद्र कर उक्त प्रमाण मे औषध भर दे और उस प्रदेश को अङ्गुली से मर्द्दन करता रहे। इससे औषध रक्त मे प्रवेश कर अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके प्रयोग से सज्ञा हीन रोगी सज्ञा युक्त हो जाता है।

प्राचीन काल मे भी रक्त द्वारा औषध को साक्षात् रूपेण प्रविष्ट कराने की विधि प्रचलित थी, इसका प्रमाण इस प्रकार के योगों मे स्पष्ट रूप मे प्राप्त होता है। यह प्रयोग प्रायः चिकित्सक ऐसी अवस्था मे ही करते थे जव रोगी मुख द्वारा औषध नही ग्रहण करता था।

कस्तूरी भूषण रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, अभ्रभस्म, शुद्ध टकण, सोठ, कस्तूरी, पीपल, दन्तीमूल, भाग के वीज, कर्पूर, मरिच, ये सभी द्रव्य समान भाग मे लेवे। पृथक्-पृथक् द्रव्यों का वारीक चूर्ण करले। पुन इन्हे एक साथ मिला कर आर्द्रक स्वरस की सात (७) भावना देवे और इनकी रत्ती प्रमाण की वटी वना ले।

मात्रा—१ वटी दिन मे २ या ३ वार यथावश्यक। अनुपान आर्द्रक स्वरस तथा मधु।

नोट—पारद मे पारदभस्म या रस सिन्दूर तथा कज्जली का ग्रहण करना चाहिए।

उपयोग—इसका उपयोग वात-श्लेष्मोल्वण सन्निपात मे करते है। इसके अतिरिक्त यह कास, श्वास क्षय तथा उर्ध्वजत्रुविकार मे, प्रयुक्त होता है। विषमज्वर तथा शोथ रोग मे भी इसका प्रयोग विहित है। यह शुक्र, ओज और वल को वढाने वाली औषध है। पित्त श्लेष्माधिक त्रिदोषज विकारो में भी यह अच्छा कार्य करता हैं।

हेमगर्भ पोट्टली रस

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, प्रत्येक १–१ तोला, सुवर्णभस्म या वर्क। रजतभस्म, लौहभस्म और रस सिन्दूर प्रत्येक ६ माशे लेकर भेड के दूध की ३ भावना देवे। भावना देकर इनकी ऐसी गोली वनावे जो शिखरवाली हो। इस गोली को नये रेशमी कपडे मे दृढ वाध कर सुखावे। पुन इन्हे कपडे मे रख डोरी से वाध कर ऐसी हॉडी मे लटकावे जिस मे दण्डा गन्धक भरा हुआ हो। गन्धक का प्रमाण इतना होना चाहिये कि उसके गलने (पिघलने) पर उक्त पोटली डूव जाय। पुन कपडे की वत्ती वना कर उसे तेल मे भिगो ले और उसे जलाकर उसके ताप से गन्धक को पिघलावे। लगभग आधे घन्टे मे गन्धक पिघल जाता है और पोटली गत औषधं का पाक होने लगता है। आधे या एक घण्टे पश्चात् पोट्टली के पाक हो जाने पर पोटली को निकाल ले और शीतल होने देवे। पुन पोटली को उष्ण जल से प्रक्षालन कर ले। वाद पोट्टली पर लगे गन्धक को चाकू से साफ कर ले।

मात्रा—½ से १ रत्ती। अनुपान रोग की अवस्थानुसार आर्द्रक स्वरस प्रभृति। दिन मे २–४ वार।

हेमगर्भ पोट्टली रस के उपयोग—यह एक परमोत्कृष्ट रसायन है। शरीर और मन को वृहण करने वाली रसायन औषधि है। यह हृदय को तथा मस्तिष्क को वल प्रदान करती है। इसका उपयोग सन्निपातज्वर के उग्रावस्था मे जव मूर्च्छा, सज्ञानाश, शीताङ्ग आदि लक्षण उत्पन्न होते है तव होता है। इससे आश्चर्य जनक लाभ होता है। स्वमनक सन्निपात तथा आन्त्रिक सन्निपात ज्वर मे जव हृदय की गति अति दुर्वल हो जाती है, शरीर मे शीतलता तथा नाडी गति क्षीण होने लगती है तव इसके प्रयोग मे आश्चर्यजनक लाभ देखा गया है। इसके प्रयोग से रोगी शीघ्र चेतना लाभ करता है, नाडी की गति समावस्था मे आ जाती है तथा हृदय को वल प्राप्त होता है। यह ऑतो मे उत्पन्न मेन्द्रिय विषो को उदासीन कर देता है तथा श्वास की गति को प्रकृत अवस्था मे लाता है।

(२) हेमगर्भ पोट्टली रस (रसामृत)

शुद्ध पारद ४ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, सुवर्ण भस्म १ भाग, ताम्रभस्म ३ भाग, इन्हे यथोक्त प्रमाण मे लेकर ग्वारपाठे (घृतकुमारी) के रस मे ७ दिन मर्दन करे। पुन. इनकी शङ्काकार गोली बना ले। सूख जाने पर इसे शुद्ध गन्धक का चूर्ण बिछाये हुए एक रेशमी कपडे मे रख कर सूत से दृढ बाध दे। पुन. एक मिट्टी की हाड़ी मे इतना गन्धक रखे कि जिसके पिघलने पर उक्त पोटली उस में डूब जाय और उसका पाक हो सके। पुन. इस हाडी पर एक लकडी या लौह के छड के सहारे उक्त पोटली (गोली) को कपडे मे बांध लटका देवें। (दोला यन्त्र की भाति) इसे (हाडी को) मन्दाग्नि पर रख कर पकावे। जब हांडी का गन्धक पिघल जावे और पोटली का पाक होकर गन्धक द्रव्य का वर्ण आसमानी रङ्ग का हो जावे तो पोटली को बाहर निकाल कर रख दे और शीतल हो जाने पर कपडो को हटा उष्ण जल से पोटली को प्रक्षालित करले ओर उस पर चिपके हुए गन्धक को चाकू से साफ कर ले।

मात्रा—½ से १ रत्ती।

उपयोग—पूर्ववत्।

पुनश्च—कोई कोई वैद्य इस मे समीरपन्नग भी ६ माशा मिला देते हैं। अर्थात् उक्त औषधो मे ½ भाग समीरपन्नग मिला कर पोट्टली बनाते हैं।

इन हेमगर्भ पोट्टली रस का उपयोग सन्निपात ज्वर की अन्तिमावस्था मे जब सभी दवाये असफल हो जाती हैं तो किया जाता है। सन्निपात की अन्तिमावस्था मे जब शरीर शीतल होने लगता है, ऊर्ध्वश्वास चलने लगती है, नाडी की गति इतनी क्षीण हो जाती है कि स्पर्श से उसका ज्ञान नहीं होता, रोगी अचेत हो जाता है तब भी इससे आश्चर्य जनक लाभ होता है।

सूत शेखर रस (योग रत्नाकर)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टकण, शुद्ध वत्सनाभ, सुवर्ण भस्म, ताम्र भस्म, सोठ, काली मिर्च, पीपल, शुद्ध धत्तूर बीज, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर, इलायची (छोटी), बेलगिरि, शखभस्म, कचूर, इन १७ औषधियो को समान भाग मे लेकर पृथक्-पृथक् चूर्ण (कपडछान) कर ले। प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले, पुनः स्वर्ण भस्म, ताम्र भस्म को मिलाकर खूब घोटे पश्चात् शुद्ध टकण आदि औषधो के बारीक चूर्ण को मिलावे और भांगरे के स्वरस मे १२ घन्टे घोटे। पश्चात् एक-एक रत्ती की वटी बना ले।

आचार्य यादव जी ने इसमे थोड़ा परिवर्तन किया है। जैसे—रजत भस्म,

इन्होने अधिक दिया है तथा २१ दिन तक भावना देने का निर्देश किया है। मात्रा २ रत्ती की कही है और इसे छाया शुष्क करने का विधान किया है।

मात्रा—१ वटी। ३–४ घन्टे के अन्दर ले। अनुपान दुग्ध, घी, मधु आदि।

उपयोग—यह अम्लपित्ताधिकार की उत्कृष्ट औषध है। पित्त के विकारों को शान्त करने के लिए यह परमोत्कृष्ट औषध है। यह आमाशय मे तथा पित्ताशय मे उत्पन्न पित्त प्रकोप का शमन करता है।

अत पित्त ज्वर तथा पित्तोल्वण सन्निपात ज्वर मे जब छर्दि आदि उपद्रव हो तो इसके प्रयोग से अत्यधिक लाभ होता है। पित्त प्रशमक होने मे यह ज्वर के सताप को भी कम करता है। सन्निपात ज्वरो मे विशेषत आन्त्रिक सन्निपात मे सूतशेखर का महत्त्वपूर्ण उपयोग है। यह आन्त्रिक ज्वर के कीटाणुओं के उत्सृजित विष को उदासीन करता है तथा तज्जन्य उत्तेजित रक्ताभिसरण क्रिया को भी शान्त करता है। आन्त्रिक ज्वर मे उत्पन्न पित्त के विकारो को जैसे दाह, अतिसार, छर्दि आदि को यह शान्त करता है। इसका प्रभाव सहस्रार तथा वात वाहिनियो पर भी शामकरूप मे देखा गया है। इनमे भी हृदय, फुफ्फुस, आमाशय और आन्त्र को अनुप्राणित करने वाली वातवाहिनियो (Nerves) पर इसका विशेष प्रभाव देखा गया है। इसके प्रयोग से भ्रम, आक्षेप, प्रसेक, छर्दि, विदाह, अम्लोद्गार हिक्का, निद्रानाश, शीत पित्त, अम्ल पित्त, नासारक्त, अतिसार तथा ग्रहणी विकार नष्ट होते हैं।

यह परमोपयोगी रसायन है और अनुपान भेद मे सभी प्रकार के पित्तज विकारो मे लाभ करता है। इसके प्रयोग मे अग्नि प्रदीप्त होती है तथा अरुचि, उत्क्लेश, अग्निमान्द्य, आदि विकार शान्त होते हैं।

प्रलापान्तक रस (र० त०)

शुद्ध धतूर बीज ९ माशा, शुद्ध पारद ६ माशा, शुद्ध गन्धक ६ माशा, त्रिकटुचूर्ण १ तोला, शुद्ध टकण १ तोला, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले। पश्चात् अन्य द्रव्यो के कपडछान बारीक चूर्ण को मिला कर निम्बु के स्वरस मे अच्छी तरह घोटे। पश्चात् १ रत्ती की वटी बना ले और सुखा कर काँच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी।

अनुपान—रोग तथा अवस्थानुसार दिन मे २ से ३ बार यथावश्यक।

उपयोग—यह औषध प्रलाप को शान्त करने के लिये ज्वरादि रोगो मे प्रयुक्त होता है। यह अग्निदीपक और पाचन है तथा अग्निमान्द्य को नष्ट करता है।

निद्रोदय रस (रसतरङ्गिणी, र० यो० सा०)

आहिफेन (शुद्ध) ६ माशा, वंशलोचन ६ माशा, रस सिन्दूर ६ माशा, धावा के फूल २ तोला, आमलकी चूर्ण २ तोला, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर भांग की ३ भावना देवे। सर्वप्रथम अहिफेन को भाग के स्वरस या क्वाथ मे घोल ले और पश्चात् अन्य चूर्ण को तथा बीज निकाले हुए मोनक्का १२ तोला को मिलावे और अच्छी प्रकार घोटे। पश्चात् ४ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ वटी। १ से २ वार आवश्यकतानुसार।

उपयोग—सन्निपात ज्वर मे तथा अन्य ज्वरादि विकारो मे जब निद्रा नही आती तब इसका प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग वैद्य को सावधानी से करना चाहिये। इसका उपयोग शुक्रस्तम्भन तथा वृष्य कर्म के लिये भी होता है। इसका उपयोग कोष्ठबद्धता की अवस्था मे नही करना चाहिये।

मधुरान्तक वटी

मुक्ता पिष्टी १ माशा, कस्तूरी २ माशा, केशर ३ माशा, जायफल ४ माशा, जावित्री ५ माशा, लवङ्ग ६ माशा, तुलसी पत्र ६ माशा और अभ्रभस्म ८ माशा, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेवे और आर्द्रक स्वरस मे इनके चूर्ण को मिलाकर खरल मे ३ घन्टे तक अच्छी प्रकार घोटे पश्चात् एक-एक रत्ती की वटी बना कर शुष्क होने पर काच की शीशी मे रख ले।

मात्रा—१ वटीदिन मे २ से ३ वार आर्द्रक स्वरस से।

उपयोग—आन्त्रिक ज्वर मे, इसके प्रयोग से मन्थरी दाने शीघ्र प्रगट हो जाते है तथा ज्वर का सन्ताप न्यून होता है। यह आन्त्रिक ज्वर मे उत्पन्न विष को शान्त करता है।

सिद्ध प्राणेश्वर रस (भै० र०)

शुद्ध गन्धक ४ भाग, शुद्ध पारद ४ भाग, अभ्रभस्म ४ भाग, स्वर्जीक्षार १ भाग, शुद्ध टकण १ भाग, यवक्षार १ भाग, सैंधव लवण १ भाग, सामुद्र लवण १ भाग, विड् लवण १ भाग, सौवर्चल लवण १ भाग, रोमक लवण १ भाग, सोठ १ भाग, पीपल १ भाग, मरिच १ भाग, हरड १ भाग, वहेड़ा १ भाग, आमला १ भाग, इन्द्रयव १ भाग, सफेद जीरा १ भाग, स्याह जीरा १ भाग, चित्रक की जड १ भाग, अजवायन १ भाग, घृतभर्जित हीग १ भाग, विजैसार १ भाग, सौंफ १ भाग, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर सर्वप्रथम पारद गन्धक की कज्जली बना ले। पश्चात् अभ्रभस्म तथा अन्य द्रव्यो को वारीक (कपडछान) चूर्ण को मिलावे और खरल मे अच्छी प्रकार

घोंटे। पुन. पर्ण स्वरस की भावना दे २ रत्ती की वटी बना ले। शुष्क होने पर काच की शीशी मे रखे।

मात्रा—१ वटी दिन मे ३ से ४ वार आवश्यकतानुसार जल मे।

उपयोग—यह ज्वरातिसार की परम प्रसिद्ध औषध है। ऐसे ज्वरो मे जब अतिसार उपद्रव या लक्षण के रूप मे हो, वहा इसके प्रयोग मे प्रर्याप्त लाभ होता है। इसका उपयोग ग्रहणी आदि विकारो म जब ज्वर हो तब करना परम लाभप्रद होता है।

त्रैलोक्य चिन्तामणि रस (यो० र०)

रस सिन्दूर, हीराभस्म, स्वर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म, लौहभस्म, अभ्रभस्म, शुद्ध गन्धक, मुक्ताभस्म, शखभस्म, प्रवालभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनशिल, इन १३ औषधियो को समान भाग मे लेकर चित्रकमूल क्वाथ की ४ भावना ४ दिन मे देवे। खरल मे इन्हे अच्छी प्रकार घोटे। पश्चात् अर्कदुग्ध, निर्गुण्डी पत्र रस, सूरणकन्द रस और स्नूहीदुग्ध की भावना देकर क्रमशः ३-३ दिन तक घोंटे। पुन शुद्ध पीले रग की कौडियो मे इसे भर कर, अर्कदुग्ध मे खरल किए हुए शुद्ध टकण से उक्त कौडियो का मुख बन्द कर दे। पश्चात् इन कौडियो को शराव मे भर कर कपडमिट्टी कर गजपुट मे फूँके। स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल कर खरल मे पीस ले और इसके समान परिमाण मे रस सिन्दूर तथा रस सिन्दूर के चतुर्थाश वैक्रान्तभस्म मिलाकर पुन सहिजन मूलत्वक् क्वाथ की ७ भावना देवे। तत्पश्चात् चित्रकमूल क्वाथ की २१, आर्द्रक स्वरस की ७ और जम्बीरी निम्बु रस की ७ भावना देवे। पुन इस के सूख जाने पर शुद्ध टकण, शुद्ध वत्सनाभ और काली मिर्च, इन तीनो को उक्त चूर्ण के ½ भाग और लवङ्ग, सोठ, हरड़, पीपल, जायफल ये प्रत्येक शुद्ध वत्सनाभ के चतुर्थांश मिलाकर विजौरा और आर्द्रक स्वरस की १-१ भावना देवे। शुष्क होने पर काच की शीशी मे रखे।

मात्रा—½ से २ रत्ती।

उपयोग—यह सब प्रकार के सन्निपात ज्वरो मे तथा अन्य रोगो की अन्तिमावस्था मे प्रयुक्त होता है।

यह एक परमोत्कृष्ट रसायन है। अनेक रोगो मे अनुपान भेद से इसका आश्चर्यजनक लाभ देखा गया है। श्लेष्मोल्वण सन्निपात तथा श्वसनक ज्वर की अन्तिमावस्था मे इसके प्रयोग से आश्चर्यजनक लाभ देखा गया है। यह अग्निबल, तेज और वीर्य को बढाता है। यह हृदय, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क एव वातवाहिनियो को बल प्रदान करता है। यह रसायन होने से शरीर धातुओ को बल

प्रदान करता है। यह रक्त के चाप का नियमन करता है तथा प्राणवायु की न्यूनताजन्य अन्तरावयों की दुर्बलता को दूर करता है। यह नाड़ी की क्षीणावस्था में देने से उसे सबल बनाता है। संक्षेप में यह हृद्य, ओजस्कर, अग्निप्रदीपक, बलवर्धक और धातुसाम्य उत्पन्न कर नानाविध व्याधियों को शान्त करता है।

हृद्रोग रत्नाकर रस (आ० वि०)

स्वर्णभस्म, हीरकभस्म, वैक्रान्तभस्म, वङ्गभस्म, अभ्रभस्म, रस सिन्दूर, शुद्ध गन्धक, प्रत्येक समभाग लेकर, सबों के तुल्य प्रमाण में लौहभस्म लेवें। इन्हें खरल में अच्छी प्रकार पीसें और बाद अर्जुनत्वक् क्वाथ, गेहूँ के क्वाथ और यव के क्वाथ में ७, ७ भावना देकर पुनः घृतकुमारी स्वरस की ३ भावना देवें। पश्चात् इनकी टिकिया बनाकर शुष्क होने पर ७ अहोरात्र रक्तशाली के ढेर में रख छोड़े। बाद में निकाल कर २ रत्ती की वटी बना दे और शुष्क हो जाने पर कांच की शीशी में सुरक्षित करे।

मात्रा—½ से १ वटी।

उपयोग—यह हृदय को बल देने वाली परमोत्तम औषधि है। सन्निपात ज्वरों के कारण तथा अन्य व्याधियों के कारण जब हृदय दुर्बल हो० जाता है तब इसका प्रयोग अपेक्षित है। यह सब प्रकार के हृदय विकार को यथा कौष्ठिक, पृथुक, आवरणिक, विक्षेपिका, मेद सूत्र परिक्षय और आयामिक प्रभृति को नष्ट करता है।

योगेन्द्ररस (भै० र०)

रस सिन्दूर २ तोला, सुवर्णभस्म १ तोला, कान्तलौहभस्म १ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला, मुक्तापिष्टी १ तोला, वङ्गभस्म १ तोला, इन सब द्रव्यों को यथोक्त प्रमाण में लेकर खरल में अच्छी प्रकार पीसें। पुन ३ दिन तक घृतकुमारी के रस में मर्दन कर गोली बना ले। बाद उसे एरण्ड पत्र में लपेट कर कच्चे डोरे से बांधकर धान्य राशि में ३ दिन तक छिपाकर रख छोड़े। पश्चात् निकालकर १ रत्ती की वटी बना छाया शुष्क कर ले।

मात्रा—१-२ वटी रोगानुरूप अनुपान से

उपयोग—यह वातोल्वण सन्निपात में अच्छा कार्य करता है। वातव्याधियों के लिये यह परमोत्कृष्ट रसायन है। यह हृदय, मस्तिष्क तथा वात नाड़ियों को बल देने वाली उत्तम औषधि है। इसके सेवन से इन्द्रियों को बल प्राप्त होता है। इसका प्रभाव मूत्रसंस्थान पर भी पड़ता है जिससे प्रमेह विकारों में भी इससे लाभ होता है। मूत्र संस्थान के विकारों पर शिलाजीत के साथ इसका प्रयोग

करने पर अच्छा लाभ करता है। यह रक्तभार वृद्धि का भी नियमन करता है अत. पक्षाघात आदि तज्जन्य रोगो मे भी इसका व्यवहार होता है।

रस सिन्दूर (र० त०)

रस सिन्दूर बनाने की अनेक विधियां हैं। समभाग पारदगन्धक, द्विगुण गन्धक तथा षड्गुण बलिजारित पारद से इसका निर्माण होता है। ये भिन्न-भिन्न मात्रा मे गन्धक के योग से बना रस सिन्दूर क्रमशः अधिक गुणवान् माना गया है। उपर्युक्त मात्रा मे पारद गन्धक (सम, द्विगुणि तथा षड्गुण) को लेकर यथा-विधि कज्जली बना ले। पुन. घीकुआर के रस की भावना दे कर सुखा ले और आतसी शीशी मे भरकर बालुकायन्त्र मे ४ अहोरात्र अग्नि देकर यथाविधि रस सिन्दूर का निर्माण कर ले। (निर्माण की विधि आकर ग्रन्थ मे देखे)।

मात्रा—१–२ रत्ती। दिन मे २ बार।

अनुपान—रोगानुसार। यह उत्तम हृदय को बल देनेवाली रसौषधि है। फुफ्फुस पर भी इसका बल्य प्रभाव होता है। कफप्रधान सन्निपात, श्वसनक, श्लैष्मिक सन्निपात ज्वरो मे इसका प्रयोग अनुपान भेद से होता है।

मकरध्वज रस (भै० र०)

शुद्ध पारद ८ तोला लेकर पत्थर के खरल मे डाले। पश्चात् उसमे १ तोला सोने का वरक एक-एक करके मिलाता जाय और नीबू का रस डालकर दिन भर मर्दन करे। दूसरे दिन उसको धोकर, उसमे शुद्ध गन्धक १६ तोला मिलाकर यथाविधि कज्जली तैयार करे। पुनः उसे घृतकुमारी स्वरस मे घोट कर तथा रक्तपुष्प कर्पास के पुष्प के रस मे घोट कर सुखा ले। पश्चात् एक अच्छी कपड़मिट्टी की हुई आतसी शीशी मे भर कर बालुका यन्त्र मे रस सिन्दूर के समान पकावे। (निर्माण विधि आकर ग्रन्थ मे देखे)

मात्रा तथा अनुपान—½ से १ रत्ती। यह परमोत्तम हृद्य तथा मस्तिष्क को बल देने वाला रसायन है। यह वृष्य तथा बलकारक भी है। सन्निपात ज्वर मे हृदय को बल प्रदान करने के लिए तथा नाडी गति की क्षीणता को दूर करने के लिए यह परमोपयोगी रसौषध है। अनुपान भेद से यह अनेक रोगो को शान्त करता है। यह धातुक्षय को दूर करता है तथा आन्त्रशोथ का नाशक है। ज्वरादि रोगो के कारण शरीर मे उत्पन्न सेन्द्रिय विष को यह नष्ट करता है तथा जन्तुघ्न है। इससे मानसिक दौर्बल्य भी शान्त होता है।

जवाहर मोहरा (सि० यो० स०)

माणिक्य पिष्टी २ तोला, पन्ना की पिष्टी २ तोला, मुक्ता पिष्टी २ तोला, प्रवाल पिष्टी २ तोला, संगेयशव पिष्टी ४ तोला, कहरवा पिष्टी २ तोला, चांदी

के वरक १ तोला, सोने का वरक १ तोला, दरियाई नारियल का चूर्ण ४ तोला, आवरेशम कतरा हुआ २ तोला, मृगश्रृङ्गभस्म ४ तोला, जदवार (निर्विषी) का चूर्ण २ तोला, कस्तूरी १ तोला, अम्बर २ तोला, इन सभी द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेवे और दृढ न घिसने वाले पत्थर के खरल मे प्रथम सब पिष्टियो को पश्चात् अन्य द्रव्यो के बारीक (कपडछान) चूर्ण को डाले और खूब पीसे। पश्चात् सोने और चाँदी के वरको को एक एक करके मिलावे और मर्दन करे। जब सब मिल जाय तब उसमे अर्क गुलाब थोड़ा-थोड़ा डालकर १४ दिन तक मर्दन करे। १५ वे दिन उसमे कस्तूरी और अम्बर को मिलाकर पुन एक दिन गुलाब के अर्क मे घोटे और १-१ रत्ती की वटी बनाकर छाया शुष्क कर शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी दिन मे २-३ बार मधु तथा अन्य यथायोग्य अनुपान से।

उपयोग—यह हृदय को बल प्रदान करने वाली परमोत्कृष्ट औषध है। दिल की घबराहट, हृदय का धडकन, अल्पायाम से भी श्वास कष्ट इसके प्रयोग से शीघ्र दूर होता है।

याकूती (सि० यो० स०)

माणिक्य पिष्टी, पन्ना पिष्टी, मुक्ता पिष्टी, प्रवाल पिष्टी, चन्द्रोदय (मकरध्वज) सोने का वरक, अम्बर, कस्तूरी, आवरेशम कतरा हुआ, और केशर, प्रत्येक द्रव्य २ तोला के प्रमाण मे लेवे। वेहमन सफेद, वेहमन लाल, जायफल, लौंग और सफेद मिर्च प्रत्येक का चूर्ण १-१ तोला। प्रथम चन्द्रोदय (मकरध्वज) को अच्छी प्रकार खरल मे पीस ले पश्चात् अन्य द्रव्यो को तथा सोने के वरक को मिलाकर खूब मर्दन करे। पुन गुलाब के अर्क की भावना दे २१ दिन तक मर्दन करे। पश्चात् १-१ रत्ती की वटी बना ले और छाया मे सुखा कर कांच की शीशी मे रख ले।

अवधेय—कस्तूरी और अम्बर को अन्त मे गुलाबजल मे घोट कर मिलाना चाहिये।

मात्रा—१ वटी। पोदीना स्वरस, मधु तथा अन्य आवश्यक अनुपान से।

उपयोग—सन्निपात ज्वर आदि मे उत्पन्न हृदय दौर्बल्य को यह दूर करता है। नाड़ी की क्षीणता, शरीर का शीतल होना, स्वेदाधिक्य तथा हृद्दौर्बल्य मे यह परमोपादेय औषध है। हृदय के सब प्रकार के दौर्बल्य मे यह अच्छा कार्य करता है। हृदय के बढे हुए धडकन पर यह अच्छा लाभ करता है।

समीरपन्नग रस

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सोमल, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध हरताल, प्रत्येक

द्रव्य समभाग लेकर यथाविधि कज्जली बनावे। पुन. तुलसी स्वरस या घीकुआर के रस की ३ दिन तक भावना देकर गुटिका लेवे। पश्चात् इसे आतसी शीशी मे भर कर वालुका यन्त्र मे यथाविधि पकावे। स्वाङ्ग शीतल होने पर शीशी को निकाल कर गलभाग मे लगे हुए औषध को सावधानी से पृथक् कर ले।

मात्रा—½ से २ रत्ती तक। पान, आर्द्रक रस अथवा मधु मे यथावश्यक दिन मे २–३ बार देवे।

उपयोग—यह रसायन त्रिदोष ज्वर, श्वसनक ज्वर आदि मे उत्पन्न घबराहट, सन्निवात, प्रलाप, उन्माद, कास, श्वास, प्रतिश्याय, प्रभृति रोगो को दूर करता है। यह श्वासवाहिनियो और फुफ्फुस के वायुकोषो के आभ्यन्तर श्लैष्मिककला के शोथ को शान्त करता है तथा तत्रस्थ जमे हुए कफ का स्राव कराता है। इसके प्रयोग से श्वास नलिकाओ मे उत्पन्न दुष्ट्रव्रण नष्ट होता है। वात-कफ भूयिष्ठ श्वास रोग मे समीरपन्नग अच्छा कार्य करता है। इसके प्रयोग से शीघ्र श्लेष्म का स्राव हो कष्ट दूर होता है।

सुवर्णभूपति रस (यो० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक प्रत्येक १-१ भाग, ताम्रभस्म २ भाग, अभ्रभस्म १ भाग, लौहभस्म १ भाग, कान्तलौहभस्म १ भाग, स्वर्णभस्म १ भाग, रजत-भस्म १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ १ भाग, इन सभी द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर खरल मे अच्छी प्रकार मिला लेवे। पुन हंसराज के रस मे १२ घण्टे तक मर्दन करे। सूखने पर आतसी शीशी मे भर ले और यथाविधि वालुका यंत्र मे पकावे। स्वाङ्ग शीतल होने पर शीशी से औषध को यथाविधि निकाल ले।

मात्रा—१–३ रत्ती। आर्द्रक स्वरस, मधु, मिश्री आदि अनुपान से देवे।

उपयोग—यह रसायन सब प्रकार के सन्निपात ज्वरो मे तथा क्षयरोग की दूसरी अवस्था मे परमोपकारी है। आमवात, धनुर्वात, ऊरुस्तम्भ, आदि वात रोगो मे तथा संग्रहणी, उदावर्त, गुल्म एव उदर रोगो मे अच्छा लाभ करता है। ताम्र का योग होने से प्लीहाभिवृद्धि, यकृद्विकार, जीर्ण ज्वरो मे अच्छा कार्य करता है। यह आंतो मे उत्पन्न सेन्द्रिय विष को उदासीन कर पाचन प्रणाली को कार्यक्षम बनाता है तथा तत्रस्थ वातवाहिनियो को बल प्रदान करता है। यह वृक्क के विकारो पर भी अपना लाभ दिखलाता है।

हिरण्यगर्भ पोट्टली रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, १ तोला, सुवर्णभस्म २ तोला, मुक्ताभस्म ३ तोला, शखभस्म ६ तोला, शुद्ध गन्धक ३ तोला, कौडीभस्म ३ तोला, शुद्ध टकण ½ तोला, इन सभी द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर प्रथम पारद और गन्धक को मिलाकर

यथाविधि कज्जली तैयार करले। तत्पश्चात् शेष द्रव्यों के कपडछान चूर्ण को मिलावे और अच्छी प्रकार खरल मे घोटे। पुन पके हुए निम्बु के स्वरस मे १ प्रहर तक घोंटे और कल्क बना ले। बाद इस कल्क को मूषा मे भरकर उसके मुख को गुड, चूना और खड़िया आदि से अच्छी प्रकार बन्द कर दे। पुनः ३० जङ्गली उपलो के एक हाथ गहरे गजपुट मे फूके। स्वाङ्ग शीत होने पर मूषा को निकाल कर सावधानी पूर्वक उसे तोड़कर उससे सिद्ध औषध को निकाल ले और पत्थर के खरल मे पीस कर काँच की शीशी मे रख ले।

मात्रा—२ रत्ती। अनुपान रोगानुसार घृत, मधु, कालीमिर्च का चूर्ण प्रभृति।

उपयोग—यह परमोत्तम हृद्यरसायन है। इसका उपयोग हृदय को तथा मस्तिष्क को बल प्रदान करने के लिये सन्निपात ज्वरो मे, अन्य विषम ज्वर आदि रोगो मे होता है। यह संग्रहणी, अतिसार, अर्श, शोथ, पाण्डु, शूल, उदर-रोग, यकृद्विकार, प्लीहा के विकार तथा अन्य त्रिदोषज विकारो मे परमोपकारी है।

संज्ञा संस्थापक नस्य

कस्तूरी-१ भाग, कर्पूर-२ भाग, केशर-२ भाग, नौसादर-४ भाग, चूना-४ भाग और हींग-१ भाग इनको अच्छी प्रकार मिलाकर स्टापर्ड बोतल मे रख ले।

संज्ञाहीन रोगी को इसके नस्य से संज्ञा आ जाती है।

वेदनान्तक रस (र० त०)

शुद्ध अहिफेन, ३ माशा, कर्पूर ३ माशा, पारसीक यमानी ३ माशा, रस सिन्दूर ६ माशा, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर भाग के स्वरस मे मर्दन करे और २ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ वटी। आवश्यकतानुसार जल से।

उपयोग—अनेक प्रकार की वेदनाओ की शान्ति के लिए इसका उपयोग होता है।

दाहान्तक योग

(१) पर्पटादिक्वाथ (भै० र०)

पित्तपापडा, नागरमोथा और खस इनका यथाविधि क्वाथ बनावे और शक्कर डाल कर रोगी को पिला दे।

मात्रा—२½ तोला से ५ तोला तक।

उपयोग—पित्त ज्वर मे दाहशान्ति के लिये।

(२) चन्दनादिक्वाथ (भै० र०)

चन्दन, पित्तपापडा, खस, सुगन्धवाला, नागरमोथा, कमल का फूल, कमल-दण्ड, सौंफ, धनिया, पद्मकाष्ठ और आँवला इन्हे सम प्रमाण में लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—२½ तोला से ५ तोला तक मधु मिलाकर पिलावे। सब प्रकार का दाह शान्त होता है।

(३) दाहान्तक रस (भै० र०)

शुद्ध पारद ५ तोला, शुद्ध ताम्रपत्र १ तोला, शुद्ध गन्धक ५ तोला। प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले और उसे जम्बीरी निम्बु और पान के रस मे क्रमश दो-दो प्रहर तक घोटे और पश्चात् कज्जली को उक्त ताम्रपत्र पर लेप दे (लिप्त कर दे)। पुन. इस ताम्रपत्र को शराव-सम्पुट मे बन्दकर कपड़ मिट्टी कर सुखा ले और इस सम्पुट को बालुका यन्त्र मे रख पाक करे। पाक हो जाने पर जब स्वाङ्ग शीत हो जाय तो सम्पुट को निकाल ले और उसे तोडकर अन्दर से सिद्ध रस को निकाल कर खरल मे पीस काँच की शीशी मे रख ले।

मात्रा—२ रत्ती। अनुपान–त्रिकटु चूर्ण ३ रत्ती, आर्द्रक स्वरस ½ तोला और मधु के साथ मिलाकर देवे। यह रस दाह और पित्तज मूर्च्छा को शान्त करता है।

किराताद्यर्क

चिरायता, कुटकी, नीम की अन्तरछाल, सोंठ, हरड, धमासा, पटोलपत्र, लालचन्दन, नागरमोथा और खस इन दश ओषधो को समान भाग मे लेकर जौकुट कर ले ओर उन्हे अष्ट गुण जल मे भिगोकर रात्रि भर छोड दे। पश्चात् प्रात काल भभका (परिस्रवण यन्त्र) मे यथाविधि अर्क निकाल ले।

मात्रा—२½ तोला से ५ तोला तक। दिन मे दो से ४ बार यथावश्यक पिलावे।

उपयोग—यह अर्क सब प्रकार के ज्वर म सन्ताप तथा दाहादि को दूर करने के लिये निरापद औषध है।

अतस्यादि लेप

अलसी बीज ५ तोला लेकर कुछ देर तक जल मे रख छोडे। जब वह अभिषिक्त हो लुआब देने लगे तो उसे सिल पर अच्छी प्रकार पीस ले और उसे मन्द अग्नि पर उष्ण कर ले। पुन उतार कर जब वह कोष्ण होजाय (सहज उष्ण) तो उसमें ३० बून्द तारपीन का तेल और ५ रत्ती कपूर मिला खूब फेट ले और एक कपड़े पर उसे फैलाकर दूसरे कपडे से ढँक दे। बाद यथावश्यक स्थान पर

इसका प्रयोग (उपनाह के रूप मे) करे। कभी-कभी इसका साक्षात लेप भी करना पडता है।

दशाङ्गलेप (शा० स०)

सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, इलायची, जटामासी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ, और खस, इन दश औषधियो को समभाग मे लेकर वारीक चूर्ण कर ले।

उपयोग—इस चूर्ण को यथावश्यक प्रमाण मे लेकर जल मे पीस ले। पुनः इसमे पंचमाश ($\frac{1}{5}$) घी मिलाकर अभीष्ट स्थान पर लेप करे। पश्चात् लेप के ऊपर रुई का पहल या फलालैन का कपडा ढक दे। यह शोथहर लेप है। पैत्तिक शोथ तथा रक्तज शोथ पर यह अधिक लाभ करता है। ज्वर मे शिरःशूल होने पर १ तोला लेप द्रव्य को १०–१५ तोले शीतल जल मे पीसकर, इसमे अभिसिक्त वस्त्र को ललाट पर रखने से पीडा शान्त होती है तथा सताप भी कम होता है। इसका उपयोग व्रणशोथ, विस्फोट, विसर्प आदि पर भी होता है।

(१) कर्पूरादि लेप

मोम १६ भाग, शुद्ध कर्पूर २ भाग, पिपरमिन्ट ४ भाग, लवङ्ग तेल १ भाग, विन्टरग्रीन का तेल १ भाग, मेथेलेटेड स्पिरिट १ भाग, नारियल का तेल ६४ भाग।

निर्माण विधि—सर्वप्रथम स्पिरिट मे कर्पूर को मिला दे। पुनः मोम को नारिकेल तैल मे मिलाकर मन्दाग्नि पर गर्म कर पिघला ले और उसे अच्छी प्रकार मिलावे। जब दोनो अच्छी प्रकार मिल जाय तो अग्नि पर से उतार कर कर्पूर और पिपरमिन्ट को मिलाकर खूब घोटे पश्चात् शेष द्रव्यो को मिलाकर अच्छी प्रकार घोंटे और कॉच की चौडे मुखवाली शीशी मे सुरक्षित करे।

गुण-कर्म—शोथहर, वेदनापह तथा आमवातहर।

उपयोग—यह शिरःशूल, पार्श्वशूल, वक्षशूल आदि विकारो मे परमोपयोगी है। श्वसनक तथा श्लेष्म ज्वर मे उत्पन्न वक्षपीड़ा आदि पर इसका सफल प्रयोग होता है। आमवात तथा सन्धिवात की पीडा भी इसके लेप से नष्ट होती है।

(२) कर्पूरादि लेप

कर्पूर १ भाग, साबुन २ भाग, तारपीन तेल १६ भाग। एमलसन की विधि से बनाकर कॉच की शीशी मे रख ले।

उपयोग—वक्ष तथा अन्य स्थानो के वातकफजन्य पीडा पर अभ्यङ्ग के रूप मे इसका प्रयोग करे।

पञ्चगुण तैल (सिद्धयोग सग्रह)

तिल तैल ८० तोला,

क्वाथ द्रव्य—त्रिफला १५ तोला, निम्बपत्र १५ तोला, निर्गुण्डीपत्र १५ तोला, इन्हे यथाप्रमाण लेकर यवकूट कर ले और अष्टगुण जल मे पकावे। जब चतुर्थांश शेष रहे तो उतार कर छान ले। इस क्वाथ मे उपर्युक्त प्रमाण मे तेल मिलाकर अग्नि पर चढा दे। पश्चात् उसमे मोम, गन्धाविरोजा, शिलारस, राल और गुग्गुलु, प्रत्येक ४-४ तोला डालकर मन्द आँच पर पकावे। जब पाक इतना खर हो जाय कि तेल अन्य द्रव्यो को छोड दे तब उतार कर कपडे से छान ले। पुनः थोडी गरम रहने पर ही उसमे कर्पूर का चूर्ण ५ तोला डाले और कलछी से उसे खूब मिला दे। ठण्डा होने पर उसमे तारपीन का तेल २½ तोला, युकलिप्टस तेल २½ तोला, और काजीपुट तेल २½ तोला मिलाकर कांच की शीशी मे सुरक्षित करे।

उपयोग—यह सब प्रकार की सन्धियो की पीडा मे (सन्धिवात तथा आमवात की) पार्श्वशूल, वक्षशूल (न्यूमोनिया तथा इन्फ्लुएन्जा आदि मे) अभ्यङ्ग से लाभ पहुँचाता है। यह कर्णशूल मे भी लाभ करता है। व्रण रोपण तथा शोधन के लिये भी इसका उपयोग होता है। यह तेल उत्तम वेदनाहर है।

गोजिह्वादि क्वाथ (सि० यो० स०)

गोजिह्वा (गाँवजवान), मुलेठी, सौंफ, मुनक्का, अजीर, उन्नाव, अडूसा, जुफा, सपिस्तान (सूखा लसोडा), खूबकला, हसराज, गुलबनप्सा, अलसी, खतमी की जड (रेशे खतमी) और भटकटैया; प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर उसमे आधा भाग कालीमिर्च डाल इन्हे यवखण्ड कर ले। पुन दशगुणा जल मे इनको उबाले। जब एक तृतीयाश जल शेष रह जाय तो उतार कर छान ले। और उसमे मिश्री या मधु मिलाकर पिलावे।

मात्रा—क्वाथ ४ तोला मिश्री या मधु ६ माशा। दिन में २–३ वार।

उपयोग—प्रतिश्याय, श्लेष्म ज्वर, कास तथा श्वास मे जमे हुए कफ को सरलता से निकालने के लिये। यह स्वतन्त्ररूप मे तथा अनुपानरूप मे उपयोग मे आता है।

सुरसादि फाण्ट

सुरसा (तुलसी) पत्र, भार्गी, कण्टकारी, मुलहठी, जम्बीर तृण, अड़ूसा, गुलबनप्सा, द्राक्षा, कालीमिर्च, इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर यवकूट कर ले और यथाविधि फाण्ट बनावे।

प्रक्षेप—मिश्री तथा मधु।

मात्रा—४ से ५ तोला। दिन मे २–३ बार।

उपयोग—प्रतिश्याय, श्लेष्म ज्वर आदि।

श्रीगोपाल तैल

शतावरी स्वरस ४ प्रस्थ   कूष्माण्ड स्वरस ४ प्रस्थ

आँवला स्वरस ४ ,,

क्वाथ—

सहचर मूल १०० पल

जल २ द्रोण

शेष ४ प्रस्थ

क्वाथ—

अश्वगन्ध १०० पल

जल २ द्रोण

शेष ४ प्रस्थ

क्वाथ—

बलामूल १०० पल

जल २ द्रोण

शेष ४ प्रस्थ

इसी प्रकार बृहत्पञ्चमूल, छोटी कटेरी, मूर्वामूल, केवडा का पुष्प या जड, करञ्ज की जड, पारिभद्र की छाल, इन दश औषधो को १०–१० पल अर्थात् सब मिलकर १०० पल लेवे और २ द्रोण (३२ सेर) जल मे पकावे जब ४ प्रस्थ शेष रहे तो उतार कर छान ले। पुन १ आढक मूर्च्छित तिल तैल लेकर उक्त स्वरस और क्वाथ मे अधोलिखित द्रव्यो का कल्क देकर यथाविधि पाक करे।

कल्क द्रव्य—अश्वगन्ध, चोरपुष्पी, पद्माख, छोटी कटेरी, बलाकी जड, अगर, मोथा, खहासी, सिह्लक (शिलारस), अगर, लालचन्दन, श्वेतचन्दन, हरड, बहेडा, आँवला, मूर्वामूल, जीवनीयगण की औषधियाँ (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि, मुलेठी, जीवन्ती, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) सोठ, मरिच, पीपल, खहासी, केशर, कस्तूरी, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेशर, छरीला, नरकी, नागरमोथा, मृणाल, नीलकमल, खश, जटामासी, मुरा, देवदारु, वचा, अनारदाना, नेपाली धनियाँ, ऋद्धि, वृद्धि, दमनक, इनमे से प्रत्येक द्रव्य को आधे पल (२ तोला) प्रमाण मे लेवे और इनका यथाविधि कल्क बनावे।

उपयोग—यह वातव्याधि अधिकार की परमोत्कृष्ट औषधि है। सब प्रकार की वातव्याधियो मे इसका सफल प्रयोग होता है। सन्निपात ज्वरो मे प्रलापादि उपद्रवो से रक्षा करने के लिये इसका प्रयोग होता है। यह परम वृष्य तथा बृहण औषध है। यह मस्तिष्क को सबल बनाता है। इससे इन्द्रियो को बल प्राप्त होता है।

बृहत् या महाविष्णुतैल (भै० र०)

शतावर स्वरस—१ आढक (३ सेर १६ तोला),
गोदुग्ध— १ आढक „
जल— ४ „ (१२ से ६४ तोला)
मूर्च्छित तिल तैल—१ „ (३ सेर १६ तोला)

कल्क द्रव्य—अश्वगन्ध, नागरमोथा, जीवक, ऋषभक, कचूर, काकोली क्षीरकाकोली, जीवन्ती, मुलेठी, सौंफ, देवदारु का बुरादा, पद्मकाष्ठ, भूरिछरीला, जटामासी, छोटी एला, दालचीनी, कूठ, वचा, लालचन्दन, केशर, मजीठ, कस्तूरी, श्वेतचन्दन, रेणुका, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, कुन्दुरु, गठिवन और नखी इन द्रव्यो मे से प्रत्येक ४ तोला प्रमाण मे लेकर यथाविधि जल मे पीस कर कल्क बनावे। पुन उपर्युक्त रस (स्वरसो) गोदुग्ध तथा जल; इन द्रव्यो की सहायता से उक्त कल्क को तेल मे डालकर यथाविधि पकावे। पाक कलईदार कराह मे करना श्रेयस्कर है। सिद्ध हो जाने पर इसे उतार कर छान कर बोतलो मे सुरक्षित करे।

उपयोग—यह वात व्याधि अधिकार का परमोत्तम तैल है जो सब प्रकार की वातव्याधि मे लाभ करता है। यह सन्धिगत तथा मज्जागत वात मे अधिक लाभप्रद होता है। यह परम बृहण है। इसके प्रयोग से शुष्क अङ्गो का बृहण होता है। यह सन्धियो की जकडाहट को नष्ट करता है। सन्निपात ज्वरो मे जब प्रलाप आदि उपद्रव उत्पन्न होते है तब शिर पर इसकी पट्टी देने से लाभ होता है।

शतावरी तैल (यो० र०)

शतावरी स्वरस १०४ तोला, गोदुग्ध १०४ तोला, मूर्च्छित तिल तैल १०४ तोला, कल्क द्रव्य—कूठ, देवदारु, छोटी इलायची, प्रियङ्गु, तगर, दालचीनी, तेजपत्र, रेणुका, व्याघ्रनखी, जटामासी, राल, सुगन्धवाला, रक्तचन्दन, वचा, छरीला, खस, मजीठ, सरल काष्ठ, अगर, नागबला की जड, रास्ना, अश्वगन्ध, शतावर, पुनर्नवा, सौंफ, और सैंधव लवण—प्रत्येक द्रव्य १–१ तोला प्रमाण मे लेकर जल के साथ पीस कर यथाविधि कल्क बनावे। पुन उपर्युक्त

तैल को इस कल्क के साथ स्वरस, दुग्ध और जल की सहायता से यथाविधि पकावे। तैल सिद्ध हो जाने पर उतार कर छान ले और काच के वहोइयाम या वोतलो मे इसे सुरक्षित करे।

उपयोग—यह एक परमोपादेय वातव्याधि के अधिकार मे प्रोक्त तैल है। यह वात के विकारो पर परम हितकर होता है। ज्वर के सताप वृद्धि होने पर जव प्रलाप, शिर शूल, अनिद्रा आदि उपद्रव होते है तव इसके प्रयोग से (शिर पर इससे अभिसिक्त कपडे की पट्टी रखने से) पर्याप्त लाभ होता है। यह मस्तिष्क को तर रखता है तथा वात के सभी विकारो को नष्ट करता है।

स्वर्ण वसन्तमालती रस (भै० र०)

स्वर्णभस्म या वर्क १ तोला, मुक्तापिष्टी या भस्म २ तोला, शुद्ध हिंगुल ३ तोला, काली मिर्च का चूर्ण (कपडछान) ४ तोला, शुद्ध खर्परभस्म या यशद-भस्म ८ तोला लेवे। सर्वप्रथम शुद्ध हिंगुल को खरल मे अच्छी प्रकार पीस ले। पुन यदि सुवर्णभस्म ली हो तो उक्त पीसे हुए हिंगुल मे इसे तथा अन्य भस्मो को भी एक साथ मिलाकर ३ घण्टे तक अच्छी प्रकार मर्दन करे। (यदि स्वर्ण का वर्क हो तो पहले उसे मिलाकर मर्दन करे, पुनः एक-एक करके अन्य भस्मो को मिलाकर मर्दन करे)। पश्चात् मक्खन (गो दुग्ध से निकाला हुआ) २ तोला मिलाकर अच्छी प्रकार एक दिन तक मर्दन करे। पुनः कागजी नीबू का रस (कपडे से छाना हुआ) से मर्दन करे। रस थोडा-थोडा डाल कर (मर्दन करने योग्य मात्रा मे डालकर) उस काल तक मर्दन करता रहे कि औषध नि स्नेह हो जाय। अर्थात् वार-वार निम्बू के रस को डालकर उस काल तक मर्दन करता रहे की मक्खन की चिकनाई नष्ट हो जाय। तत्पश्चात् १—१ रत्ती की वटिका वना ले और छाया मे सुखावे। सूखने पर काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से २ रत्ती। दिन मे २ से ३ वार यथावश्यक। अनुपान—छोटी पीपल का चूर्ण २ रत्ती, और मधु मिलाकर चटावे और पश्चात् दुग्ध पिलावे।

उपयोग—यह जीर्ण ज्वरो, राजयक्ष्मा या अन्य धातुक्षयज ज्वरो मे परमोपकारी है। रोगान्त दौर्वल्य को दूर करने वाली यह उत्तम औषधि है। इसका प्रयोग राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, आन्त्रक्षय, फुफ्फुसकला शोथ, वालशोष (फक्करोग) मे विशेष लाभप्रद होता है। यह धातुगत ज्वरो मे विशेष लाभ करता है। यह रसायन है और रसवाहिनियो, रसोत्पादक पिण्ड, यकृत्, प्लीहा, आदि के विकारो को दूर करता है। इससे अग्नि (पाचकाग्नि तथा धात्वग्नि) प्रदीप्त होती है। यह वालक, वृद्ध, स्त्री, सगर्भा तथा प्रसूता स्त्री के

लिये भी निरापद औषध है। इसमे रसायन, वल्य, क्षयघ्न, कीटाणुनाशक और रक्त प्रसादन गुण है। इसका प्रभाव वातवह मण्डल, सहस्रार, नाडीचक्र, आदि से लेकर शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव समूह पर पडता है। इसके प्रयोग से इन अवयवो को वल प्राप्त होता है। यही कारण है कि आभ्यन्तरिक अवयवो की निर्वलता से उत्पन्न सभी रोगो पर इसका उपयोग होता है। कहा भी है 'सर्वरोगे वसन्त''।

वसन्त मालती चूंकि पाचकाग्नि तथा धात्वाग्नयो पर अपना प्रभाव उत्पन्न करता है अतः रोगो से शीर्ण जीर्ण शरीर हो जाने पर भी इसका सफल प्रयोग होता है। इसका प्रयोग एकाकी रूप मे तथा रोगावस्था के अनुसार अन्य योगो के साथ यथा अभ्रभस्म, प्रवालपिष्टी, शृङ्गभस्म, गुडूचीसत्व, सितोपलादि प्रभृति के साथ चिकित्सक सफलता पूर्वक करते हैं।

सर्वाङ्ग सुन्दर रस (र० चि०)

समान भाग गन्धक से निर्मित कज्जली मे प्रस्तुत रस पर्पटी २ तोला तथा जायफल, जावित्री, लौंग, निम्वपत्र, निर्गुण्डीपत्र और छोटी इलायची के दाने प्रत्येक १ तोला प्रमाण मे लेवे। काष्ठौषधियो का खूब वारीक कपडछान चूर्ण कर लेवे। पुन. उन्हे पर्पटी के साथ मिलाकर जल की सहायता मे १२ घण्टे खरल करे। पश्चात् इसे मुक्ता सीप मे भर कर दूसरे सीप से उसे ढँके और उसका सम्पुट वनाकर सन्धिवन्ध कर दे। इसके ऊपर दो अगुल प्रमाण मिट्टी का लेप चढाकर सुखा ले। पुन. इस सम्पुट को पुटपाक विधि के अनुसार वन्य उपलो मे पका ले। जव सम्पुट पककर लाल हो जाय तो उसे निकाल ले और स्वाङ्गशीतल होने देवे। शीतल हो जाने पर सम्पुट को सावधानी से तोडकर औषध निकाल लें और पत्थर के खरल मे पीस कर कांच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से २ रत्ती। मधु या स्तन्य (माँ का दूध)। दिन मे २ से ३ वार।

उपयोग—यह रस ज्वरघ्न, दीपन, वल और कान्ति को वढाने वाला है। वालको के विकार मे यह परमोपकारी है। भयकर सग्रहणी, प्रवाहिका, सूतिकाजन्य ज्वर आदि विकार, रक्तार्श एव अन्य रक्तदोष से उत्पन्न व्याधियो को नष्ट करता है। वच्चो के दूषित स्तन्यपानजन्य विकारो मे यथा अतिसार, सफेद, लाल, हरा, खट्टी सी दुर्गन्धयुक्त मलातिवर्तन आदि मे यह अति लाभ करता है। दन्तोद्भेदजन्य विकारो मे भी इससे लाभ होता है। वच्चो के सव प्रकार के उदर विकार अथवा पचन सम्वन्धी विकार मे यह परमोपादेय रसायन है।

जीर्ण अतिसार या ग्रहणी विकार मे जव 'ट्यूवर्कुलर डायरिया' का सन्देह हो तो इसका प्रयोग करना चाहिये। इससे अच्छा लाभ होता है।

जयमङ्गल रस (भै० र०)

शुद्ध हिंगुल से निकाला हुआ पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टकण, ताम्रभस्म, वङ्गभस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, सैंधव लवण, सफेद मिर्च, प्रत्येक द्रव्य १–१ तोला प्रमाण मे लेवे। स्वर्णभस्म २ तोला, लौहभस्म १ तोला और रजतभस्म १ तोला लेवें। सर्वप्रथम पारद और गन्धक की यथाविधि कज्जली बना ले। तत्पश्चात् अन्य भस्मो को तथा अन्य द्रव्यो के बारीक कपडछान चूर्ण को मिलाकर मर्दन करे। पुन धतूर के पत्तो के रस, हारसिंहार के पत्तो के रस, दशमूल क्वाथ और चिरायते के क्वाथ की ३–३ भावना देकर आधी रत्ती की वटी बनावे। सूखने पर शीशी मे रख ले।

मात्रा—½ से १ रत्ती। दिन मे २ से ३ बार। जीरक चूर्ण और मधु के साथ।

उपयोग—सब प्रकार के ज्वरो को नष्ट करने वाली यह दिव्य औषधि है। इसका प्रभाव मस्तिष्क के उष्मोत्पादक केन्द्र पर होता है। यह जीर्ण ज्वरो के लिये महौषध है। धातुगत ज्वरो मे इससे अच्छा लाभ होता है।

सुदर्शन चूर्ण (शा०)

हरड़, बहेडा, आवला, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, (बनभण्टा) कचूर, सोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, पीपलामूल, मूर्वा, गिलोय, धमासा, कुटकी पित्तपापडा, नागरमोथा, त्रायमाणा, नेत्रबाला, अजवायन, इन्द्रयव, भर्गीमूल, सहिजन के बीज, शुद्ध फिटकिरी, वच, दालचीनी, पद्मकाष्ठ, खस, सफेद चन्दन, अतीस, बरियार की जड, सरिवन, पीठवन, वायविडग, तगर, चित्रक, देवदारु, चव्य, तिक्त परवल की पत्ती, कालमेघ, करञ्जफल की मज्जा, लौंग, वंशलोचन, कमल, काकोली, तेजपात, जावित्री और तालीसपत्र इन सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले और कपडछान कर ले। पश्चात् सभी द्रव्यों के चूर्ण का जितना प्रमाण हो उससे अर्धमात्रा मे चिरायता का कपडछान चूर्ण मिलाकर काच की बोइयाम मे सुरक्षित कर ले।

मात्रा—३ से ६ माशा।

अनुपान—जल (यथावश्यक शीतल तथा उष्ण)।

उपयोग—इस चूर्ण का प्रयोग प्राय· सभी प्रकार के ज्वरो में होता है परन्तु वात और कफप्रधान ज्वरो मे यह विशेष लाभ करता है। इसका प्रयोग चूर्ण, फाण्ट, हिम तथा कषाय, इन सभी रूपो मे यथावश्यक किया जाता है। जीर्ण ज्वरो मे तथा धातुगत ज्वरो मे भी इसका प्रयोग एकाकी रूप मे तथा अन्य औषधो के साथ किया जाता है। यह ज्वर के सन्ताप को कम करता है।

सुदर्शन मिश्रण (सि० यो० स०)

सुदर्शन चूर्ण १० तोला, शुद्ध सज्जीखार (सोडा बाई कार्ब) २ तोला शुद्ध कुचले का चूर्ण १ तोला, आग पर फुलाई हुई लाल फिटकिरी १॥ तोला सब द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे एकत्र मिलाकर रख लेवे।

मात्रा—३ माशा।

अनुपान—जल।

उपयोग—प्रतिश्यायजन्य ज्वर तथा विषमज्वर मे इसका प्रयोग होता है।

नोट—कुचले के ऊपर पहले थोड़ा-सा घी लगाकर उसको तवे पर जब तक वे बदामी रग का न हो जाय सेके। बादामी रग का हो जाने पर उसे चूर्ण कर लेवे।

सुदर्शनार्क

सुदर्शन चूर्ण के सभी द्रव्यो को यवकुट कर पानी मे भिगोकर रात्रि भर रख छोडे। जल इतना डाले कि सम्पूर्ण द्रव्य जल मे डूब जाय। पुन: प्रात काल भभका यंत्र (स्रवण यंत्र) से अर्क निकाल कर कांच के बोतल या कराबे मे सुरक्षित करे। (अर्क के लिये चतुर्गुण तथा अष्टगुण जल देने का विधान है)।

मात्रा—१ से २ औंस। ३ से ४ बार आवश्यकतानुसार।

उपयोग—सब प्रकार के ज्वरो मे विशेषकर पित्त और कफज्वर मे अच्छा लाभ करता है।

बृहत् क्षुद्रादिक्काथ (शार्ङ्गधर)

छोटी कटेरी, धनिया, सोठ, गिलोय, नागरमोथा, पद्मकाष्ठ, रक्तचन्दन, चिरायता, परवल की पत्ती, अडूसा (वासा), पुष्करमूल, कटुकी, इन्द्रयव, निम्ब की अन्तर छाल, भारगी, पित्तपापडा इन सभी द्रव्यो को समान प्रमाण मे लेकर यवकुट कर ले और यथाविधि इनका क्वाथ बनावे।

मात्रा—४ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—वात तथा कफज्वर मे इसका प्रयोग होता है। शीतज्वर की यह विशिष्ट औषधि है।

चिन्तामणिरस (हृद्रोगे भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, वगभस्म, शिलाजीत और अम्बर, प्रत्येक एक-एक भाग, स्वर्णभस्म ¼ भाग, मुक्तापिष्टी ½ भाग, रजतभस्म

२ भाग लेवे। प्रथम पारद और गन्धक को मिलाकर यथाविधि कज्जली बना ले। पुन उसमे अभ्रक और शुद्ध शिलाजीत मिलाकर मर्दन करे तत्पश्चात् शेष भस्मो को मिलाकर मर्दन करे। चित्रकमूल क्वाथ तथा भागरे के स्वरस मे १-१ दिन तथा अर्जुन की छाल के क्वाथ मे ७ दिन यथाविधि मर्दन करे और १ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ वटी दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—सर्व प्रकार के हृद्रोग मे तथा ज्वरादि रोगो मे हृदय को बल-प्रदान करने के लिये।

पञ्चामृत रस (शोथे भै० र०)

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध टकण ३ तोला, शुद्ध वत्सनाभ ३ तोला, कालीमिर्च चूर्ण ३ तोला, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर सर्वप्रथम पारद और गन्धक को मिलाकर यथाविधि कज्जली तैयार कर ले। पुन. शेष द्रव्यो को मिलावे और जल के साथ अच्छी प्रकार मर्दन करे। पश्चात् २ रत्ती की वटी बनाकर सुखा ले। सूखने पर काच की शीशी मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ वटी, दिन मे २ से ३ बार आर्द्रक स्वरस से।

उपयोग—यह रस तथा जल के दोष से उत्पन्न ज्वर एव शोथ मे लाभ करता है। वात बलासक (बेरी-बेरी) ज्वर मे यह अच्छा लाभ पहुँचाता है। अन्य शोथसहित विकारो मे भी यह प्रयोग मे आता है। शिरःशूल, नासा रोग, पीनस आदि मे भी इसके प्रयोग से लाभ होता है।

नित्यानन्द रस (र० र०)

हिङ्गुलाकृष्ट पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, वगभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध तुत्थक, शखभस्म, कास्यभस्म, कपर्दभस्म, लोहभस्म, त्रिफल, त्रिकटु, वायविडग, सेंधा नमक, काला नमक, विड नमक, काच लवण, समुद्र लवण, चव्य, पीपलामूल, हाउबेर, वच, कपूर, पाठा, देवदारु, छोटी इलायची, विधारा, इन ३१ द्रव्यो को समभाग मे लेवे। सर्वप्रथम पारद और गन्धक को मिलाकर कज्जली बना ले। पश्चात् अन्य भस्मो तथा द्रव्यो के कपडछान चूर्ण को मिलाकर त्रिवृत, चित्रक-मूल, दन्तीमूल, हरड के क्वाथ मे क्रमश ११-१२ घण्टे मर्दन कर २-२ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ से २ गोली। दिन मे २-३ बार जल से।

उपयोग—यह श्लैपदिक ज्वर और श्लीपद की विशिष्ट औषध है। इसका प्रयोग अन्य ग्रन्थिशोथो पर भी जिसमे साथ ज्वर आता हो किया जाता है।

इस व्याधि (Filaria) मे इसका सेवन दीर्घकाल तक करना पडता है। इसका प्रभाव श्लैपदिक जीवाणु पर पडता है। गण्डमाला, अण्डवृद्धि आदि पर भी इसका प्रभाव पडता है। जल दोष से उत्पन्न अन्य शोथो पर भी इसका प्रभाव होता है।

मल्लसिन्दूर

शुद्ध सोमल ५ तोले, शुद्ध पारद १० तोले और शुद्ध गन्धक १० तोले लेवे। सर्वप्रथम पारद और गन्धक की यथाविधि कज्जली बना ले। पुन सोमल का बारीक चूर्ण मिलाकर ६ घण्टे तक खरल करे। पश्चात् घृतकुमारी के रस की भावना देकर सुखा ले और इसे आतसी शीशी मे भरकर वालुका यन्त्र मे यथाविधि पकावे। इसके तैयार होने मे ३८ से ४८ घण्टे लगते है। तैयार हो जाने पर स्वाङ्ग शीतल होने देवे। पुन शीशी को तोडकर औषध निकाल खरल मे पीस कर कॉच की शीली मे सुरक्षित करे।

मात्रा—¼ से ½ रत्ती तक। दिन मे २ बार मधु तथा पिप्पली चूर्ण के साथ।

उपयोग—यह भी श्लैपदिक ज्वर तथा अन्य सशोथ ज्वरो पर लाभ करता है। यह एक तीक्ष्णवीर्य औषध है। फुफ्फुस, वातवाहिनी और हृदय पर इसका उत्तेजक प्रभाव होता है। कफवृद्धि तथा आमवृद्धि से उत्पन्न विकारो मे यह अच्छा लाभ करता है। कफोल्वण सन्निपात, जीर्ण श्वास तथा कास, आमवात, तथा बालको के डब्बा रोग मे भी इसके प्रयोग से लाभ होता है।

महायोगराज गुग्गुलु (सि० यो० स०)

सोठ, छोटी पीपल, चव्य, पीपलामूल, चित्रक की जड की छाल, घी मे सेकी हुई हीग, अजमोद, पीली सरसो, जीरा, कलौंजी (गगरैला), रास्ना, इन्द्रयव, पाढ के मूल, वायविडग, बडी पीपल, कुटकी, अतीस, भारगीमूल, अश्वगन्ध, और बच, प्रत्येक द्रव्य का कपडछान चूर्ण कर १–१ तोला प्रमाण मे लेवे। हरड का छिलका, बहेडा का छिलका और आँवला (तीनो समभाग ले) का कपडछान चूर्ण कर ४० तोला लेवे, गिलोय और दशमूल क्वाथ मे शुद्ध किया हुआ गुग्गुलु ८० तोला लेवे। वगभस्म, रजतभस्म, नागभस्म, लौहभस्म, माक्षिकभस्म, अभ्रकभस्म, मण्डूरभस्म और रससिन्दूर प्रत्येक ४–४ तोला लेवे। उपर्युक्त प्रकार से शुद्ध किए हुए गुग्गुलु मे सर्वप्रथम रससिन्दूर के बारीक चूर्ण को मिलाकर अच्छी प्रकार इमामदस्ते मे कूटे। पुन अन्य भस्मो को तथा चूर्णो को क्रमश देकर अच्छी प्रकार कूटे और ४ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—२ गोली। जल या रास्ना सप्तक क्वाथ से। मञ्जिष्ठादि क्वाथ।

उपयोग—आमवातिक ज्वर, आमवात, सन्धिवात, वातरक्त, मेदोवृद्धि तथा अन्य त्वग् रोग। वातव्याधि, मे भी यह अच्छा लाभ करता है जब वह सामावस्था मे रहता है। यह आम दोष का पाचन करता और अग्निदीपक है। यह रसायन तथा योगवाही भी है।

पुनर्नवाद्यरिष्ट (भै० र०)

श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, बला, अतिबला, पाठा, अडूसा, गिलोय, चित्रक की जड की छाल तथा कण्टकारि, इन द्रव्यो का पञ्चाङ्ग प्रत्येक १२–१२ तोला प्रमाण मे लेकर यवकुट कर ले और ६४ सेर जल मे उबाले। जब चौथाई शेष रह जाय (१६ सेर) तो उतार कर छान ले। पश्चात् इस क्वाथ मे १२॥ सेर पुराना गुड, १ सेर मधु मिलाकर आलोडित कर घृत लिप्त भाण्ड मे भर कर उसका मुख अच्छी प्रकार बन्द कर दे। पुन इस भाण्ड को जौ तुष के ढेर मे एक मास तक रख देवे। १ महीने के बाद भाण्ड का मुख खोलकर उसमे नागकेशर, दालचीनी, इलायची, कालीमिर्च, सुगन्धवाला तथा तेजपत्र प्रत्येक का चूर्ण २॥–२॥ तोला मिलाकर पुन मुख बन्द कर दे और पुन' एक सप्ताह तक उसको जौ की भूसी की राशि मे रख छोड़े। ८ वे दिन मुख खोल कर सन्धान पूरा हो जाने पर उसे छानकर करावा या अन्य काँच के बोतलो मे भर कर सुरक्षित करे।

मात्रा—२ तोला भोजनोत्तर। इसका प्रयोग खाली पेट में नही करना चाहिये।

उपयोग—यह अरिष्ट ऐसे ज्वरो मे जिसमे शोथ भी हो देने से लाभ करता है। वात बलासक ज्वर (बेरी-बेरी) श्लैपदिक ज्वर (फायलेरिया) हृदय विकार, पाण्डुरोग शोथ, प्लीहाभिवृद्धि, उदररोग, ग्रहणी विकार, अरुचि, भ्रम, प्रमेह, वृक्करोग, प्रभृति मे यह अच्छा लाभ करता है। इसके प्रयोग से वर्ण, बल, आयु, ओज तथा तेज की वृद्धि होती है।

बलाद्यरिष्ट (भै० र०)

बला का पञ्चाङ्ग ५ सेर, अश्वगन्ध ५ सेर. जल ८ द्रोण (२५६ सेर) जल मे उबाले और चतुर्थांश शेष रहे (६४ सेर) तो उतार कर छान ले। पश्चात् इस क्वाथ मे १५ सेर पुराना गुड मिलाकर अच्छी प्रकार घोल दे। तदनन्तर धाय के फूल का चूर्ण ६४ तोला प्रक्षेप के रूप मे डाले। इसके अतिरिक्त क्षीरकाकोली, एरण्ड की जड, प्रत्येक का चूर्ण ८ तोला, रास्ना,

छोटी इलायची, गन्धप्रसारणी की जड, लवङ्ग, खस और गोखरू प्रत्येक का चूर्ण १–१ तोला मिलाकर उक्त क्वाथ मे प्रक्षेप कर भाण्ड का मुख बन्दकर दे। पुन इस भाण्ड को १ मास तक प्रकाशरहित स्थान मे यवतुष की राशि मे रख छोडे जब सन्धान पूर्ण हो जाय तब १ मासानन्तर निकाल कर भाण्ड का मुख खोलकर छान ले और काँच के बोतलो या बोइयाम मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से २ तोला, भोजनोत्तर।

उपयोग—यह सब प्रकार के वात विकारो को नष्ट करता है तथा शरीर को बल पदान करता है। इससे पाचकाग्नि प्रदीप्त होती है। ऐसे ज्वरो मे जिनमे वात के लक्षण अधिक हो इसका प्रयोग करना चाहिये। वात बलासक ज्वर, आमवातिक ज्वर, आदि मे इसका सफलतापूर्वक प्रयोग होता है।

विषमज्वरान्तक लौह (भै० र०)

चिरायता का चूर्ण १ तोला, पित्तपापडा का चूर्ण १ तोला, देवदारु का चूर्ण १ तोला, पृश्निपर्णी का चूर्ण १ तोला, शुद्ध मन शिला १ तोला, त्रिकटु चूर्ण १ तोला, त्रायमाणा चूर्ण १ तोला, गुडूची सत्त्व १ तोला, निम्बपञ्चाङ्ग चूर्ण १ तोला, पटोल पत्र चूर्ण १ तोला, मूर्वा चूर्ण १ तोला, खर्परभस्म १ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला और इन सब के बराबर अर्थात् १३ तोला तीक्ष्ण लौहभस्म लेकर सबको खरल मे एकत्र कर जल के साथ घोटे और जब सूख जाय तो काच की शीशी मे भर कर सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से ४ रत्ती। अनुपान चिरायता का क्वाथ।

उपयोग—यह सब प्रकार के विषम ज्वरो को शान्त करता है। इसके प्रयोग से विषम ज्वर मे उत्पन्न प्लीहाभिवृद्धि, यकृद्वृद्धि, अग्निमान्द्य, शोथ तथा कार्श्य आदि दूर होते है।

विषमज्वरान्तक लौह (द्वितीय) (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, इनको, १–१ भाग लेकर यथाविधि कज्जली बना ले। पुन ताम्रभस्म ½ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म ½ भाग और सब के बराबर अर्थात् ३ भाग लौहभस्म लेकर, एकत्र मिला खरल मे मर्दन करे। पश्चात् जयन्ती पत्र स्वरस, तालमखाने का क्वाथ, वासापत्र स्वरस, आर्द्रकरस तथा पान के पत्तो के रस की ५–५ भावना देकर २ रत्ती की वटी बनावे और सूखने पर शीशी में रख ले।

मात्रा—१ वटी दिन मे ३ बार। यह वटी विषम ज्वर को नष्ट करती है।

पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह (सि० यो० सं०)

हिङ्गुलाकृष्ट पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, दोनो को एकत्र कर यथाविधि कज्जली बना लेवे। पुन इस कज्जली को यथाविधि पर्पटी बनावे। पश्चात् पर्पटी को खरल मे बारीक पीस ले। जब वह सूक्ष्म हो जाय तब सोने का वर्क या भस्म ½ तोला, लौहभस्म २ तोला अभ्रकभस्म २ तोला, ताम्रभस्म २ तोला, शुद्ध टकण आधा तोला, शुद्ध स्वर्णगैरिक आधा तोला, वङ्गभस्म ½ तोला, प्रवालभस्म ½ तोला, मुक्तापिष्टी ½ तोला, शखभस्म ½ तोला, मुक्तासीपभस्म ½ तोला लेवे और इन सबो को खरल मे एकत्र कर मर्दन करे। पुन निर्गुण्डीपत्र स्वरस, धत्तूरपत्र स्वरस, और कालमेघपत्र स्वरस इन तीनो की १-१ भावना देकर दिन भर अच्छी प्रकार घोटे। तत्पश्चात् इसको दो सीपो के मध्य मे भर कर इसका सम्पुट बना सन्धिबन्ध कर दे। पुन इस सम्पुट को कपडमिट्टी कर निर्धूम कण्डो की आंच मे फूके। जब ऊपर की मिट्टी लाल हो जाय और भीतर से गन्धक गरम होने की गन्ध निकलने लगे तब अग्नि से उसे बाहर निकाल ले। स्वाङ्ग शीतल होने पर ऊपर की मिट्टी हटाकर सम्पुट मे औषध को निकाल खरल मे पीसकर कांच की शीशी मे रख ले।

मात्रा—१-२ रत्ती। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—इसका प्रयोग जीर्ण विषम ज्वरो मे जब यकृत् तथा प्लीहा वृद्धि हो जाती है तब किया जाता है। यह जीर्णज्वर राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग तथा प्रमेह मे विभिन्न अनुपान से परमोपयोगी होता है।

सर्वज्वरहर लोह (भै० र०)

लोहभस्म ८ तोला, समान भाग गन्धक से निर्मित कज्जली ४ तोला, त्रिफलाचूर्ण ३ तोला, त्रिकटु चूर्ण ३ तोला, वायविडग चूर्ण १ तोला, नागरमोथा चूर्ण १ तोला, गजपिप्पली चूर्ण १ तोला, पिपलामूल चूर्ण १ तोला, हरिद्रा चूर्ण १ तोला, दारुहरिद्रा चूर्ण १ तोला, चित्रक चूर्ण १ तोला, इन सभी द्रव्यों को यथोक्त प्रमाण मे लेकर एक साथ खरल मे मिलावे और मर्दन करे। पुन आर्द्रक स्वरस की भावना देकर २ रत्ती की वटी बनावे। छाया शुष्क कर कॉच की शीशी मे रख ले।

मात्रा—१ वटी—२ से ३ बार दिन मे।

उपयोग—यह सब प्रकार के जीर्णज्वरो मे विशेष उपयोगी होता है। इसके प्रयोग से वातज, पैत्तिक, कफज तथा सन्निपातज ज्वरो की तथा विषमज्वरो की शान्ति होती है। यह भूतोत्थ ज्वर मास मे एक बार आने वाला ज्वर, पाक्षिक ज्वर, सम्वत्सरोत्थ ज्वर तथा प्लीहा ज्वर को भी नष्ट करता है।

विश्वतापहरण रस (आ० नि० मा०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, ताम्रभस्म, त्रिकटु चूर्ण, अकरकरा चूर्ण, इन आठ औषधो को समान भाग मे लेकर खरल मे अच्छी प्रकार मर्दन करे। पुन. करेलापत्र स्वरस की भावना देकर १२ घण्टे तक घोटे और १ रत्ती की वटी बना ले

मात्रा—१–२ गोली। जीरा और मिश्री के अनुपान से देवे।

उपयोग—यह सब प्रकार के ज्वरो के सताप को उतारता है। विषम ज्वरो मे तथा धातुगत ज्वरो मे इसका प्रयोग लाभप्रद होता है। जो मलेरिया किसी भी औषध से नही रुकता, इसके प्रयोग से अच्छा हो जाता है।

ज्वरान्तक रस (भै० र०)

ताम्रभस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध पारद १ तोला, सौराष्ट्र-मृत्तिका १ तोला, स्वर्णमाक्षिकभस्म १ तोला, लौहभस्म १ तोला, शुद्धहिङ्गुल १ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला, शुद्ध रसाञ्जन १ तोला, स्वर्णभस्म १ तोला, इन द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर सर्वप्रथम पारद और गन्धक को मिलाकर यथाविधि कज्जली बनावे। पुन. शेष द्रव्यो को मिलाकर मर्दन करे। पश्चात् भूनिम्बादिगण के औषधो के क्वाथ की भावना देकर ३ दिन तक मर्दन करे। पुन मधु मिलाकर घोटे और २ रत्ती की वटी बनावे। सूखने पर काँच की शीशी मे रख ले।

मात्रा—१ वटी, दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—यह रस चातुर्थिक, तृतीयक, सन्तत, आमज्वर तथा भूतज्वरो मे विशेष लाभ करती है। इसका प्रयोग सभी विषमज्वरो मे होना है। भूनिम्बादि गण मे १८ द्रव्य हैं। जैसे—चिरायता, देवदारु, दशमूल की दशो औषधे, सोठ, नागरमोया, कुटकी, इन्द्रयव, धनिया और गजपीपल, इन अठारह द्रव्यो को समान भाग मे लेकर अष्टगुण जल मे उबाले और चतुर्थांश शेष रह जाय तब उतार कर छान ले।

(१) करञ्जादि वटी (र० त० सा०)

भूनी हुई करञ्ज की मज्जा, इन्द्रायण की जड, बनफसा, अतीस, शुद्ध स्फटिक (आग पर लावा फुलाया हुआ), पीपल, बडी हरड, सब समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर कपडछान कर ले। पुन. मधु मिलाकर मर्दन कर २ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—२ गोली. दिन मे ३ बार जल के साथ।

उपयोग—विषम ज्वर (तरुणावस्था) मे जव कोष्ठवद्धता हो तो इसके प्रयोग से कोष्ठवद्धता दूर होकर ज्वर शान्त हो जाता है।

(२) करञ्जादि वटी

करञ्ज बीज १ तोला, पित्तपापड़ा १ तोला, अतीस १ तोला, गिलोय सत्त्व १ तोला, कटुपरवल के फल १ तोला और कुटकी १ तोला सबको लेकर वारीक चूर्ण कर ले और द्रोणपुष्पी (गूमा) के रस मे खरल करके ४ रत्ती की वटी वना कर सुखा ले।

मात्रा—१ से २ वटी, दिन मे ३ वार। जल के साथ।

उपयोग—यह वटी पित्तश्लेष्म ज्वर, शीत ज्वर तथा विषम ज्वर को शान्त करती है। इसका प्रयोग ज्वर को रोकने के लिये ज्वर आने के ६ घण्टे पहले मे दो-दो घण्टे के अन्तर मे ३ वार देना चाहिये।

सप्तपर्णघन सत्त्वादि वटी (सि० यो० सं०)

सप्तपर्ण (छतिवन) की अन्तर छाल, करञ्ज, गिलोय, कालमेघ और कटुकी, सभी द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवकुट कर यथाविधि (अष्टगुण जल मे) क्वाथ वनावे। जव अष्टमाश शेष रह जाय तो उतार कर छान ले। पुन कलइदार पात्र मे इस क्वाथ को चढाकर अग्नि पर पकावे। जव यह क्वाथ पककर गाढा होने लगे तो उसमे अतीस का चूर्ण प्रक्षेप रूप मे डाले और अच्छी प्रकार उसको मिलाता रहे। जव घन सत्त्व गोली वनने योग्य गाढा हो जाय तो उतार कर शीतल होने पर ४–४ रत्ती की गोली वना ले।

मात्रा—१ से ३ गोली तक, दिन मे २–३ वार शीतल जल से।

उपयोग—विषम ज्वर, शीतज्वर, आदि इसके प्रयोग मे सव प्रकार का विषम ज्वर शान्त होता है।

संशमनी वटी

अंगूठे प्रमाण मोटी अच्छी ताजी (हरी) गिलोय की सपत्र लता लेकर अच्छी प्रकार धो लेवे। पुनः उसे छोटे-छोटे टुकडे काटकर यवखण्ड कर ले। पुन कलइदार कडाही मे चौगुने जल मे डालकर उवाले। जव चतुर्थांश रह जाय तो उतार कर छान ले। पुन उसको कडाही मे डालकर उस काल तक पकावे जव तक वह गाढा न हो जाय। जव वह इतना गाढा हो जाय कि गोली वन सके तो उतार कर गोली (४ रत्ती की) वना ले।

मात्रा—२ से ५ गोली तक। सव प्रकार के ज्वर मे इसका प्रयोग निरापद है। यह अग्निदीपक भी है।

महाज्वरांकुश रस (यो० र०)

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ १ भाग, शुद्ध धत्तूर बीज ३ भाग, कालीमिर्च चूर्ण ४ भाग, सोंठ ४ भाग, छोटी पीपल ४ भाग लेवे। सर्वप्रथम पारद और गन्धक को मिलाकर यथाविधि कज्जली बना ले। पश्चात् शेष द्रव्यों के बारीक चूर्ण (कपडछान) को मिलाकर सत्यानाशी के स्वरस की ४ भावना देकर दो-दो रत्ती की गोली बना ले। पुन उन्हें छाया शुष्ककर काँच की शीशी में सुरक्षित करे।

मात्रा—१-२ गोली। अनुपान नीम्बू तथा अर्द्रक स्वरस।

उपयोग—विषम ज्वरों में इसके प्रयोग से लाभ होता है। इसका प्रयोग ज्वर के वेग उतरने पर ही किया जाता है। ज्वरवेग न रहने पर इसका प्रयोग ३ घण्टे के अन्तर में करना चाहिये।

शीतभंजी रस

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, शुद्ध वत्सनाभ, सोंठ, पीपल, कालीमिर्च, सब द्रव्य सम भाग लेकर सर्वप्रथम पारद गन्धक की कज्जली बनावे। बाद शेष द्रव्यों के बारीक चूर्ण को मिलाकर चित्रकमूल क्वाथ की ३ भावना, अदरख के रस की ७ भावना और नागरपान के पत्ते के रस की ३ भावना देकर २ रत्ती की गोली बनावे।

मात्रा—१ वटी, अदरख रस से २ या ३ बार देवे।

उपयोग—शीतज्वर, कफज्वर तथा अन्य विषम ज्वरों में इसका व्यवहार होता है।

मलेरियाहर वटी

गोदन्तीभस्म शुद्ध हरताल, गिलोय सत्व, वंशलोचन और छोटी इलायची, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर सहदेवी के रस में १२ घण्टे तक खरल कर ३ रत्ती की वटी बनावे। सूखने पर इसको काच की शीशी में रख ले।

मात्रा—१ वटी ज्वर आने के ४ घण्टे पूर्व और २ वटी दो घण्टे पूर्व शक्कर के साथ देवे।

उपयोग—मलेरिया में उपर्युक्त प्रकार से इसका प्रयोग करे। अन्य विषम ज्वरों में दिन में २ बार दुग्ध के साथ देवे।

ज्वरकुञ्जर पारीन्द्र रस (भै० र०)

रससिन्दूर १ तोला, अभ्रकभस्म ½ तोला, चाँदी का भस्म १ तोला, स्वर्णमाक्षिकभस्म १ तोला, रसौत २ तोला, खर्परभस्म २ तोला, ताम्रभस्म २

तोला, लौहभस्म २ तोला, शुद्ध शिलाजतु २ तोला, शुद्ध स्वर्णगैरिक २ तोला, शुद्ध मन शिला २ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, स्वर्णभस्म २ तोला, लेवे। सर्व-प्रथम रससिन्दूर को अच्छी प्रकार पीस ले तदनन्तर अन्य द्रव्यों को मिलाकर अच्छी तरह से मर्दन करे। पुनः दुर्वा, आकाशवेल तुलसी, पुनर्नवा, अरणी, भूम्यामलकी, कोषातकी, कुटकी, सुदर्शन, कलिहारी, ज्योतिष्मति, मुद्गपर्णी, गन्धप्रसारणी इन द्रव्यों में से प्रत्येक के स्वरस अथवा क्वाथ से ३ दिन तक भावित करे। पुन २ रत्ती की वटी बनावे।

मात्रा—१ से २ वटी। जल से।

उपयोग—सब प्रकार के विषम ज्वरों में।

त्र्याहिकारि रस (भै० र०)

शुद्ध खर्परभस्म ४ तोला, शंखभस्म ४ तोला, तुत्थकभस्म १ तोला, इन द्रव्यों को लेकर खरल में महीन पीस ले और गोजिह्वा, जयन्तीपत्र और चौलाई, प्रत्येक के रस की ७-७ भावना देकर ४ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ वटी। भृष्टजीरक तथा किसी ज्वरघ्न चूर्ण के साथ देवे। दिन में २ बार।

उपयोग तृतीयक ज्वर में यह लाभ करता है।

विश्वेश्वर रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, खर्पर भस्म, इन तीनों को समभाग में लेकर प्रथम पारद गन्धक की कज्जली बना ले। पश्चात् खर्परभस्म मिलाकर तीन दिन तक पीपल की अन्तरछाल के क्वाथ में मर्दन करे। पुन बेर की जड की छाल के क्वाथ में, कटेरी के क्वाथ में, पृथक्-पृथक् ७-७ दिन मर्दन करे और दो रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ से २ वटी। गोदुग्ध से दिन में २ या ३ बार देवे।

उपयोग—यह रात्रि में आने वाले ज्वर (रात्रिज्वर) की विशिष्ट औषधि है।

चतुर्थकारि रस (भै० र०)

शुद्ध हरताल १ तोला, शुद्ध मनःशिला १ तोला, शुद्ध तूतिया १ तोला, ताम्रभस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, इन द्रव्यों को लेकर खरल में महीन पीस ले और घृतकुमारी स्वरस में मर्दन करके टिकिया बना ले। पश्चात् इन टिकियों को शराव सम्पुट में रखकर गजपुट में फूंक दे। स्वाङ्ग शीतल हो जाने

पर सम्पुट से रसौषधि को निकाल कर महीन पीस कर पुन: घृतकुमारी के रस मे मर्दन कर १ रत्ती की गोली वना ले।

मात्रा—½ से १ रत्ती। अनुपान मरिच और घृत मे मिलाकर तक्र पी लेवे।

उपयोग—चातुर्थक ज्वर। इसके प्रयोग से कभी-कभी वमन होता है।

भूतभैरव रस (र० च०)

शुद्ध हरताल ९ तोला, शुक्तिभस्म ९ तोला, शुद्ध नीला थोथा २ तोला, इनको मिला कर घीकुआर के रस मे ३ दिन खरल करके टिकिया वना ले। सूखने पर शराव सम्पुट मे रखकर २½ सेर उपलो की अग्नि मे फूंके। स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल कर शराव को तोड रसौषध को निकाल ले और खरल मे महीन पीस कर शीशी मे रख ले।

मात्रा—१ रत्ती। ३ माशे शर्करा के साथ ज्वर आने के ३ घण्टे पहले १-१ घण्टे के अन्तर से ३ वार देवे।

उपयोग—विषम ज्वर, शीत ज्वर।

मल्लादि वटी

सफेद सखिया १ तोला, शुद्ध हिंगुल १ तोला, और छोटी पीपल २½ तोला लेकर सवका वारीक चूर्ण कर ले। पुन. आर्द्रक स्वरस मे ६ घण्टे तक मर्दन करे और अधी रत्ती की वटी वनाले।

मात्रा—१ वटी, दिन मे २ वार। आर्द्रक स्वरस से।

उपयोग—शीत ज्वर, तृतीयक तथा चातुर्थक ज्वर आदि विषम ज्वरो मे।

चन्दनादि लौह (र० सा० स०)

रक्तचन्दन, नेत्रवाला, पाठा, खस, पीपल, हरड सोठ, कमलकन्द, आँवला, नागरमोथा, चित्रकमूल, वायविडङ्ग, इन १२ औषधो को एक-एक तोला प्रमाण मे लेकर वारीक चूर्ण कर ले ओर इसमे १२ तोला लौहभस्म मिलाकर अच्छी प्रकार खरल करे।

मात्रा—२ से ४ रत्ती मधु के साथ दिन मे २ से ३ वार लेवे और ऊपर से तुलसीपत्र, काली मिर्च और नागरमोथा का क्वाथ १ औंस पीवे।

उपयोग—यह रसायन सव प्रकार के विपम ज्वरो मे लाभ करता है। इसका प्रयोग प्राय जीर्ण विपम ज्वरो मे होता है। इसके सेवन से नेत्र की जलन, प्लीहा वृद्धि, यकृद्विकार, मन्दाग्नि, पाण्डुरोग, शिर.शूल, दाह, उदरक्रिमि आदि दूर होता है।

कासीगोदन्ती (रसामृत)

शुद्ध कासी १ भाग, गोदन्ती चूर्ण ४ भाग लेकर दोनो को ग्वारपाठे के रस मे मर्दन कर, टिकिया बना ले और सुखाकर गजपुट मे यथाविधि फूके। इससे अरुण वर्ण का भस्म तैयार हो जाता है।

मात्रा—४ से ८ रत्ती। अनुपान दुग्ध।

उपयोग—रक्तवृद्धि के लिये। ज्वरादि के कारण उत्पन्न पाण्डुरोग (रक्ताल्पता) मे इसका सफल व्यवहार होता है।

सत्त्वगुडूची

ताजी पकी गिलोय की लता को (जो न अधिक मोटी हो न अधिक पतली) छोटे-छोटे टुकडो मे काटकर किसी ओखली मे कूट ले और उसे चतुर्गुण जल मे तीन-चार घण्टे तक रख छोडे। पुनः उसे अच्छी प्रकार हाथो से मसल कर जल को निकाल ले। पुन' दूसरी वार जल मिलाकर पुन मसले और जल निकाल ले। इसी तरह तीसरी वार भी करे। पश्चात् सब जल को छान कर एक स्वच्छ पात्र मे रख छोडे। कुछ काल वाद जैसे-जैसे जल नितरता जाय किसी पात्र में धीरे-धीरे जल निकाल कर फेकता जाय। इस प्रकार नीचे गिलोय का सत्त्व वैठा हुआ प्राप्त होगा।

मात्रा—२ से ४ रत्ती। दिन मे ३ से ४ वार मधु से।

उपयोग—जीर्ण ज्वर, दाह, तृष्णा, प्रमेह तथा अन्य पित्त विकारो मे इसका अनुपान के रूप मे तथा एकाकी प्रयोग होता है।

सितोपलादि चूर्ण

दालचीनी १ भाग, छोटी इलायची २ भाग, छोटी पीपल ४ भाग, वशलोचन ८ भाग और मिश्री १६ भाग लेवे। सवको कूट कर कपडछान कर ले।

मात्रा—४ रत्ती से १२ रत्ती तक। दिन मे ३ से ४ वार। मधु तथा घी के अनुपान से।

उपयोग—यह शुष्क कास की उत्तम औषधि है। यो तो इसका प्रयोग सव प्रकार के कास मे अनुपान भेद से होता है। इसके प्रयोग से जिह्वा की निरसता (स्वादहीनता) दूर होती है तथा अरुचि, मन्दाग्नि तथा पार्श्वशूल नष्ट होता है। ज्वर के सन्ताप को भी यह कम करता है। अत कफ ज्वर मे इसका उपयोग होता है।

प्रवाल पिष्टी

प्रशस्त प्रवाल की शाखा (अच्छे रक्तवर्ण छिद्र रहित) को लकर उष्ण जल

से अच्छी प्रकार धो ले। पुन: कपडे से पोछ कर सुखा ले और उसे इमामदस्ते मे कूट कर सूक्ष्म चूर्ण बना ले। पश्चात् इस चूर्ण को न निकलने वाले पत्थर के खरल मे डाल निम्बु के रस मे २ दिन मर्दन करे। पुनः अर्क गुलाब मे या चन्दनादि अर्क से मर्दन करे। जब वह आँख मे लगाने योग्य सुर्मा की तरह सूक्ष्म एवं मसृण हो जाय तो सुखा कर कपडछान कर शीशी मे रख ले।

मात्रा—१ से ५ रत्ती। मधु, मक्खन या दूध से।

उपयोग—जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग, रक्तपित्त, अम्लपित्त और काम मे।

अष्टमूर्त्तिरस

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक ६ तोला, इन दोनो को यथाविधि कज्जली बना लेवे। पुन शुद्ध हिंगुल १ तोला, शुद्ध मन शिला १ तोला, शुद्ध सेमल १ तोला, शुद्ध हरताल ६ माशे, रसकर्पूर ९ तोले, मृर्दाशृङ्ग ६ माशे, फिटकिरी का फूला १ तोला, सोने के वर्क ६ माशे और चांदी के वर्क ६ माशे लेवे और सब एक साथ मर्दन करे। पश्चात् इस मिले हुए औषध को कपडमिट्टी किए हुए आतशी शीशी मे भर कर बालुका यन्त्र मे यथाविधि ३० घण्टे तक (मन्द, मध्यम और तीव्र आंच पर) सिद्ध करे। स्वाङ्ग शीतल होने पर शीशी के गले मे लगे हुए रस को सावधानी से निकाल ले और खरल मे पीस कर शीशी मे रख छोडे।

मात्रा—१ से २ रत्ती। आर्द्रक स्वरस तथा मधु से।

उपयोग—यह सब प्रकार के विषम ज्वर, पुनरावर्तक ज्वर, जीर्ण उपदंश, क्षय, सन्निपात, उन्माद, अपस्मार तथा वातव्याधियो मे लाभ करता है। यह कृष्ण ज्वर, जिसमे त्वचा कृष्ण वर्ण का हो जाता है, शीतज्वर, पीतज्वर आदि मे भी लाभ करता है। इसका उपयोग अरुण ज्वर या शोण ज्वर मे भी लाभदायक होता है। यह उपदंश तथा फिरङ्ग के विष को नष्ट करता है। फिरङ्गजन्य वात रोगो मे यह अच्छा लाभ करता है यह शक्तिवर्धक, ओजस्कर हृदयोत्तेजक, जन्तुघ्न, बलमासवर्धक एव आक्षेपघ्न औषधि है।

अमृतारिष्ट (भा० भै० र०)

गिलोय ५ सेर, दशमूल ५ सेर, इनको लेकर यवखण्ड कर ५२ सेर जल मे उबाले। जल चतुर्थांश रह जाय तो उतार कर छान ले। शीतल होने पर उसमे गुड १५ सेर मिलावे। पुन. प्रक्षेप के रूप मे जीरक चूर्ण ६४ तोला, पित्तपापडा चूर्ण ८ तोला और सप्तपर्ण की छाल, सोठ, पीपल, मरिच, नागरमोथा, नागकेशर, कुटकी, अतीस, इन्द्रयव प्रत्येक ४–४ तोला चूर्ण कर मिलावे।

इन्हें अच्छी प्रकार मिट्टी या चीनी मिट्टी के भाण्ड मे मिलाकर १ मास तक रख छोडे । जब सन्धान पूर्ण हो जाय तो छान कर बोतलो मे भर दे ।

मात्रा—? से ?॥ तोले तक । दिन मे २ बार भोजनोत्तर ।

उपयोग—जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर, शीत ज्वर, पित्तप्रधान ज्वर आदि मे यह अच्छा लाभ करता है । इसके प्रयोग से यकृत् तथा प्लीहा का कार्य सुधरता है तथा इनकी अभिवृद्धि भी दूर होती है । यह अग्नि को प्रदीप्त करता है । इसके प्रयोग से रक्तकणो की वृद्धि होती है । ज्वराक्रान्त रोगी जब निर्बल हो जाता है तब इसके प्रयोग से उसका बलक्षय दूर होता है और उसे बल प्राप्त होता है । कालाजार आदि से जब रोगी दुर्बल हो जाता है तो इसका प्रयोग करना चाहिये ।

लौहासव

घृतभावित मिट्टी के भाण्ड मे २ द्रोण जल (२५॥= सेर) भर कर उसमे एक तुल (५ सेर) पुराना गुड और ६४ पल (३ सेर ३। छटाक) मधु मिलाकर अच्छी प्रकार घोल लेवे । पुन उसमे लौहभस्म, त्रिकटु, त्रिफला, अजवायन, वायविडग, नागरमोथा और चित्रक की जड, प्रत्येक का चूर्ण ४–४ तोला भर और धाय का फूल ८० तोला (एक सेर) मिला कर उस भाण्ड के मुख को ढक्कन से बन्द कर सन्धिबन्ध कपडमिट्टी द्वारा करके एकान्त अन्धेरे मे रख छोडे । एक मास पश्चात् जब सन्धान पूर्ण हो जाय तो छानकर शीशी या कराव मे सुरक्षित करे ।

मात्रा—एक से १॥ तोला । भोजनोत्तर समान भाग जल या शतपुष्पार्क मिला कर पिलावे ।

उपयोग—जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर, पाण्डु, शोथ, गुल्म, उदररोग, अर्श, कुष्ठ, प्लीहा तथा यकृद्विकार मे इसका उपयोग करे । इसके प्रयोग से कण्डु, कास, श्वास, भगन्दर, त्वग् रोग, अरुचि तथा ग्रहणी विकार नष्ट होता है । यह रक्त की वृद्धि करता है तथा हृदय को बल प्रदान करता है । ज्वरादि विकारो के कारण जब रोगी कृश एव रक्तहीन हो जाता है तो इसके प्रयोग से लाभ होता है ।

अङ्गमर्द प्रशमक (च० सू० अ० ६४)

चरकोक्त १० अङ्गमर्द प्रशमनीय औषधो का क्वाथ या यथाविधि निर्मित अर्क के प्रयोग से ज्वरादि मे उत्पन्न अङ्गमर्द का शमन हो जाता है । वे द्रव्य इस प्रकार है—(१) विदारीगन्धा (शालपर्णी), (२) पृश्नपर्णी, (३) बडी कटेरी, (४) छोटी कटेरी, (५) एरण्ड, (६) काकोली, (७) चन्दन, (८) खस, (९) एलायची, (१०) मुलेठी, इन दश औषधो का यथाविधि क्वाथ बनावे ।

षट्पल घृत

पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ और सेंधानमक, इन ६ द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क बना ले। पुन कल्क के चौगुना गोघृत लेवे और घृत के चौगुना गाय का दूध लेवे तथा दूध के तुल्य प्रमाण मे जल लेकर घृत पाक विधि मे सिद्ध करे।

मात्रा—६ माशे से १ तोला, दिन मे २ बार दूध के अनुपान मे देवे।

उपयोग—यह घृत विषम ज्वर, जीर्ण ज्वर, मन्दाग्नि, प्लीहावृद्धि तथा गुल्म का नाश करता है।

अवधेय—इसमे ६हो द्रव्यो का पृथक्-पृथक् प्रमाण १ पल अर्थात् सब मिलकर ६ पल होता है। अत इसका नाम षट्पल घृत है।

महाकल्याणक घृत (भै० र०)

शालपर्णी, तगर, हल्दी दारहल्दी, श्वेतसारिवा, कृष्णसारिवा, प्रियङ्गु नीलकमल, छोटीएला, मजीठ, दन्ती की जड, अनार के छिलके, अनारदाना नागकेशर, तालीसपत्र, बड़ी कटेरी, मालतीपुष्प, वायविडग, पृश्नपर्णी, कूठ, सफेद चन्दन और पद्मकाष्ठ इन २१ द्रव्यों को समभाग मे लेकर यथाविधि क्वाथ तैयार करे। कल्क के चौगुना गो घृत लेवे और घृत के चौगुना क्वाथ लेवे। कल्कार्थ— पृश्नपर्णी, मुद्गपर्णी माषपर्णी, काकोली, कौंच के शुद्ध बीज, ऋषभक, ऋद्धि और मेदा समभाग मे लेवे और यथाविधि कल्क बनावे। घृत से चौगुना गाय का दूध लेवे और इन द्रव्यो मे यथाविधि घृत सिद्ध करे।

मात्रा—१ तोला, दूध मे।

उपयोग—यह बृहण है तथा इसका उपयोग जीर्ण ज्वरो मे किया जाता है। यह सन्निपातहर है।

पञ्चगव्य घृत (च० स०)

दशमूल, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, कुटज की छाल, सप्तपर्ण की छाल, अपामार्ग, नील, कुटकी, अमलतास, कठगूलर के मूल, पुष्करमूल और धमासा, ये २४ ओषधियाँ १०-१० तोले लेकर ३२ सेर जल मे क्वाथ करे। जब चतुर्थांश शेष रह जाय तो उतार कर छान ले। पुन भारगी, पाठा, सोठ, मिर्च, पीपल, निसोत, समुद्रफल, गजपीपल, मूर्वा, दन्तीमूल, चिरायता, चित्रकमूल, अनन्तमूल, सारिवा, रोहिषतृण, गन्धतृण, चमेली के पत्ते, सब को १-१ तोला प्रमाण लेकर कल्क बनावे। गोघृत २ सेर, गोदुग्ध २ सेर, गाय का दही २ सेर, गोबर का रस २ सेर, गोमूत्र २ सेर, लेकर यथाविधि घृत सिद्ध करे।

मात्रा—१ तोला दिन मे २ बार दूध से ।

उपयोग—चातुर्थिक ज्वर मे इसका उपयोग होता है । पाण्डु तथा कामला मे भी इसका प्रयोग होता है । यह अपस्मार की प्रसिद्ध औषध है ।

वर्धमान पिप्पली

वर्धमान पिप्पली के प्रयोग के अनेक विधान भिन्न-भिन्न प्रयोजनो के अनुसार शास्त्रों मे उपदिष्ट है । इसका प्रयोग रसायनार्थ, उदर रोग निवृत्यर्थ, श्वास रोग निवृत्यर्थ तथा उदर सम्बन्धी अनेक विकारों की शान्ति के लिये किया जाता है । प्रयोग मे प्रायः छोटी पीपल का ग्रहण होता है । दुग्ध मे सिद्ध कर तथा सुधाक्षीर से भावित कर इसका प्रयोग होता है । प्रयोग क्रम भी रोगी के बल के अनुसार निर्धारित करना पड़ता है । पूर्ण प्रयोग १००० (एक सहस्र) पिप्पलियों का है । पूर्ण मात्रा १० पिप्पली से प्रारम्भ होती है । क्रमशः मात्रा प्रतिदिन दश की मात्रा मे बढ़ती जाती है जैसे—

१ म	दिवस	१०	क्षीरपाक कर ।
२ य	,,	२०	,,
३ य	,,	३०	,,
४ र्थ	,,	४०	,,
५ म	,,	५०	,,
६ ष्ठ	,,	६०	,,
७ म	,,	७०	,,
८ म	,,	८०	,,
९ म	,,	९०	,,
१० म	,,	१००	,,
	कुल	५५०	

पुनः ग्यारहवे दिन से मात्रा १० के हिसाब से कम होने लगती है जो कुल मिलकर शेष १० दिनो मे ४५० हो जाती है । इस प्रकार ५५० + ४५० = १००० पिप्पली का प्रयोग पूर्ण हो जाता है । इस प्रयोग काल मे रोगी को केवल (गोदुग्ध) ही सेवन कराया जाता है । अन्य किसी प्रकार का पेय तथा अन्न नही दिया जाता । दुर्बल रोगियो मे ३ से तथा ६ पिप्पली से प्रारम्भ करते हैं ।

लशुन प्रयोग

काश्यप संहिता मे 'लशुन' का अनेक कल्पो मे प्रयोग वर्णित है । लशुनक्षीर, लशुनघृत, लशुनादिघृत आदि के रूप मे तथा एकाकी रूप मे इस के प्रयोग का

विस्तृत वर्णन है। किन-किन रोगों में किस प्रकार लशुन का प्रयोग करना चाहिये इसका वहाँ विशद वर्णन है। लशुन सेवन विधि के लिये पृथक् अध्याय ही काश्यप संहिता में है इसका विस्तृत वर्णन वहीं देखें। लशुन को स्वादु तिक्त एवं कटु इन तीनों रसों से युक्त कहा है। पुनः कहा है कि यह स्वादु होने से गुरु तथा स्नेह गुण युक्त होता है अतः बृंहण है। परन्तु नावनीतक में इसको लघु कहा है। यह रसायन भी है। इसके बीज में कटु रस, पुष्पनाल में लवण रस एवं तिक्त रस तथा पत्तों में कषाय रस कहा है और इसका विपाक मधुर है। परन्तु भावमिश्र ने मूल में कटु रस, पत्र में तिक्त रस, नाल (डण्ठल) में कषाय रस, नाल के अग्रभाग में लवण रस एवं कन्द में मधुर रस माना है। इस प्रकार इस में एक रस न्यून होने से इसका नाम 'रसोन' भी है। ६ रसों में उक्त पाँच रस होते हैं। अम्ल रस इसमें नहीं होता। यह स्रोतोविशोधक होता है। यह आयुष्य, दीपन, वृष्य, आरोग्य सम्पादक, त्रिदोषहर, स्मृति, मेधा और बल को देने वाला माना गया है। इसका विपाक कटु है।

मात्रा—रोगी तथा रोगबल के अनुसार। हरे लशुन की उत्तम मात्रा ८ पल, मध्यम मात्रा ६ पल और कनिष्ट ४ पल है। शुष्क या पक्व लशुन के कन्द १००, ६० तथा ५० क्रमशः संख्या के अनुसार इसकी मात्रा है।

प्रयोग—क्षीरपाक विधि से।

उपयोग—रसायन के लिये तथा उदर रोग, यक्ष्मा, और जीर्ण विषम ज्वर।

किरातकल्प

दालचीनी १ छटांक, चिरैता ८ छटांक, धनिया ४ छटांक, जल १० सेर। २४ घण्टे तक इन द्रव्यों को यवखण्ड कर जल में भिगोकर रखें। पुनः स्रवण विधान से इनका अर्क निकाल ले।

मात्रा—१–२ औंस। दिन में ३–४ बार।

उपयोग—ज्वर के संताप को दूर करने के लिये। विशेषकर आन्त्रिक ज्वर में।

चन्दनादितैल

सफेद चन्दन, मुलहठी, मूर्वा, हरड, आँवला, नीलोफर, प्रियङ्गु, वड के अकुर, गिलोय, कमलकेशर, लौहचूर्ण, जटामासी, सफेद सारिवा, कालीसारिवा, सुगन्धवाला, नखी, छरीला, पद्माख, मजीठ, देवदारु, कचूर, छोटी एला, जायफल, नागकेशर, लवङ्ग, अगर, केशर, दालचीनी, कुटकी, रक्तचन्दन, तेजपत्र, शीतलचीनी, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी, निर्गुण्डीबीज इन सभी द्रव्यों को २–२ तोला प्रमाण में

लेकर कल्क बनावे। पुनः इस कल्क के चौगुना मूर्च्छित तिल तैल लेवे। और दही का तोड (मस्तु) तेल से चौगुना लेवे। भृगराज स्वरस भी तेल के चौगुना लेकर यथाविधि तैल पाक करे। पाक मन्दाग्नि पर करे।

उपयोग—जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा, रक्त पित्त मे इसके प्रयोग से लाभ होता है। यह उन्माद, अपस्मार, दाह, शिरःशूल आदि विकारो को नष्ट करता है।

पुनर्नवा मण्डूर (च० स०)

पुनर्नवा की जड, त्रिवृत्, सोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, वायविडग, देवदारु, चित्रक मूल की छाल, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, हरड का दल, बहेडा का दल, आंवला, दन्ती की जड, चाभ, इन्द्रयव, कुटकी, पिपलामूल, नागरमोथा. प्रत्येक का सूक्ष्म कपडछान चूर्ण कर ले और ४–४ तोला प्रमाण मे लेवे। सब के समान भाग शुद्ध मण्डूर चूर्ण लेवे। सर्वप्रथम मण्डूर के सूक्ष्म चूर्ण को अष्टगुण गोमूत्र मे पकावे। जब वह गाढा होने लगे तो नीचे उतार कर उपर्युक्त चूर्ण को उसमे मिलाकर ३ घण्टे तक मर्दन करे। पुनः सुखाकर इसे काँच की शीशी या बोइयाम मे रख ले।

मात्रा—१ माशा मे ३ माशा तक। दिन मे ४ बार। अनुपान दूध, तक्र तथा पुनर्नवास्वरस या मुस्तादि क्वाथ से।

उपयोग—यह पाण्डु रोगाधिकार की विशिष्ट औषधि है। इसके प्रयोग से रक्त की वृद्धि होती है, अग्निमान्द्य, शोथ, यकृद्विकार, प्लीहाविकार, अर्श, क्रिमि-रोग तथा उदर रोग नष्ट होते हे।

नवायसचूर्ण (च० स०

सोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, हरड का दल, बहेडा का दल, आँवला, नागरमोथा वायविडग और चित्रक की जड की छाल, प्रत्येक द्रव्य का सूक्ष्म कपडछान चूर्ण कर ले और १–१ तोला प्रमाण मे लेवे। शुद्ध मण्डूर चूर्ण ९ तोला लेवे और इन्हे मिलाकर अच्छी प्रकार ३ दिन मर्दन करे।

मात्रा—४ रत्ती से १ माशा तक। दिन मे ३ बार दूध या तक्र मे देवे।

उपयोग—पाण्डु रोग, जीर्ण विषम ज्वर तथा जीर्ण ज्वर।

योगराज (च० स०)

गुठली निष्कासित हरड तथा बहेडा, आँवला, सोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, चित्रकमूल की छाल, वायविडग, इन द्रव्यो का कपडछान चूर्ण प्रत्येक का १–१ तोला, शुद्ध लौह शिलाजीत ५ तोला, रौप्य शिलाजीत ५ तोला, माक्षिकभस्म

५ तोला, लौहभस्म ५ तोला, और मिश्री आठ तोला लेवे। उपर्युक्त कपड़छान किए हुए चूर्ण को भस्मो के साथ मिला कर अच्छी प्रकार मर्दन करे। पुन. शिलाजीत को मिलाकर जल मे अच्छी प्रकार मर्दन कर ६–६ रत्ती की वटी बना लेवे।

मात्रा– १ से २ वटी। दिन मे २ बार दूध से।

उपयोग—पाण्डु रोग, कास, राजयक्ष्मा, जीर्ण विषम ज्वर, मन्दाग्नि, प्रमेह, कुष्ठ, शोप, श्वास, अरुचि, अपस्मार, कामला तथा अर्श रोग मे। इसके प्रयोग से रक्त की वृद्धि होती है। जठराग्नि तथा धात्वग्निया प्रदीप्त होती है।

आखुविषान्तक रस (यो० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, सोठ, पीपल, कालीमिर्च, शुद्ध टकण और कुटकी, इनका कपडछान चूर्ण समभाग मे लेवे। पुन इन्हे एकसाथ मिलाकर पुनर्नवा पत्रस्वरस की और गोमूत्र की ३–३ भावना देकर १ रत्ती की गोलियां बना ले।

मात्रा—१ से २ वटी। २ से ३ बार। बन्ध्या कर्कोटकी के मूल के चूर्ण के साथ अथवा पाठा क्वाथ से।

उपयोग—आखुविष मे इसका प्रयोग करे।

किराताद्यरिष्ट

चिरायता—४ छटाक	सुदर्शन—½ छटाक
निम्ब—१ ,,	वासा—½ ,,
चित्रक—½ ,,	सप्तपर्णत्वक्—१ ,,
गुडूची—½ ,,	त्रिफला—२ ,,

इनको यवखण्ड कर १२ सेर जल मे उबाले और जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब निकाल कर छान ले और उसमे अढाई सेर (२॥ सेर) गुड मिला कर अच्छी प्रकार घोल ले। पुन निम्न द्रव्यो के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर सन्धान विधि से अरिष्ट तैयार करे। प्रक्षेप द्रव्य—अतिविषा १ तोला, काकडाशृङ्गी १ तोला, दालचीनी १ तोला, बडी एला १ तोला, तेजपत्र १ तोला, नागकेसर १ तोला, सोठ १ तोला, वायविडङ्ग १ तोला।

मात्रा—१ से २॥ तोला। भोजनोत्तर.

उपयोग—जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर।

दुरालभादि क्वाथ (व० से०)

धमासा, पित्तपापडा, परवल के पत्ते और कुटकी इनको समभाग लेकर यवकुट कर ले। पुन. यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—३ सेर ६ तोले। दिन मे २ से ३ बार पिलावे।

उपयोग—यह विस्फोटक ज्वर, मसूरिका ज्वर तथा अन्य पिडकामय ज्वरो मे अच्छा लाभ करता है। इससे पित्त तथा कफपित्त प्रधान ज्वरो का सन्ताप शीघ्र नष्ट होता है।

लक्ष्मीनारायण रस (यो० र०)

शुद्ध हिङ्गुल, अभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टङ्कण, शुद्ध वत्सनाभ, निर्गुण्डी-बीज, अतिविषा, पीपल, कुटज त्वक्, सेधा नमक, प्रत्येक द्रव्य समभाग लेकर दन्ती मूलक्वाथ और त्रिफला क्वाथ की ३-३ भावना देकर १-१ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१-२ वटी। दिन मे ३-४ बार मधु मे।

उपयोग—यह दुष्ट ज्वर, विषम ज्वर तथा सन्निपात ज्वरो मे प्रयुक्त होता है। इसका प्रभाव सूतिकाजन्य ज्वरो मे अत्यधिक होता है। यह रस ज्वरघ्न, स्वेदल, पाचन तथा सेन्द्रिय विषो को नष्ट करता है। धातुगत ज्वरो मे इसके प्रयोग से अच्छा लाभ होता है। प्रसवानन्तर नानाविध सक्रमणो के कारण जो ज्वर उत्पन्न होते है उसमे इससे शीघ्र लाभ होता है। यह स्वेदल होते पर भी हृद्य है। इससे धनुस्तम्भ अपतानक, आक्षेप आदि वात विकार भी शान्त होते है। गर्भाशय तथा योनिमार्ग मे सक्रमणवश उत्पन्न विकारो मे यह परमोपादेय है। यह पुनरावर्तक ज्वर, साम्पातिक ज्वर तथा किसी भी प्रकार के अनियमित ज्वर को नष्ट करता है। यह सूतिका विषजन्य ज्वर की विशिष्ट औषधि है। इसका प्रभाव विशेषतः अन्त्र, यकृत्, प्लीहा तथा रस-रक्त-मास और त्वग्गत स्वेदपिण्डो पर होता है। यह पित्त को शान्त करता है।

निम्बादि कषाय (यो० र०)

निम्ब की अन्तरछाल, खदिरसार (कत्था) गुडूची, इन्द्रयव, इनको समान भाग लेकर यवकुट कर यथाविधि क्वाथ बनावे। क्वाथ तैयार होने पर मधु मिलाकर पिलावे।

मात्रा—४ तोला। १ चम्मच मधु मिला कर दिन मे ३ बार देवे।

उपयोग—विस्फोटक ज्वर तथा अन्य पिडकामय ज्वर।

निशादि लेप (व० मे०)

हल्दी, दारुहल्दी खस, सिरस की छाल, नागरमोथा, लोध, सफेद चन्दन और नागकेसर, इन ८ औषधियों को सम भाग मिलाकर जल के साथ पीस कर लेप तैयार करे।

उपयोग—इस लेप के लगाने से विस्फोट, मसूरिका, विसर्प के व्रण, दाह, स्वेदाधिक्य, शरीर की दुर्गन्ध, रोमातिका और कुष्ठरोग (त्वग्विकार) शान्त होते हैं।

कालक चूर्ण (च० म०)

गृहधूम, यवक्षार पाठा, सोंठ, मरिच, पिप्पली, रसोन, तेजबल, हरड, बहेडा, आँवला, अगर, चित्रक की छाल, प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला लेवे और इनका कपडछान चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को मधु मिलाकर गले, दन्तवेष्ट तथा मुख में लगाने से इनके विकार दूर होते हैं।

त्रायमाणा घृत (भै० र०)

त्रायमाणा १६ तोला लेकर दसगुने जल (२ सेर) में क्वाथ करे। जब पञ्चमांश शेष रह जाय अर्थात् ३२ तोला शेष रह जाय तो छान लेवे। पुन यवासा, हरड कुटकी नागरमोथा, त्रायमाणा, आँवला, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, चन्दन (रक्त) तथा नीलकमल १–१ तोला प्रमाण लेकर जल के साथ यथाविधि कल्क बनावे। पश्चात् गाय का घी ३२ तोला, आँवलों का रस ३२ तोला, गो-दुग्ध ३२ तोला लेकर उक्त क्वाथ तथा कल्क के साथ यथाविधि घृत पाक करे।

मात्रा—½ से १ तोला। दिन मे २ या ३ बार। दूध से।

उपयोग—पित्तज्वर, विसर्प, पित्तजगुल्म, कामला, प्रभृति मे।

गन्धक रसायन (आ० प्र०)

गाय के दूध से ३ बार शुद्ध किया हुआ आमलासार गन्धक ६४ तोला लेवे। इसको पत्थर के खरल मे डाल कर दालचीनी, तेजपत्र, छोटी इलायची और नागकेशर इनमे से प्रत्येक के कपडछान चूर्ण को रात मे द्विगुण जल में भिगोकर सवेरे हाथ से मसल कर कपडे से छाने हुए जल में, ताजी गिलोय के स्वरस मे, त्रिफला स्वरस मे, भाँगरा के स्वरस मे तथा आर्द्रक स्वरस मे ८–८ दिन मर्दन करे। इस प्रकार इन उपर्युक्त द्रव्यो के रस की ८० भावना देवे। प्रत्येक भावना मे ३ घण्टे मर्दन करना चाहिये। पुन सुखा कर रख ले।

मात्रा—४–८ रत्ती। दिन मे २ बार। अनुपान दूध।

उपयोग—यह रसायन है। त्वग्रोग तथा पिडकामय ज्वर। विसर्प आदि।

८ कालाग्निरुद्र रस (भैं० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म और स्वर्णमाक्षिक भस्म इनका समान प्रमाण में लेकर सर्वप्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले। पुनः शेष भस्मों को मिलावे और बाझककोडे के कन्द के स्वरस में १ दिन खरल करे। पश्चात् बाझककोड़े के कन्द में छिद्र बना कर उसमे इस (उपर्युक्त द्रव्य) को भर दे और उसका मुख बन्दकर दे और उस पर कपडमिट्टी कर उसे सुखा लेवे। तदुपरान्त इसको भूधर यन्त्र में दिन भर पकावे। स्वाङ्ग शीतल होने पर अग्नि से निकाल कर कपडमिट्टी को तोड़ अन्दर से औषध को निकाल ले और महीन पीस ले। इसमें दशवां हिस्सा शुद्ध वत्सनाभ का चूर्ण मिला कर अच्छी प्रकार मर्दन कर ले। पश्चात् एक शीशी में इसे रख ले।

मात्रा— १ रत्ती। अनुपान—पिप्पली चूर्ण और मधु। दिन में २ से ३ बार।

उपयोग— विसर्प रोग की यह विशिष्ट औषधि है। अन्य पिडकामय ज्वरों में भी यह उपयोगी है।

पिरोजा भस्म

शुद्ध पिरोजा के बारीक चूर्ण को घीकुआर के रस में १२ घण्टे खरल करके टिकिया बना ले और सम्पुट में रख कर यथाविधि गजपुट में फूकने से भस्म तैयार हो जाता है।

मात्रा—१-२ रत्ती। घी तथा कालीमिर्च के चूर्ण से।

उपयोग विस्फोटक ज्वर तथा अन्य पिडकामय ज्वर।

खदिरारिष्ट (शार्ङ्गधर)

खैर की लकडी का बुरादा २०० तोला, देवदारु २०० तोला, बाकुची ४८ तोला, दारुहल्दी १०० तोला, त्रिफला ८० तोला, इन सब द्रव्यों को जौकुट कर आठ द्रोण (८१९२ तो०) जल में पकावे। जब अष्टमांश रह जाय (१०२४ तो०) तो उतार कपडे में छान ले। पुनः इस क्वाथ में मधु ४३० तोला, चीनी ४०० तोला, तथा धाय के फूल ६४ तोला, कबाबचीनी, नागकेशर, जायफल, लौंग, छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र प्रत्येक ४-४ तोला तथा अनन्तमूल ३२ तोला लेकर इसका कपडछान चूर्ण बना ले और प्रक्षेप रूप से उक्त क्वाथ में डाले। पुनः मिट्टी के भाण्ड में या पेंचदार ढक्कनयुक्त चीनी मिट्टी के बरतन में या सागौन के पीपे में भरकर १ मास तक सन्धानार्थ रख छोडे। १ मास पश्चात् सन्धान पूरा हो जाने पर कपडे से छान कर शीशे के करावा या बोतलों में रख छोडे।

मात्रा—२–४ तोला। जल मिलाकर (समान मात्रा में) भोजनोत्तर पिलावे।

उपयोग– सब प्रकार के पित्तामय ज्वरों में तथा त्वग्रोगों (कुष्ठों) में इसका प्रयोग लाभप्रद होता है। इसका प्रयोग रक्तविकार, कास तथा श्वास एवं पाण्डु रोग में भी प्रशस्त है। यह रक्तशोधक, किञ्चित सर तथा पाचक है।

सारिवाद्यरिष्ट (भै० र०)

काली अनन्तमूल, नागरमोथा, लोध, बड की छाल, पीपल की छाल, कचूर, सफेद अनन्तमूल (सारिवा), पद्माख नेत्रबाला, पाठा, आँवला, गिलोय, खस, सफेद चन्दन, रक्तचन्दन, अजवायन और कुटकी, इन १७ ओषधों को ४–४ तोले प्रमाण में (प्रत्येक) लेवे। पुन छोटी इलायची, बड़ी इलायची, कूठ, सनाय और हरड इन्हे १६–१६ तोला लेवे। सब औषधों को यवकुट कर ले और जल २५ सेर ३ तोले लेवे और उक्त यवकुट किए हुए औषधों को उसमें डालकर एक मिट्टी या चिनी मिट्टी के भाण्ड में रख छोड़े। पुन: उसमें १५ सेर गुड डाले तथा आधा सेर (४० तोला) धाय का फूल, ३ सेर मुनक्का प्रक्षेप रूप में डालकर अच्छी प्रकार मिला (घोल) कर मुख बन्दकर १ मास तक सन्धानार्थ रख दे। १ मास के बाद जब सन्धान पूर्ण हो जाय तो मुख खोलकर छान किसी काच के बोइयाम या बोतल में सुरक्षित करे।

मात्रा—१–२॥ तोले समान भाग जल मिलाकर दो बार भोजनोत्तर।

उपयोग—इसका उपयोग पित्तामय ज्वरों में यथा विस्फोटक, विसर्प आदि में होता है। यह परम रक्तशोधक औषध है। प्रमेह विकार तथा तज्जन्य पिडिकाओं, त्वग्रोग, मूत्रकृच्छ्र, उपदंश, भगन्दर तथा वातरक्त में यह अच्छा लाभ करता है। इसका कार्य वातवाहिनियों तथा उनके केन्द्र, नाडीचक्र, मूत्रवह संस्थान जननेन्द्रिय और अन्त स्रावक ग्रन्थियों पर होता है।

मांस्यादि लेप (शार्ङ्गधर)

जटामासी, राल, लोध, मुलहठी, निर्गुण्डी के बीज, मूर्वा, नीलकमल, लालकमल, सिरस के फूल, सब द्रव्यों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर ले और इस कपडछान चूर्ण को धोए हुए घृत में मिलाकर लेप करे।

उपयोग—इस लेप को वातरक्तज और पित्तरक्तज विसर्प पर लगाने से तत्काल दाह की शान्ति होती है तथा विसर्प से मुक्ति होती है।

किरातादि क्वाथ (यो० र०)

चिरायता, वासक (अड़ूसा), कुटकी, परवल की पत्ती, त्रिफला, सफेद चन्दन,

निम्ब की छाल, इन द्रव्यो को समान भाग मे लेकर यवकुट कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—४ तोला। दिन मे २ से ३ बार।

उपयोग—इस क्वाथ के प्रयोग से विसर्प, दाह, ज्वर, शोफ, कण्डु, विस्फोट तथा तृष्णा शान्त होता है। इसका प्रयोग छर्दि मे भी लाभ करता है।

अमृतादि क्वाथ (यो० र०)

गिलोय, अड्मा (वासक), परवल की पत्ती, नागरमोथा, सप्तपर्ण की छाल, खदिर, निम्बपत्र, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, सबको समान भाग लेकर यवकुट कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—८ तोला दिन मे ३ बार।

उपयोग—विस्फोट, विसर्प तथा अन्य पिडकामय ज्वर।

महामञ्जिष्ठादि क्वाथ (शार्ङ्गधर)

मजीठ, नागरमोथा, कुटज की छाल, गिलोय, कूठ, सोठ, भारङ्गी, छोटी कटेरी, वच, नीम की अन्तरछाल, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेडा, आँवला, परवल की पत्ती, कुटकी, मूर्वा, वायविडग, विजयसार, चित्रकमूल, शतावर, त्रायमाणा, गोरखमुण्डी, पाठा, इन्द्रजो, अड्मे के पत्ते, भाँगरा, देवदारु, पाढ, खैरसार लाल चन्दन, निसोत, वरुण की छाल, चिरायता, वाकुची, अमलतास का गूदा, सौहोड़ की छाल, बकायन, करञ्ज की छाल, अतीस, नेत्रबाला, इन्द्रायन की जड, धमासा, अनन्तमूल, पित्तपापडा, सब द्रव्यों को सम प्रमाण मे लेकर यवकुट कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा- ४ से ५ तोला। दो या तीन बार दिन मे।

उपयोग—यह क्वाथ परम रक्त शोधक है। इसका उपयोग सब प्रकार के त्वग्रोगो मे तथा पिडकामय ज्वरो यथा मसूरिका, रोमान्तिका, विस्फोट, विसर्प आदि मे होता है। कुष्ठ, उपदंश, श्लीपद, आमवात तथा वातरक्त मे भी इसके प्रयोग मे अच्छा लाभ होता है। इसका उपयोग एकाकी रूप में तथा अन्य औषधो के साथ अनुपान के रूप मे भी होता है। यह क्वाथ मेदोहर होने से मेदो वृद्धि (स्थौल्य रोग) मे भी लाभ करता है।

सहचरादि क्वाथ (भै० र०)

सहचर (कटसरैया) मूल, पुष्करमूल, वेतस की जड, विकङ्कत (विकंरो) की जड, देवदारु, कुलथी, नागरमोथा, गिलोय, सोठ, सुगन्धवाला, इनको समान भाग मे लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे और रोगी को पिलावे।

मात्रा—४ तोला। दिन में २ से ३ बार।

उपयोग—सूतिका ज्वर। इसके प्रयोग से ज्वर की शान्ति होती है तथा गर्भाशय की शुद्धि होती है जिससे तज्जन्य विकार शूल आदि नष्ट होते हैं।

सूतिका दशमूल क्वाथ (भै० र०)

शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, गोरखतिन्दुक, गन्ध प्रसारणी, सोंठ, गिलोय तथा नागरमोथा, इनको सम प्रमाण में लेकर जौ कुट कर यथाविधि क्वाथ बनावे।

मात्रा—४ से ५ तोला। दिन में २ से ३ बार पिलावें।

उपयोग- सूतिका ज्वर, स्तनोद्भव ज्वर। इस क्वाथ को पिलाने से हस्त-पाद आदि का दाह, सर्वाङ्ग दाह, आदि सूतिकाजन्य विकार नष्ट होते हैं। इसका प्रयोग सूतिकाजन्य सभी विकारों में होता है। इसके प्रयोग से गर्भाशय के विकार नष्ट होते हैं।

सौभाग्यशुण्ठी (भै० र०)

सोंठ का चूर्ण २ सेर लेकर ४ सेर गोदुग्ध में मृदु अग्नि पर पकावे। यह पाक कलईदार पात्र में करना चाहिये। जब पककर अवलेह के समान हो जाय तब इसमें १६ पल घृत (६४ तोला) डाल कर भून ले। जब जलांश नष्ट होकर अच्छी प्रकार भुन जाय (जले नहीं) तब उसको २॥ प्रस्थ शर्करा (५ सेर खाण्ड) की एक तार की बनी चासनी में डालकर पाक करे। पाक जब पूर्ण होने को आवे तो निम्नलिखित द्रव्यों के कपड़छान चूर्ण का प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार मिला उतार ले। प्रक्षेप द्रव्य त्रिकटु, त्रिफला, सफेद जीरा, शालचीनी, छोटी इलायची तेजपात, नागकेशर, नागरमोथा, जावित्री, जायफल, धनिया, लवङ्ग, सौंफ, नलिका, मैनफल अजवायन, अजमोदा, धाय के फूल, शतावर मूसली, पठानीलोध्र, गजपीपल, चिरौंजी, गिलोय का सत्व, कर्पूर, सफेद चन्दन, लाल चन्दन इन द्रव्यों को (प्रत्येक) २-२ तोला प्रमाण में लेकर बारीक चूर्ण (कपड़छान) कर मिलावे।

मात्रा—१ से २ तोला। बकरी या गाय के दूध के साथ दिन में २ बार।

उपयोग—यह सूतिका ज्वर आमवात, ग्रहणी, अम्लपित्त, कास, श्वास, रक्तपित्त तथा स्त्रियों के २० प्रकार के योनि व्यापदों में अच्छा लाभ करता है। इसके प्रयोग से प्रसूता स्त्रियों के गर्भाशय की शुद्धि होती है तथा स्तन दृढ होता है और स्तन्य की भी शुद्धि होती है।

पञ्चजीरकगुड़ (च० द०)

जीरा, हाऊबेर, धनिया सौंफ, बेर के सूखे फल, अजवायन, राई, हिंगुपत्री, कलौंदी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, अजमोदा, छोटी राई, चित्रक की जड़, इनको पृथक्-पृथक् ४–४ तोले लेवे। पुन. कसेरु, सोठ, कूठ, मगरैला, प्रत्येक १६ तोला लेवे। गुड ५ सेर लेवे। घी (गोघृत) २ सेर, दुग्ध (गाय का दूध) ८ सेर, सब द्रव्यो को यथोक्त प्रमाण मे लेकर (काष्ठौषधियो) बारीक कपडछान चूर्ण कर ले। सर्वप्रथम घी को द्विगुण दुग्ध तथा दुग्ध के समप्रमाण जल लेकर यथाविधि पाक करे। पुन जब यह उबलने लगे तो इसमे गुड डाले और जब यह पककर लेह के समान हो जाय तो शेष द्रव्यो के चूर्ण को डालकर अच्छी प्रकार मिलावे और मिल जाने पर उतार ले।

मात्रा—१ से २ तोला तक। दूध के साथ। दिन मे २ बार।

उपयोग—यह सूतिकाज्वर तथा सूतिकाजन्य अन्य सभी विकारो को दूर करता है। इसका प्रयोग २० प्रकार के योनि व्यापदो को दूर करने के लिये होता है। यह योनि विशोधन है। प्रसवानन्तर उत्पन्न कास, श्वास, पाण्डु, हलीमक, मूत्रकृच्छ्र प्रभृति विकारो को यह नष्ट करता है। इसके प्रयोग से प्रसूता की अग्नि प्रदीप्त होती है। तथा उसे बल लाभ होता है।

जीरकादि मोदक (भै० र०)

सफेद जीरा ८ पल (३२ तोला), सोठ ३ पल, धनिया ३ पल, सौफ, अजवायन तथा काला जीरा प्रत्येक १ पल (४ तोला) लेकर सबको बारीक कपडछान चूर्ण कर ले। पुन इसे ४ सेर गाय के दूध मे डालकर मन्दाग्नि पर पकावे। जब यह पककर गाढा हो जाय (खोवा के समान) तो उसे ८ पल (३२ तोला) गाय के घी मे भून ले। जब अच्छी प्रकार भुन जाय तब उसे अग्नि से उतार कर रख ले। पुन. ५० पल खाण्ड (२०० तोला) लेकर उसकी जल मे चासनी बना ले। जब एकतार की चासनी तैयार हो जाय तो उक्त भूने हुए औषध को डालकर पकावे। यथावत् पाक हो जाने पर अधोलिखित औषधो के कपडछान बारीक चूर्ण का प्रक्षेप डाले—सोठ, पीपल, मरिच, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, वायविडग नाभ. चित्रक, नागरमोथा, लौंग इन्हें ४–४ तोला प्रमाण मे लेवे। पुन इनको मिलाकर मोदक बना ले।

मात्रा—६ माशा से २ तोले तक। मन्दोष्ण दूध या जल मे।

उपयोग—सब प्रकार के सूतिकाजन्य रोगो को नष्ट करता है। यह अग्निदीपक है तथा ग्रहणी विकार के लिये परमोत्तम औषध है। इसके प्रयोग से योनि का शोधन होता है तथा पाचकाग्नि सबल होती है।

सूतिका विनोद रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक और शुद्ध तुत्थक, इन्हें सम प्रमाण में लेवे। सर्व-प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले। पश्चात् तुत्थक को मिलाकर जम्बीरी निम्बु के रस में ३ दिन तक अच्छी प्रकार मर्दन करे। पुनः त्रिकटु के क्वाथ की ३ भावना देवे और अच्छी प्रकार घोटे। पश्चात् ४ रत्ती की वटी बना कर सुखा ले।

मात्रा—१ वटी। दिन में २ से ३ बार। जल के साथ।

उपयोग—सूतिका ज्वर, विष्टम्भ, अजीर्ण, शूल आदि रोगों में।

सूतिकाहर रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लवङ्ग, यवक्षार, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, ताम्रभस्म, नागभस्म, प्रत्येक एक-एक पल (४ तोला) लेवे। जायफल, केशराज, त्रिफला, भृङ्गराज, छोटी इलायची, नागरमोथा, धावा के फूल, इन्द्रयव, पाठा, काकडा-शृङ्गी, विल्व, सोंठ, सुगन्धवाला प्रत्येक २ कर्ष (२ तोला) लेवे। सर्वप्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले पश्चात् भस्मों तथा अन्य द्रव्यों के बारीक चूर्ण को मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन करे। पुनः गन्धप्रसारिणी के स्वरस में मर्दन करे और २ रत्ती की वटी बना लेवे।

मात्रा—१ वटी। दिन में २–३ बार।

उपयोग—सूतिका ज्वर सातिसार एवं सग्रह होने पर इसके प्रयोग से अच्छा लाभ होता है।

सौभाग्यवटी

शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध हिङ्गुल, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टङ्कण, रस सिन्दूर, यवक्षार, सज्जीक्षार, सैंधव लवण, सामुद्र लवण, काला नमक, लवङ्ग, जीरा, स्याह जीरा, त्रिकटु, एला, कुष्ठ, त्रिफला, कायफल, लौहभस्म, इन सब द्रव्यों का सम प्रमाण में लेकर बारीक चूर्ण कर ले। पुनः इन्हें एकत्र कर अच्छी प्रकार खरल में मर्दन करे। पश्चात् अपामार्ग, निर्गुण्डी, भृङ्गराज, पान, आर्द्रक, इनके स्वरस की पृथक् पृथक् भावना देकर अच्छी प्रकार घोटे और २ रत्ती की वटी बनाकर छाया में सुखा ले।

मात्रा—१–२ वटी। दिन में २ से ३ बार। अनुपान रोगानुसार।

उपयोग—यह सूतिका ज्वर की परमोत्तम औषधि है। इसके प्रयोग से प्रसूता स्त्री के सोपद्रव ज्वर भी शान्त हो जाते हैं। कास, श्वास, अजीर्ण, ग्रहणी

तथा उदर विकार एवं शोथ आदि सभी विकारो मे यह लाभ करता है। इसके प्रयोग से ज्वर का संताप शीघ्र कम होता है तथा सूतिकाजन्य उपद्रव शान्त होते है। इसका उपयोग सन्निपात ज्वर मे भी होता है। विशेषकर अन्त्रिक तथा श्वसनक ज्वर मे इसके प्रयोग से अच्छा लाभ होता है।

प्रतापलङ्केश्वर रस (यो० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ इन तीनो औषधो को १–१ तोला लेवे। कालीमिर्च ३ तोला, चित्रकमूल ३ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला, लोहभस्म ४ तोला शंखभस्म ८ तोला, विश्वाल्वक् क्षार १६ तोला लेवे। सर्वप्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बनावे। पश्चात् शेष द्रव्यो के बारीक चूर्ण को मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन करे।

मात्रा—३ से ६ रत्ती। दिन मे २–३ बार मधु या तुलसी पत्र स्वरस से।

उपयोग—इस रसायन का उपयोग प्रसूता के ताप (ज्वर), कास, शिर शूल, प्रतिश्याय, छर्दि, मस्तिष्क विकार, आनाह, अतिसार, कफविकार, गृध्रसी, धनुर्वात, शूल प्रभृति विकारो को शान्त करने के लिये होता है। यह सूतिका ज्वर की परमोत्तम औषधि है। इसके प्रयोग मे गर्भाशय मे अवशिष्ट दोष का निर्हरण होता है तथा गर्भाशय की शुद्धि होती है। यह वातवाहिनी के क्षोभ को शान्त करता है प्रलाप आदि उपद्रवो को दबाता है। प्रसवानन्तर ज्वरादि के उत्पन्न होने पर इसका शीघ्र प्रयोग करने से अनेक सङ्क्रमणो का भय दूर होता है। सूतिकाजन्य वातविकार के लिये यह परमोपादेय रसायन है।

दशमूलारिष्ट (भै० र०)

दशमूल की सब औषधिया मिलाकर २०० तोले चित्रक छाल १०० तोले, पुष्करमूल १०० तोले, लोध्र ८० तोले, गिलोय ८० तोले, आंवला ६४ तोले, धमासा ४८ तोले, खैर की छाल, विजयसार की छाल, हरड का छिलका, प्रत्येक ३२–३२ तोले, कूठ, मजीठ, देवदारु, वायविडग, मुलहठी, भारगी, कपित्थवृक्ष छाल, बहेडा की छाल, पुनर्नवा, चाभ, जटामासी, फूलप्रियङ्गु, सारिवा, काला जीरा, निसोत, सम्भालु के बीज, रास्ना, पिप्पली, सुपारी, कचूर, हल्दी, सौफ, पद्माख, नागकेसर, नागरमोथा, इन्द्रयव, काकडाशृङ्गी, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, ऋद्धि, वृद्धि, प्रत्येक ८–८ तोला लेवे। इन सभी द्रव्यो को यवकुट कर आठ गुने जल मे यथाविधि क्वाथ करे। जब चतुर्थांश शेष रह जाय तो उतार कर छान ले। पुन इसमे २४० तोले मुनक्का को चतुर्गुण जल मे उबाले। जब त्रिपादांश जल शेष रह जाय तब उतार कर छान ले और पूर्वोक्त क्वाथ मे इसे

मिलाकर एक घृत भावित भाण्ड मे रखे। पश्चात् इस क्वाथ मे मधु १२८ तोला और गुड २५ सेर डाले और उन्हे अच्छी प्रकार घोल दे। तत्पश्चात् धाय का फूल १२० तोला, शीतलचीनी, नेत्रवाला, सफेद चन्दन, जायफल, लवङ्ग, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर और छोटी पीपल, प्रत्येक का चूर्ण २-२ पल (८ तोला) और कस्तूरी ३ माशे डालकर भाण्ड का मुख ढक्कन से ढक सन्धि बन्द कर दे। इसे १॥ मास तक सन्धानार्थ रखे। जब सन्धान पूर्ण हो जाय तो खोलकर छान ले और किसी करावे या बोतलो मे सुरक्षित करे।

मात्रा—१ से २॥ तोले तक। भोजनोत्तर।

विशेष सूचना—यद्यपि कस्तूरी को मिलाने का विधान सन्धान पूर्व ही है तथापि वृद्ध वैद्य व्यवहार से सन्धान परिपूर्ण होने पर अर्थात् करावे या बोतलो मे रखने के समय कस्तूरी मिलाना श्रेयस्कर मानते है। इससे कस्तूरी की सुगन्ध बनी रहती है तथा उसका पूर्ण लाभ भी होता है।

उपयोग—यह सूतिका रोग की परमोत्कृष्ट रसायन औषधि है। इसके सेवन से सूतिकाजन्य सभी विकार दूर होते है। प्रसूता स्त्री के लिये यह परम हितकारी औषध है। इसे देने से जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, मन्दाग्नि तथा वात-विकार उत्पन्न होने का भय नही रहता और प्रसूता को बल प्राप्त होता है। यह ग्रहणी दोष को शान्त कर पाचकाग्नि को दृढ बनाता है तथा इसके प्रयोग से अरुचि, छर्दि, पाण्डु, कामला, शोथ, उदर रोग, मूत्रकृच्छ्र, आदि विकार नष्ट होते है। यह धातुओ का बृहण कर क्षय रोग को दूर करता है। यह वातनाशक होने से तथा गर्भाशय शोधक एव अन्य स्रोतो विशोधन होने से मक्कल शूल, आमदोष तथा योनिव्यापदो को भी नष्ट करता है। यह गर्भाशय को बल प्रदान करता है, अत इसका उपयोग ऐसी स्त्रियो को भी लाभ पहुँचाता है जिन्हे गर्भाशय की अशक्ति के कारण बार-बार गर्भस्राव हो जाया करता है। यह वृष्य भी है, अत क्लैब्य को नष्ट करने के लिये भी इसका उपयोग होता है।

जीरकाद्यरिष्ट (भै० र०)

जीरा २०० तोले, जल १०२४ तोले लेकर यथाविधि क्वाथ करे। जब चतुर्थांश रह जाय तो उतार कर छान ले। पुन इस मे ३०० तोले गुड डाल कर अच्छी प्रकार घोल दे। पश्चात् धावा का फूल १६ तोले, सोठ चूर्ण २ तोले, जायफल, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची के दाने, नागकेशर, अजवायन, शीतलचीनी और लवङ्ग, प्रत्येक १-१ तोला, बारीक चूर्ण कर प्रक्षेप रूप मे डाले। पुन इन्हे अच्छी प्रकार मिलाकर भाण्ड मे रख मुख बन्द कर

यथाविधि सन्धानार्थ १ मास रखे। जब सन्धान पूर्ण हो जाय तो छानकर करावे या बोतलो मे रखे।

मात्रा—१ से २½ तोले तक। भोजनोत्तर।

उपयोग—यह सूतिका रोगजन्य ग्रहणी विकार को ठीक करता है। इसके प्रयोग मे पाचन क्रिया उचित रूप मे होती है तथा यह स्तन्यवर्धक है। यह सूतिका के स्तन्यागमोत्थ ज्वर को दूर करता है। इसके उपयोग से विदग्धाजीर्ण, परिणामशूल तथा अम्लपित्त रोग शान्त होता है। मन्द ज्वर, हाथ-पैर का दाह, त्वचा मे जलन आदि इसके सेवन से शान्त होते है। यह मूत्रल होने से मूत्रकृच्छ आदि मूत्रविकारो मे भी लाभ करता है। कण्डु, पिडका आदि त्वग्विकार मे भी यह लाभ करता है।

कुमार्यासव (यो० र०)

घृतकुमारी स्वरस—२५६ तोले, गुड १०० तोले लेकर दोनो को एक चीनीमिट्टी के बडे पात्र मे रखे। पुन. हरड और भाँग ७५ तोले को २५६ तोले जल मे उबाले और जब चतुर्थांश रह जाय तो उतार कर छान ले और उपर्युक्त गुड मिश्रित घृतकुमारी स्वरस मे मिला दे। पश्चात् इसमे मधु ६४ तोले, धाय के फूल १६ तोले, जायफल, लवङ्ग, शीतलचीनी, जटामासी, चाभ, चित्रक, जावित्री, कार्कटाशृङ्गी, बहेडे की छाल, पुष्करमूल, प्रत्येक द्रव्य १–१ तोला लेकर बारीक चूर्ण कर ले और लौहभस्म ½ तोला ताम्रभस्म ½ तोला, लेकर प्रक्षेप रूप मे उसमे डाले और भाण्ड का मुख बन्द कर एक मास पर्यन्त सन्धानार्थ रख छोडे। सधान पूर्ण हो जाने पर मुख खोल कर छान ले और बोतलो मे भर कर रख ले।

मात्रा—१ से २॥ तोले। जल मिला कर भोजनोत्तर देवे।

उपयोग—इसका उपयोग सूतिका ज्वर तथा अन्य जीर्ण ज्वरो मे होता है जब यकृत् तथा प्लीहा अभिवृद्ध हो जाते है। यह स्त्रियो के कष्ट, रज तथा गुल्म रोग मे परम उपकारी है। इसके सेवन से कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि, उदर रोग, अर्श आदि शान्त होते है। इससे रक्त की वृद्धि होती है।

धातक्यादि तैल (भै० र०)

मूर्च्छित तिल तैल २ सेर, आँवला स्वरस ८ सेर, बकरी का दूध ८ सेर, कल्कार्थ धाय के फूल, धाय की छाल, धनिया, आँवला, धत्तूर का पत्ता, राल, नीलीमूल, कदम्ब की छाल, तगर, नीम की छाल, निम्बु की जड, नागरमोथा, सोठ, हरड, कमल, अर्जुन की छाल, तेजपत्र, अरलु की छाल, करञ्ज बीज, तुलसी,

जामुन की छाल, भारङ्गी, समुद्रफेन, रीठा, बेर की छाल, कपित्थ फल मज्जा, पिप्पली, घृतकुमारी और कशेरु, इनका मिलित चूर्ण ४० तोले भर लेकर यथाविधि कल्क बनावे। पुनः पाकार्थ जल ८ सेर लेकर यथाविधि तैल सिद्ध करे। तैल सिद्ध हो जाने पर छान कर बोतलों मे सुरक्षित करे।

उपयोग—इस तैल के उपयोग (अभ्यङ्ग) से सूतिका ज्वर तथा प्रसूता के अन्य विकार नष्ट होते है।

सूतिक दशमूल तैल

शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरु, खिरटी, गन्धप्रसारणी, सोठ, गुडूची, नागरमोथा इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे। अर्थात् १२॥ सेर लेकर ५० सेर पानी मे उबाले जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तो उतार ले। कल्कार्थ—उक्त द्रव्यो को ही तैल के चतुर्थांश लेवे अर्थात् १ सेर लेवे। कटु तैल (सार्षप तैल) ४ सेर लेवे, गाय का दूध १६ सेर लेकर यथाविधि मन्द अग्नि पर पाक करे।

उपयोग—सूतिका ज्वर। इसके सेवन से ज्वर तथा दाह की शान्ति होती है।

आहकारि रस (भै० र०)

छोटी इलायची का चूर्ण, हरीतकी चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, लौहभस्म अभ्रक-भस्म, खर्परभस्म, प्रत्येक १ तोला लेवे और रस सिन्दूर २ तोला लेवे। इनको एकत्र कर खरल मे अच्छी प्रकार मर्दन करे। पुनः द्रोणपुष्पी (गूमा) के स्वरस की भावना देकर अच्छी प्रकार घोटे और २ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ वटी, दिन मे २ से ३ बार। पुनर्नवा स्वरस से।

उपयोग—यह नासाज्वर (Hay fever) की विशिष्ट औषध है। इसके प्रयोग से प्लीहा रोग, यकृद्रोग, अग्निमान्द्य, अरुचि तथा विषम ज्वर नष्ट होते है।

सुरसादि फाण्ट

सुरसा (तुलसी पत्र), भार्गी, वासा, कटेरी (छोटी) मुलेठी, जम्बीर तृण, गोजिह्वा, सौफ, कालीमिर्च। इन्हे सम भाग लेकर यवकुट कर ले और यथाविधि फाण्ट बनाकर रोगी को पिलावे।

मात्रा—२॥ से ५ तोला। दिन मे २ या ३ बार मधु या खाण्ड मिला कर।

उपयोग—प्रतिश्याय तथा तज्जन्य ज्वर, शिर शूल आदि।

व्याघ्री हरीतकी

छोटी कटेरी के पञ्चाङ्ग ५ सेर लेवे और २५॥ सेर जल मे उबाले। इसको उबालते समय ही १०० सुपुष्ट हरड़ लेकर उसमे डाले और अच्छी प्रकार पकावे। जब ये अच्छी प्रकार उबल जाँय तब उतार कर छान ले। पुन. इस क्वाथ मे उबले हुए हरीतकी को डालकर उसमे २५ सेर पुराण गुड डाले और प्रक्षेपार्थ—त्रिकटु का चूर्ण ८ तोला, मधु २४ तोला, चातुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, नागकेसर) का चूर्ण ४ तोला मिलाकर यथाविधि सिद्ध कर ले।

सूचना—यहाँ इस बात का ध्यान रखे कि हरड की एक पोटली बनाकर उक्त क्वाथ मे लटकावे जिससे सुविधा से वह पृथक् हो सके।

मात्रा—१ तोला। दिन मे २ या ३ बार।

उपयोग—यह प्रतिश्याय, पीनस, तज्जन्य ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद, आदि के लिये परमोत्तम औषधि है। इसके प्रयोग मे सब प्रकार का कष्ट नष्ट होता है। यह सचित कफ को पिघला कर बाहर निकालती है तथा कोष्ठ शुद्धि करती है। यह भृगु ऋषि प्रोक्त परमोत्तम रसायन है।

अग्निकुमार रस (भै० र०)

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टकण; ये सब समान भाग मे लेवे। शुद्ध वत्सनाभ ३ भाग लेवे। कपर्दभस्म और शङ्खभस्म प्रत्येक २ भाग लेवे। कालीमिर्च ८ भाग लेवे। प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बना ले। पुन. शेष द्रव्यो का कपडछान चूर्ण बना कर सबको एकत्र मिलाकर खरल मे अच्छी प्रकार मर्दन करे। पश्चात् जम्बीर रस की भावना देकर ७ दिनो तक मर्दन करे और २–२ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१–२ गोली। जल, छाछ तथा निम्बु के रस के अनुपान से यथावश्यक देवे।

उपयोग—अग्निमान्द्य, अजीर्ण तथा तज्जन्य ज्वरो मे। इससे उदरशूल शान्त होता है और अग्नि प्रदीप्त होती है।

रत्नेश्वर रस (भै० र०)

हीरकभस्म, वैक्रान्तभस्म, अभ्रकभस्म, रससिन्दूर, स्वर्णमाक्षिकभस्म, स्वर्णभस्म, मुक्ताभस्म, रजतभस्म, इन्हे सम प्रमाण मे लेकर ईख, शतावर तथा विदारीकन्द स्वरस की पृथक्-पृथक् ३–३ भावना देकर १ रत्ती की वटी बना ले।

मात्रा—१ वटी। २ या ३ बार। त्रिफला जल के अनुपान से देवे।

उपयोग—अभिघात ज्वर। मस्तिष्क तथा स्नायुगत रोग को यह शान्त करता है।

महाशिशिर पानक (भै० र०)

मिश्री १० तोला, सफेद चन्दन घिसा हुआ १ तोला, जम्बीर स्वरस ५ तोला, शतावरी स्वरस ५ तोला, सौंफ का तेल ४ माशा लेकर ४० तोले जल मे मिला यथाविधि पानक तैयार करे।

इस पानक का उपयोग आवश्यक प्रमाण मे अनेक वार अनुपान मे आक्रान्त रोगी को देवे। इसके प्रयोग मे रोगी को पर्याप्त लाभ होता है। यह दाह, तृषा तथा ज्वर के सन्ताप को कम करता है।

सल्फोनामाइड्स या सल्फा कम्पाउण्ड्स
(Sulphanilamide and its derivatives)

आधुनिक रसायन चिकित्सा (Modern Chemotherapy) सम्प्रति सल्फानेलामाइड के विविध योगो मे भरपूर है। इस वर्ग की औषधियो का निर्माण रसायनिक क्रियाओ द्वारा होता है। इन रसायनिक क्रियाओ द्वारा वेजीन संगठन (Benzine Ring) के एक हाइड्रोजन को हटाकर एमीन वर्ग को स्थापित किया जाता है। इस प्रकार एमीनो वेजीन अथवा एनिलीन बनायी जाती है। इसके उपरान्त वेजीन सगठन के दूसरे हाइड्रोजन को हटाकर सल्फोनिल स्थापित करते हैं। जिससे सल्फानिलिक एसिड की प्राप्ति होती है। पुनः जब सल्फानिलिक एसिड मे संगठित ओ० एच० (O H) को हटाकर एमीन वर्ग (NH_2) स्थापित कर दिया जाता है तब 'पाराएमीनो वेजीन सल्फोनामाइड, नामक रसायन तैयार हो जाता है। इस औषध को 'सल्फानिलामाइड' कहते हैं। इस सल्फानिलामाइड से इस वर्ग की अन्य औषधियो का निर्माण होता है। इसी के अन्दर सल्फोनामाइड्स तथा सल्फा कम्पाउण्ड आते हैं। ये औषधिया जीवाणुओ की सन्तति वृद्धि को रोककर तथा उनके जीवन के लिये प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न कर अपना कार्य करती हैं। सम्प्रति सल्फानीलामाइड तथा सल्फापायरेडीन के स्थान पर सल्फाथायजोल, सल्फाडायजीन (Sulphathiazole and Sulphadiazine) प्रभृति का प्रचुर और अधिक सफलता के साथ व्यवहार होता है। इनका प्रयोग प्रायः मुख द्वारा (खिलाकर) होता है। आधा ग्राम की गोलियो को पीसकर जल के साथ इसका उपयोग होता है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर इसका व्यवहार सूचीवस्ति द्वारा (Injection) भी होता है। सूचीवस्ति के लिये सोडियम साल्ट की तरह इसे अच्छी प्रकार परिस्रुत जल मे इसका विलयन बना लेते हैं। व्रणो पर अवचूर्णन के रूप मे भी इसका प्रयोग होता है। सामान्यरूपेण अभीष्ट लाभार्थ इसकी उत्तमा मात्रा (Large doses) देते है जिससे इसका रक्त मे पूर्ण प्रसार हो जाय। एतदर्थ

४–४ घण्टे पर प्रचुर प्रमाण मे जल के साथ देते है। इसके सेवन काल मे जल तथा क्षारीय द्रव का पान प्रचुर मात्रा मे अपेक्षित है। कारण इसके अभाव मे भय रहता है कि कही यह मूत्रप्रणालियों मे अवरोध न उत्पन्न कर दें। इसके प्रयोग का विस्तृत वर्णन अधोनिर्दिष्ट कोष्टक मे देखे। इसके विधिपूर्वक प्रयोग न होने पर उत्क्लेश, मन साद, त्वचा पर चकत्तो का निकलना, तथा ज्वरवृद्धि आदि उपद्रव सभव है। अत इसका प्रयोग एक सप्ताह से अधिक नही करना चाहिये। आवश्यकता पडने पर एक सप्ताह के बाद कुछ काल के लिये औषध बन्द कर देना श्रेयस्कर है।

नाम औषध	मात्रायें तथा देने की विधि (ग्रामों मे)	रोग
सल्फा डायेजीन सल्फा थायोजोल	युवा के लिए— २–२–१–चार घण्टे पर प्रथम ३६ घण्टों में	श्वसनक ज्वर (Pneumonia)
"	७ वर्ष के लिये— १–$\frac{3}{4}$–चार घण्टे पर प्रथम ३६ घण्टों में	"
"	३ वर्ष के लिये— $\frac{3}{4}$–$\frac{3}{8}$—चार घण्टे पर प्रथम ३६ घण्टों में	"
"	६ मास से २ वर्ष के लिये— $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$—चार घण्टे पर प्रथम ३६ घण्टों में	"
"	१ से ३ मास के लिये— $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{8}$—चार घण्टे पर प्रथम ३६ घण्टों में	"
सल्फा डायेजीन सल्फा थायजोल	पूर्ण मात्रा—प्रथम २४ घण्टे में—२-२ घण्टे पर—१-१-१-१ पुनः ६ घण्टे पर—१-१-१-१।	सूतिका ज्वर (Puerperal fever and Haemolytic streptococcal Infections)
"	द्वितीय दिवस—२४ तक— १–चार-चार घण्टे पर	"
"	**मध्यम मात्रा** $\frac{3}{4}$–१, चार चार घण्टे पर प्रथम २४ घण्टे तक। जब तक ताप प्रकृत हो जाय	"

पेनिसिलिन

यह जीवाणुहर रसायन औषधो मे (Antibiotic and chemotherapeutic) एक प्रमुख औषध है जिसकी निष्पत्ति किण्वो (Moulds) मे होती है। इसने आज चिकित्सा ससार मे एक महान क्रान्ति उत्पन्न कर दिया है। इस औषध का जीवाणुहर तथा जीवाणुओ के लिए अननुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना, ये उभयविध प्रभाव अनेक जीवाणुओ पर होता है जो नीचे के कोष्ठक से ज्ञात हो जायगा। रोगियो पर इसकी अनपेक्षित प्रतिक्रिया भी होती है। अतः इसका व्यवहार सावधानीपूर्वक करना चाहिये। इसका व्यवहार प्राय. सूचीवस्ति द्वारा होता है। अन्तस्त्वक् सूचीवस्ति, तथा अन्तर्मास सूचीवस्ति द्वारा इसका प्रयोग होता है।

आजकल इस जीवाणु वृद्धिह्रासक (Antibiotic drugs) वर्ग की औषधो का बोलबाला है। इस वर्ग की औषधे स्वय कीटाणु या जीवाणु उद्रेचक होने के साथ-साथ अन्य कीटाणुओ के उद्गम पर प्रभावशील होकर उनकी वृद्धि का ह्रास कर उनके नाशक होते है। इनका निवास स्थल फफूदी, भूमि की काई, कुकुरमुत्ता इत्यादि है। इनके विशिष्ट कीटाणु उद्रेचन द्रव्य को पृथक् करके इन औषधो का विश्लेषण किया गया है और उद्रेचित द्रव्य की रसायनिक जाँच के आधार पर उनके रसायनिक सगठन का पता लगाया गया है। इस प्रकार प्रकृति की देन इन औषधियो का विज्ञान ने सर्वप्रथम रसायनिक सगठन का पता लगाया और पुन उनके शुद्ध स्वरूप का औषध रूप मे निर्माण कर चिकित्सा जगत् को वरदान के रूप मे प्रदान किया।

प्राचीन काल से ही ऐसी धारणाओ का सकेत प्राप्त होता है कि एक कीटाणु दूसरे कीटाणु का नाश करने मे समर्थ होता है तथा ऐसे कीटाणुओ की उत्पत्ति फंफूदे, भूमि की काई तथा सडे गले पदार्थो से होती है। आसव-अरिष्टो के निर्माण मे सन्धानजन्य तथा सन्धानोत्पादक 'किण्व' (Yeast) का ज्ञान इसका प्रबल समर्थक है। आधुनिक काल मे पाश्चर साहब ने यह धारणा संसार के समक्ष उपस्थित की थी। परन्तु वे इस कार्य मे उतनी सफलता अथवा प्रसिद्धि नही प्राप्त कर सके। सन् १९२८ मे सर्वप्रथम फ्लेमिग साहब ने पेनिसिलिन (Penicillin) का निर्माण कर चिकित्सा जगत् मे प्रसिद्धि प्राप्त की। तदनन्तर इस क्षेत्र मे कार्य करने वाले अनेक वैज्ञानिको ने अन्य विविध औषधो का (इस वर्ग के) निर्माण किया जो सम्प्रति चिकित्सा का प्रधान साधन बन रहा है।

यह पेनिसिलिन नोटेटम जीवाणु अनुकूल दशा मे पोषित किए जाने पर पैदा होती है। इस के दो प्रधान योग पाये जाते है जैसे—(१) कैलसियम और

(२) सोडियम । इस द्रव्य के अनावश्यक अशुद्धांश को निकाल कर इसे स्थाई और शुद्ध रूप में लाया जाता है जिसमें निम्नलिखित औषधियों का निर्माण होता है।

(१) पेनिसिलिन क्रीम—प्रति १ ग्राम क्रीम में ५०० युनिट पेनिसिलिन होती है।

(२) आकुलैण्टम पेनिसिलिन—इसमें पेनिसिलिन के कैलसियम योग का प्रति ग्राम १००० युनिट होता है।

(३) ट्राकिसकस पेनिसिलिन—प्रति ग्राम ५०० युनिट पेनिसिलिन होता है।

(४) अग्वटम पेनिसिलिन—प्रतिग्राम ५०० युनिट पेनिसिलिन होता है।

(५) इन्जेक्शियो पेनिसिलिन—(अ) १ ग्राम क्रिस्टेलीन पेनिसिलिन जी० की १,५००,००० युनिट शक्ति होती है। पेनिसिलिन का यह योग सर्वाधिक स्थायी है। स्थायी रूप देने के लिए इसके दो योग बनाये जाते हैं :—

(१) सोडियम पेनिसिलिन जी क्रीस्टेलाइन।

(२) पोटासियम ,, ,,

ये दोनों योग जल में विशेषकर विलयनशील हैं और समघोल बनाते हैं। इनका सूचीवस्ति रक्त में शीघ्र ही अधिक प्रतिशत स्थापित करता है जो सूचीवस्ति की मात्रा के अनुसार होता है। परन्तु इनका प्रभाव अधिक से अधिक ७ घण्टे तक ही रहता है अर्थात् रक्त में इनका प्रतिशत आधिक्य प्रतिघण्टा घटता जाता है। अत अपेक्षित लाभ के लिये इनकी सूचीवस्ति अनेक बार देने की आवश्यकता होती है।

(ब) प्रोकेन पेनिसिलिन जी क्रिस्टलाइन—यह पेनेसिलिन का वह योग है जिसमें समभाग में प्रोकेन रहता है। यह जल में घुलनशील नहीं है और विलम्ब से शोषित होता है। अत. यह अधिक काल तक शरीर में ठहरता है और विशेष लाभप्रद होता है। यह तैल में घुलनशील होता है, और इसका पृथक् ही योग बना आता है जो तैल में एल्युमिनियम मोनोस्टीरेट का मिश्रण कर बनाया जाता है। इसका सक्रिय काल ९६ घन्टे तक होता है।

(स) प्रोकेन पेनिसिलिन जी क्रिस्टेलिन का एक योग जल में घुलनशील भी आता है जिसका जल में मिश्रण कर प्रयोग होता है, इसकी तीन लाख युनिट की मात्रा २४ घन्टे तक लाभप्रद रहती है।

डाईक्रिस्टेसीन—यह पेनिसिलिन जी क्रिस्टेलाइन (प्रोकेन) ३ लाख युनिट, पोटासियम पेनिसिलिन जी १ लाख युनिट, डाईहाइड्रो स्ट्रेप्टोमायसिन ०.५ ग्राम का मिश्रित योग है। अत इस से पेनिसिलिन व स्ट्रेप्टोमायसीन दोनों का संयुक्त लाभ होता है।

इसके गुण-धर्म—यह औषध शरीर मे कीटाणुओ के लिये अननुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर, उनकी वृद्धि को रोककर तथा अन्य प्रतिपरिस्थिति उत्पन्न कर कीटाणुओ के सहार मे सहायक होता है। इसकी यह क्रिया इसके रक्त मे प्राप्त प्रतिशत की अल्पता तथा अधिकता पर निर्भर है।

नाम औषध	रोग जिस पर इनका प्रभाव होता है	मात्रा
पेनिसिलिन के योग	श्वसनक ज्वर, सन्धिवात, पूयोरस, हृदयावरण प्रदाह, उदरकला प्रदाह, फुफ्फुस-प्रदाह, फुफ्फुसकला प्रदाह, ग्राम पौजिटिभ कीटाणुओं का सक्रमण, एन्थरैक्स के सक्रमण, न्यूमोकोकस स्टेफायलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस के सक्रमण, पूयमेह, रोहिणी, प्रभृति रोग, मूषिकदशज ज्वर, मस्तिष्कावरण प्रदाह।	इसकी मात्रा रोग की अवस्था तथा बल पर निर्भर करती है। १५०००, यूनिट से लेकर १,००,००० यूनिट तक एक बार में दी जाती है। रोग बल के अनुसार इसकी मात्रा ४,००,००० यूनिट तक दी जा सकती है।

पेनिसिलिन के गुण, कर्म का विस्तृत विवरण तथा प्रयोग विधि इसके आकर ग्रन्थ मे देखे।

क्लोरोमायसेटीन
(Chloromycetin)

इस औषध की निष्पत्ति मूलत: स्ट्रेप्टोमाइसेज बेनेजुले नाम के द्रव्य मे हुई थी। परन्तु उसे कृत्रिम (Synthetic) रूप मे निर्माण किया जा रहा है। इस औषध का मुख्य प्रभाव आन्त्रिक ज्वरो पर पाया गया है। इसका कार्य सर्व प्रकार के टाइफस तथा वाइरस् (Typhus and virus) न्युमोनियो मे होना है। यह भी ऐन्टीबायोटिक वर्ग की प्रसिद्ध औषधियों मे एक है। इसका प्रयोग मुख द्वारा होता है। इसके कैप्सुल बने आते है। इसकी मात्रा का निर्धारण रोगी तथा रोग की अवस्था पर निर्भर करता है।

मात्रा तथा प्रयोग विधि—इसकी मात्रा रोगबल तथा रोगीबल के अनुसार चिकित्सक को निर्धारण करना चाहिये। इस औषध का परिशोषण या आचूषण आमाशय से ही हो जाता है और इसका निःसरण भी शीघ्र हो जाता

है। अनेक ग्राम निगेटिभ तथा ग्राम पोजिटिभ जीवाणुओ पर इसके उच्च विलयन का प्रभाव होता है। लगभग १० प्रतिशत अपरिवर्तित रूप मे ही मूत्र द्वारा नि सृत हो जाता है। शेष निष्क्रिय हो शरीर मे विविध रूप मे निष्कासित होता है। २ ग्राम की मात्रा रक्त मे २० माइक्रोग्राम प्रति मिल० तक की सचिति (Concentration) ८ घटे तक उत्पन्न करती है। आन्त्रिक ज्वर से पीडित रोगी को ० २ ग्राम की मात्रा मे चार-चार घन्टे पर देने से जब १ ग्राम दिन भर मे दिया जाय तो प्रति मिल० लगभग ५ माइक्रोग्राम की संचिति रक्त मे हो जाती है। इस प्रकार ३ से ५ दिन तक इसके प्रयोग से ज्वर प्राय शान्त हो जाता है। यह कैप्सुल मे बना आता है और मुख द्वारा ही इसका प्रयोग होता है। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid & Paratyhoid) की यह विशिष्ट औषधि है।

इसकी मात्रा का अनुपात शरीर भार पर होता है। ५० मिलीग्राम प्रति कीलोग्राम शरीर भार के अनुपात मे इसकी मात्रा का निर्धारण किया जाता है। औसत् रूप मे ० २५ ग्राम प्रति दो घन्टे पर जब तक ज्वर न उतर जाय दिया जाता है। ३६ से ७२ घन्टे मे प्राय ज्वर उतर जाता है। कभी-कभी इस के प्रयोग मे छर्दि आदि व्यापद भी होते हैं। उक्त मात्रा मे ३ से ४ कैप्सुल तक का व्यवहार निरापद रहता है। यह अन्य ज्वरो मे भी जो विषाणु से उत्पन्न होते हैं लाभप्रद पाया गया है।

स्ट्रेप्टोमायसीन
(Streptomycin)

यह भी ऐन्टीबायोटिक वर्ग की एक प्रमुख औषधि है जो ऐक्टीनोमायमीस ग्रीसीयेस नामक जीवाणु की भूमि से प्राप्त हुई है और जिसका प्रभाव पेनिसिलिन से भिन्न है अर्थात् ग्रामनिगेटिभ जीवाणुओ पर ही नही अपितु राजयक्ष्मा के जीवाणुओ पर (tuberculer bacillus) भी है।

मात्रा तथा प्रयोग विधि—रोग तथा रोगीबल के अनुसार चिकित्सक को इसकी मात्रा का निर्धारण करना श्रेयस्कर है। इसकी औसत मात्रा युवा पुरुषो के लिये ६ लाख से १२ लाख युनिट तक है। पर रोगबल के अनुसार अधिक भी सम्भव है। इसका शरीर मे निष्कासन शनै शनै होता है अत. १२ घन्टे के अन्तर से इसकी अन्तर्मांस सूचीवस्ति प्राय दी जाती है। अन्त शिरा सूचीवस्ति का कोई विशेष लाभ नही होता। जब कभी इस औषध की क्रिया किसी विशेष आन्त्रस्थल पर अपेक्षित होती है तो इसका मुख द्वारा भी प्रयोग किया जाता है। 'मस्तिष्क प्रदाह' मे जब अधिक सचिति मस्तिष्क सौषुम्निक तरल मे अपेक्षित

होती है तब इस का अन्त' कञ्चुकी सूचीवस्ति (Intrathecal) देनी पड़ती है। १५,००० से ६०,००० युनिट तक इसकी मात्रा ५ या १० मिल० सलाइन द्रव मे देना निरापद रहता है।

इसका शोषण आमाशयिक प्रदेश मे नही होता। परन्तु इस प्रदेश मे यह क्रिया हीन भी नही होता। अत. स्थानीय जीवाणुओ पर इसका कार्य होता है। इसका प्रयोग प्राय अन्तर्मांस सूचीवस्ति के रूप मे ही होता है। इसका उपयोग यक्ष्मा के रोगियो पर पर्याप्त सफल पाया गया है।

फेनेसेटीन (Phenacetinum)

यह ज्वर सताप को कम करनेवाली ओषधियो मे एक है।[1] इसके प्रयोग से शरीर की विविध पीडाये भी शान्त होती है। इसकी टेबलेट ५ तथा १० ग्रेन की बनी बनाई प्राप्त होती है। इसकी मात्रा भी ५ से १० ग्रेन तक है। इसका प्रभाव शीघ्र ही तापकेन्द्र पर होता है जिस से औषध सेवन के दो घन्टे बाद से ही शरीर का ताप घटने लगता है और अङ्ग पीडा भी दूर हो जाती है। इसके सेवन से यथेष्ट स्वेदन भी होता है और पसीना निकल कर ज्वर का ताप उतरता है। यह त्वगीय रक्त केशिकाओ का प्रसारण करता है। उष्णता सतुलन क्रिया पर इसका प्रभाव पडने से रोगी को पहले उष्णता की अनुभूति होती है और मुखमण्डल कुछ लाल-सा हो जाता है। पुन स्वेदन होकर शीतलता आती है और ज्वर सताप कम होता है। इसके अन्य अनेक योग भी बने बनाए प्राप्त होते हैं जैसे—(१) टेबलेट एसिडाइ एसिटिल सैलीसिलिसी एट फिनेसिटीनाई—इसमे एस्पिरिन ३½ ग्रेन और फेनेसेटीन २½ ग्रेन होता है। इत्यादि। इसका प्रयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिये क्योकि इसका प्रभाव हृदय पर पड़ता है अर्थात् हृदय पेशी की शक्ति का ह्रास कर यह हृदस्पन्दन को मन्द करता है। इसकी अधिक मात्रा तथा अधिक काल तक इसका प्रयोग नही करना चाहिए।

एस्पिरिन (Aspirin)

ज्वर के सताप तथा गात्रपीडा को शीघ्र कम करनेवाली यह दूसरी औषध है। यह सेलिसिलिक एसिड का योग है। इसका रसायनिक नाम "एसिडम एसि-टिल सैलीसिलिकम्" है। इसकी मात्रा ५ से १५ ग्रेन तक है। इसके भी टेबलेट एकाकी रूप मे तथा अन्य औषधो के योग से बनी बनाई प्राप्त होते है। यह आँतो मे पहुँच कर सैलिसिलिक एसीड मे परिवर्तित हो जाता है। इसका शोषण

1 An antipyretic and antineuralgic compound obtained from carbolic acid (Gould's pocket Dictionary)

सोडियम एमिटिल सैलीसीलेट के रूप मे होता है। इसके अनुचित उपयोग से अपचन, जलन, शूल तथा आमाशय से रक्तपात के उपद्रव भी देखे गए है। अत. इसका प्रयोग भी सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

यह परम शक्तिशाली ज्वरशामक तथा पीडानाशक ओषधि है। इसका प्रभाव तापकेन्द्र पर होता है तथा यह त्वचा केशिकाओ का प्रसार कर तथा स्वेद केन्द्रो को उत्तेजित कर स्वेदल क्रिया द्वारा ताप को कम करती है। इसका अधिक मात्रा मे प्रयोग हृदय की गति को मन्द तथा कमजोर करती है। यह सोडियम सैलिसीलेट की अपेक्षा डेढगुणी विषकर है। इस के उपयोग मे सन्धिवात, आमवात, तथा शिर शूल की पीडाये शान्त होती है। दण्डक ज्वर मे इसके प्रयोग से अङ्गपीडा तथा ज्वर सताप शान्त होता है। हृदय पर इसके अनपेक्षित क्रिया से बचने के लिए कैफीन के साथ इसका प्रयोग करते हैं। वातशूल, कटिशूल, गृध्रसी शूल आदि मे इसके प्रयोग से लाभ होता है।

नोभालजिन (Novalgin)

वेदनहर ओषधो मे आज कल यह सर्वाधिक जनप्रिय औषध है। इसका प्रयोग सब प्रकार की वात पीडाओ (Analgesic, Neuritis) को शान्त करने के लिए होता है। यह ज्वरहर (Antipyretic) शोथहर (Antiphlogistic) तथा आकुञ्चनहर (Antispasmodic) है। आमवात की पीड़ाओ का शान्त करने के लिये भी इसका प्रयोग होता है (Antirheumatic) इसकी 0 5 g की टेबलेट बन कर आती है। इसका प्रयोग मुख द्वारा तथा सूचीवस्ति द्वारा होता है। इसके एतदर्थ ऐम्पुल बने आते है।

कोडोपायरीन

यह ऐस्पिरिन, फेनेसिटीन तथा कोडीन का योग है। इसके टेबलेट बने बनाये आते हैं। एक टेबलेट म ऐस्पिरिन–0 26 gm , फेनेसिटीन 0 26 gm तथा कोडीन फॉस्फेट 0 01 gm होता है। मात्रा १ से २ टेबलेट तक है।

इसका उपयोग—ज्वर (Influenza) मे एक टेबलेट प्रति ३ घन्टे पर (युवको) को दिया जाता है। बच्चो को ३ से ५ वर्ष तक) टेबलेट और उससे अधिक वय वालो को ½ टेबलेट देना चाहिये। यह हर प्रकार के पीडा मे जैसे शिर शूल, स्नायुशूल, दन्तशूल, कष्टरज, वातपीडा, दण्डक ज्वर आदि मे अच्छा लाभ करती है। अनिद्रा में भी यह अच्छा लाभ करती है। प्रतिश्याय जन्य ज्वर में भी इसका सफल प्रयोग होता है। इससे ज्वर सताप शीघ्र न्यून हो जाता है।

क्विनीन (Quinine)

यह सिनकोना नामक वृक्ष के छाल का क्षार या सत्व है। इसके अनेक योग बाजार मे उपलब्ध होते है। जैसे—(१) क्विनीन सल्फेट, (२) क्विनीन बाई सल्फेट, (३) क्विनीन हाइड्रोक्लोराइड, (४) क्विनीन डाइहायड्रोक्लोराइड, इत्यादि। यह मौखिक (मुख द्वारा) तथा सूचीवस्ति द्वारा, दोनों प्रकार से व्यवहृत होता है। यह मलेरिया की परमोत्कृष्ट औषध है। इस की मात्रा ५ से १० ग्रेन तक है। सूचीवस्ति के लिये इस के पृथक् ऐम्पुल बने आते हैं। इसे अन्तर्मांस सूचीवस्ति के रूप मे देते है।

गुणधर्म—यह तिक्तरस प्रधान औषध (मृदु क्षार) है। ज्वर ह्रासक तथा ज्वर को रोकने वाला, ये दोनों गुण है। इसके घोल का प्रभाव आन्त्र तथा आमाशय पर थोडा दाहोत्पादक होता है। ज्वर आने के पूर्व (विषम ज्वरो या शीत ज्वरो मे विशेष रूप से मलेरिया मे) इसकी अपेक्षित मात्रा देने से ज्वर रुक जाता है।

यह तिक्त द्रव्य अम्ल घोल मे अधिक काल तक प्रभावशाली होता है। यह अम्ल (Acid) मे घुलनशील है। अत इसका मिश्रण (Acid sulph dil) एसिड सल्फ डिल मे ही बनाते है। गर्भवती स्त्री को इसका प्रयोग नही करना चाहिये। क्योकि इसके प्रयोग से गर्भस्राव हो जाने का भय रहता है। यह गर्भाशय सकोचक है।

क्विनीन मलेरिया के कीटाणुओ का नाश करता है तथा तज्जन्य उत्पन्न विष को उदासीन कर ज्वर का अवरोधक तथा ज्वर सताप का ह्रासक होता है। अत इसका प्रयोग ज्वर आने के कम से कम ३ घन्टे पूर्व करने का प्रयत्न करना चाहिए। १० ग्रेन की मात्रा (युवा या युवती के लिये) जो प्रत्येक दो घन्टे पर दी जाती है, रक्त मे पहुँच कर आवश्यक प्रतिशत को प्राप्त हो और तरुण मीरोजायट्स (Merozoites) जो प्लाज्मा मे उपस्थित होते है, रक्त के लाल कणो मे घुसने के पहले ही प्रभावित हो जाते है जिससे वे अकर्मण्य हो जाते हैं तथा उनका नाश हो जाता है और परिणामस्वरूप ज्वर रुक जाता है। यदि ज्वर आने और उतरने का अन्तर न्यून हो तो ज्वर उतरने के काल अर्थात् संताप न्यून होने के काल मे ही इसका सेवन प्रारम्भ कर देना श्रेयस्कर है। इसकी ज्वरागम के पूर्व तक २०–२५ ग्रेन की मात्रा पहुँचा देनी चाहिये।

इस औषध के सेवन के पूर्व कोष्ठशुद्धि कर लेना श्रेयस्कर है। इसके लिये सल्फाइन या केलोमेल उत्तम विरेचक है। क्विनीन का प्रयोग मलेरिया के निदान होने पर ही करना उचित है। ज्वर की तीव्रता के अनुसार इसकी अधिक

मात्रा भी दी जा सकती है। डाक्टर घोष ने निर्देश किया है कि ज्वर उतरने के समय १० ग्रेन क्विनीन और २½ ग्रेन ऐस्पिरिन एक कैप्सुल मे भर कर रोगी को दे देनी चाहिये। इसके ३ घन्टे बाद ७॥ ग्रेन क्विनीन २½ ग्रेन एस्पिरिन पुन कैप्सुल मे भरकर दूसरी मात्रा देनी चाहिए। इस प्रकार ३ घन्टे के बाद तीसरी मात्रा देवे।

इस क्रम से देने पर दूसरे दिन प्राय ज्वर नही आता। ज्वर आने पर भी इस क्रम से पुन क्विनीन का सेवन ३–४ दिन तक करना चाहिए। एस्पिरिन क्विनीन की सक्रियता को वढा देती है, ज्वर को उतारती है तथा पित्तरस का स्राव कराती है। ४–६ घन्टे मे २०–३० ग्रेन क्विनीन का सेवन रक्त को पर्याप्त प्रतिशत कीनीन प्रदान करता है।

सिन्टन के मतानुसार प्रथम दिवस रोगी को ३ ग्रेन केलोमेल (रसपुष्प) और १ औंस मैगसल्फ कोष्ठ शुद्धि के लिए देना चाहिये। दूसरे दिन क्षार घोल (Alkaline mixture) की तीन मात्राये (सोडा वाइकार्व ६० ग्रेन, सोडियम साइट्रेट ४० ग्रेन, १ औंस जल मे मिलाकर प्रति ३ घन्टे वाद) देना चाहिए। प्रत्येक क्षार घोल की मात्रा के पश्चात् (१।२ घन्टे वाद) १० ग्रेन क्विनीन २० ग्रेन साइट्रिकएसिड और ६० ग्रेन मैगसल्फ को १ औंस जल मे घोल कर देना चाहिए। इस क्षार और क्विनीन घोल की ३–३ मात्राओ का सेवन आवश्यकतानुसार ६ दिन तक कराया जा सकता है। क्षार क्विनीन की सक्रियता वढा देती है और शारीर रक्त की अम्लता को घटाती है। यह चिकित्सा विधि केवल क्विनीन सेवन कराने की अपेक्षा अधिक लाभप्रद एव निरापद है। यह मात्रा एक युवक तथा युवती के लिये है। वच्चो की मात्रा वय के अनुसार न्यून हो जायगी। इसकी तिक्तता को दूर करने के लिए तथा स्वादु वनाने एव अनपेक्षित प्रतिक्रिया को रोकने के लिए इसके अन्य अनेक योग वनाते है।

उदाहरण स्वरूप—

(१) क्विनीन हाइड्रोक्लोर ७½ ग्रेन
एसिड साइट्रिक—१५ ग्रेन
सीरप लेमन—३० बुन्द
एक्वा क्लोरोफार्म—१ औंस
इसकी एक मात्रा

(२) सोडा वाइकार्व—२८ ग्रेन
सोडा साइट्रस—२० ग्रेन
जल—१।२ औंस

उपर्युक्त १ और २ के मिश्रण को एक साथ मिलाने पर झागोत्पत्ति होगी। इस झाग के बैठने के पूर्व ही इसको पी लेने से कडवापन नहीं प्रतीत होता।

सम्प्रति क्विनीन के सूचीवस्ति का प्रयोग अधिक होता है। प्रायः इसकी अन्तर्मांस सूचीवस्ति (Intramuscular injection) ही दी जाती है। परन्तु कभी-कभी शीघ्र लाभ के लिये तथा मस्तिष्कगत मलेरिया (Cerebral malaria) में सिरागत सूचीवस्ति (Intravenous injection) की भी आवश्यकता होती है। एतदर्थ क्विनीन की बनी बनायी एम्पुल आती है।

क्विनीडीनी सल्फास

मात्रा—१–५ ग्रेन। यह भी एक उत्तम क्विनीन का योग है जो मलेरिया में लाभप्रद होता है। यह विशेष कर ऐसे रोगी के लिये प्रशस्त है जिसको हृदय विस्तृति तथा हृदय के कपाट सम्बन्धी रोग भी होता है।

मेपाक्रीन

इसकी मात्रा ज्वर को रोकने के लिए १½ ग्रेन है तथा ज्वर नाश के लिये ३–८ ग्रेन तक है। इसके टेबलेट बने हुए आते हैं जैसे—टेबलेट मैपाक्रीन हाईड्रोक्लोराइड—१½ ग्रेन की, ३–८ ग्रेन की। इसका एक और योग है जिसे एटेब्रीन मुसोनेट (मैपाक्रीन मिथैनो सल्फास) कहते हैं। इसकी मात्रा १॥ से ५ ग्रेन है। मांसान्तर्गत सूचीवस्ति के लिये भी इसका एम्पुल बना आता है।

गुण-धर्म—यह अतिशीघ्र शोषित होती है। प्राय प्रयोग के १५–३० मिनट के बाद ही रोगी के मूत्र में प्राप्त होती है। ५ ग्रेन की एक मात्रा के सेवन के बाद २४ घन्टे में इसकी प्रभूत मात्रा मूत्र में प्राप्त होती है। यह असैथुनी (Asexual) रूप के सब प्रकार के मलेरिया कीटाणुओं का तीव्र नाशक है। केवल मैलिग्नेन्ट टर्शियन के गैमेन्ट इससे अप्रभावित रहते हैं। इस औषधि का प्रभाव क्विनीन जैसा है। सलाइन विरेचन के बाद प्रतिदिन भोजन के बाद दिन में ३ बार मैपाक्रीन १½ ग्रेन की मात्रा में दी जाती है।

इसका सेवन ५ दिनों तक कराना चाहिये। इसका प्रयोग ऐसे रोगियों में प्रशस्त है जिन्हें क्विनीन नहीं सह्य है। गर्भिणी को भी इसका सेवन कराया जा सकता है। इसका प्रभाव आन्त्रगत जियारडिया क्रिमि पर भी है।

पैल्युड्रीन

यह एक संयोजिक द्रव्य (Synthetic Product) है। इसका प्रभाव मलेरिया के कीटाणुनाशक है। इसका मुख-द्वारा सेवन करने के ३ घन्टे पश्चात् इसका सर्वाधिक अंश रक्त को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण तथा

शीघ्र शोषित होनेवाली औषधि है। इसका शीघ्र शरीर से निष्क्रमण भी हो जाता है जिससे विष संचय के लक्षण प्राय इसमे नही प्राप्त होते हैं। कभी-कभी किसी व्यक्ति मे वमन तथा उदर पीडा के उपद्रव प्राप्त होते हैं। यह औषध भी क्विनीन तथा मैपाक्रीन की भाति बेनाइन टर्शियन (तृतीयक विषम ज्वर) ज्वर के अमैथुनी (Asexual) रूप के कीटाणु का नाश करती है। मैलिग्नेन्ट प्रकार के मलेरिया के सक्रमण मे इस औषध मे सर्वाधिक लाभ होता है। यह इस सक्रमण को निर्मूल करता है। इसका प्रतिषेधात्मक प्रभाव भी है।

मात्रा—इसकी ० १ ग्राम की वटी आती है। एक वटी प्रतिदिन सेवन कुछ दिनो तक लगातार करना चाहिये। जब तक ज्वर मुक्त न हो जावे। इसका प्रयोग निरापद है और इस से ज्वर का पुनरावर्तन भी नही होता।

कैमोक्वीन (Camoquin)

यह क्वीनोलीन का ही एक आवान्तर योग है जो मलेरिया के जीवाणुओ का नाशक है। इसका प्रभाव विशेष रूप से उस काल मे होता है जब मलेरिया के जीवाणु रक्तकण मे प्रवेश करने के इच्छुक होते हैं। यह सरलतापूर्वक आमाशय से आशोषित हो जाता है और इसका शरीर मे नि सरण विलम्ब से होता है। मात्रा मे व्यवहार करने पर इसका कोई विष प्रभाव नही होता।

मात्रा—प्रतिषेधार्थ—० २ ग्राम (३ ग्रेन) सप्ताह मे एकबार अथवा ० ६ ग्राम (१० ग्रेन) प्रति दूसरे सप्ताह एक मात्रा। रोग-मुक्त्यर्थ—इसकी एक ही मात्रा ० ६ ग्राम की देनी चाहिये अथवा ० २ ग्राम दिन मे २ बार पहले दिन, पुन ० १ ग्राम २ बार दिन मे ३ दिनो तक लगातार। इस प्रकार इस की पूर्ण मात्रा १ ग्राम हो जाती है।

उपयोग—मलेरिया के सब प्रकारो मे इसका उपयोग होता है।

गुण-धर्म—स्पोरोज्वाइट्स तथा एक्सोएरीथ्रोसीटीक मे इसका कोई पभाव नही होता। अमैथुनी एरीथ्रोसीटिक प्रकार पर इसका प्रभाव होता है। गेमेटोसाइट मे क्विनीन के समान यह कार्य करता है।

यह सब प्रकार के मलेरिया के लिए निरापद औषध है। विष प्रभाव इसके प्रयोग मे प्राय नही देखा जाता।

प्रयोग विधि पहले निर्दिष्ट कर चुके है।

साल्भर्सन (Salvarsan)

यह एक सोमल (Arsenic) लोबान का योग है। इसका इषत् पीत वर्ण का चूर्ण प्राप्त होता है। यह जल, सुरा तथा ग्लीसरीन मे विलेय (घुलनशील)

है। इस मे ३० प्रतिशत सोमल का अंश होता है। इसका प्रयोग अन्त.शिरा सूचीवस्ति (Intravenous injection) के रूप मे होता है। इसकी मात्रा ०३ ग्राम (लगभग ५ ग्रेन) है।

गुण धर्म—अर्लिच (Ehrlich) ने इस योग का आविष्कार फिरग रोग की विशिष्ट औषधि के रूप मे किया था। इसका गुण फिरग के कीटाणु का नाश करना है। यद्यपि इसका प्रभाव प्रधानत 'स्पाइरोकेटल जीवाणु' के सक्रमण पर विशिष्ट रूप से देखा गया है तथापि यह पुनरावर्तक ज्वर तथा मूशिकदंशज ज्वर को भी नष्ट करता है। इस औषधि का लाभ शीघ्र ही देखा गया है। एक इन्जेक्शन मे ही 'स्पायरोकीट' नष्ट हो जाते है। अन्य पराश्रयी जीवाणुओं पर भी इसका प्रभाव होता है। तीन इन्जेक्शन के बाद (Positive) वासरमैन प्रतिक्रिया प्राय नास्त्यात्मक (Negative) हो जाती है। इसका प्रयोग अधिक काल तक नही करना चाहिये। रक्त परीक्षण से जब वासरमैन प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक हो जाय तो इसे बन्द कर अन्य पारद के तथा चपल के योग का व्यवहार करना चाहिए। मूशिकदंशज ज्वर मे भी इसका प्रयोग सफलता मे होता है।

प्रयोग—इस औषध को परिस्रुत जल मे घुला लेते है और पश्चात् सूचीवस्ति द्वारा शिरा मे सूचीवस्ति करते है।

नियोसालभर्सन (Neosalvarsan)

इसको नियो-आर्सफेनामीन (Neoarsphenamin) भी कहते है। यह भी एक सोमल का योग है जो फिरग रोग की विशिष्ट औषध है। इसका वर्ण पीला होता है तथा चूर्ण के रूप मे पाया जाता है। यह जल मे विलेय है।

मात्रा—२½ से १० ग्रेन या ०१५ से ०६ ग्राम। इसका भी उपयोग अन्त शिरा सूचीवस्ति द्वारा (Intravenous injection) होता है।

गुण-धर्म—सालभर्सन (Salvarsan) के समान।

उपयोग—फिरंग रोग, पुनरावर्तक ज्वर, मूशिकदंशज ज्वर प्रभृति।

सोलगानोल (Solganol)

यह स्वर्ण का योग है। इसमे स्वर्ण की मात्रा ३६५ प्रतिशत होती है। इसका प्रयोग अन्त शिरा सूचीवस्ति (Intravenous) द्वारा होता है।

मात्रा—०००५ से ०५ ग्राम तक।

गुण-धर्म—यह राजयक्ष्मा (Tuberculosis) की विशिष्ट औषधि है। सप्ताह मे इसका दो बार प्रयोग करना चाहिये। इसकी मात्रा सावधानीपूर्वक बढावे।

इस का एक योग और आता है जिसका प्रयोग अन्तर्मांस सूचीवस्ति (Intramuscular) द्वारा भी होता है। इनका नाम है 'सोलगानोल वी ओलीयोसम', मात्रा ५ मिलिग्राम ($\frac{1}{12}$ ग्रेन) से शनैः शनैः बढा कर १०० मिलिग्राम (१$\frac{1}{2}$ ग्रेन) तक देते हैं।

एफेड्रीन (Ephedrin)

यह सोम (Ephedra) जाति की वनस्पति का सत्व या क्षार है। यह कृत्रिम (Synthetic) रूप से भी निर्मित होती है। यह सत्व एफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड के रूप मे निर्मित की जाती है। मात्रा—$\frac{1}{2}$ से १ ग्रेन या १६ से ६० मिलीग्राम। इसकी टेबलेट बनी बनाई आती है। इसका प्रयोग मुख द्वारा तथा सूचीवस्ति (Injection) द्वारा, दोनो प्रकार से होता है। इसका एस्पकी तथा मिश्रित योग प्राप्त होता है।

इसका शोषण श्लेष्मकलाओं से होने लगता है। अत इसकी सूचीवस्ति प्राय अन्तस्त्वगीय (Subcutaneous) ही दी जाती है। एड्रेनेलीन की अपेक्षा इसका शोषण विलम्ब से होता है परन्तु इसका प्रभाव अधिक काल तक रहता है।

गुण-धर्म—यह हृदय की गति तथा रक्तभार को बढाता है। यह वृद्धि अधिक स्थायी होती है। अधिक मात्रा मे यह हृदय स्तभक होता है। परन्तु हृदय पेशी पर इसका स्तभक प्रभाव हृद्गति वृद्धि के कारण पता नही चलता। यह श्वास केन्द्र का उत्तेजक तथा श्वास प्रणालियो का सकोच नाशक है। श्वास प्रणालियो को प्रसारित कर यह उनके सकोच का नाश करता है। इसका प्रयोग श्वास कष्ट के वेग को शान्त करने के लिए होता है। यह अनूर्जता को भी दूर करता है अत. इसका प्रयोग शीत पित्त आदि मे भी होता है। नासाकला का सकोच करने के कारण इसका प्रयोग नाना ज्वर (Hey fever) मे भी होता है। बच्चो के लिए जो, शय्या पर ही मूत्र त्याग कर देते हैं यह बडी उपयोगी औषध है।

बेनेड्रील (Benadryl)

अनूर्जता से उत्पन्न होनेवाले विकारो के लिये यह एक प्रसिद्ध औषधि है। इसमे तीन प्रमुख गुणधर्म होते है जैसे (१) यह हीस्टामीन के कारण उत्पन्न प्रणालीय श्वास को शान्त करता है तथा (२) हिप्टामीन के वाहिनीअवसादक (Vaso-depressor) प्रभाव को रोकता है और (३) श्लक्ष्ण मासपेशियो के आयाम को शान्त करता है। इसका प्रयोग मुख द्वारा तथा सूचीवस्ति द्वारा दोनो प्रकार से होता है।

मात्रा—५० से १०० मिलीग्राम (युवकों के लिये) (या $\frac{3}{4}$ से $1\frac{1}{2}$ ग्रेन)। यह मात्रा क्रमशः आवश्यकतानुसार बढ़ाई भी जाती है। इसकी चरम मात्रा ६०० मिलीग्राम तक प्रतिदिन दी जा सकती है। इसका उपयोग भोजनोत्तर करना तथा ४ घन्टे के अन्तर से करना श्रेयस्कर है। बच्चों के लिये इसकी पूर्ण मात्रा २ मिलीग्राम ($\frac{1}{30}$ ग्रेन) शरीर भार प्रति पौण्ड पर है।

उपयोग—अनूर्जता में उत्पन्न नासा ज्वर, शीतपित्त, श्वास,कास, प्रतिश्याय आदि में इसका व्यवहार होता है। इसका प्रयोग इन व्याधियों के प्रतिषेध के लिए भी होता है। इन के अनेक योग बाजार में प्राप्त होते हैं। यह पार्क डेभिस कम्पनी की पेटेन्ट औषधि है। बच्चों के लिये सीरप के रूप में तथा बड़ों के लिये इसको कैप्सुल में भर कर रखते हैं। इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिये। कभी-कभी इसकी प्रतिक्रिया भी होती है।

भैक्सीन तथा सीरम
(Vaccine and Serum)

रोगोत्पादक जीवाणुओं को बन्ध्या या निर्बीज बनाकर या उनका सत्व निकाल कर या अन्य कल्प बना कर भैक्सीन निर्माण किया जाता है। यह भैक्सीन एकाकी, दो या इन से अधिक जीवाणुओं का मिश्रण कर निर्मित किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न जीवाणुओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के भैक्सिनों का निर्माण किया जाता है। ये भैक्सिन देखने में भी घोल की घनता के अनुसार नानाविध होते हैं। सामान्यरूपेण सफेद, वर्णहीन तथा कुछ गदला या रञ्जित होते हैं। इनके ऊपर लेबुल इनकी मात्रा की तथा प्रतिशत घोल की लगी रहती है।

प्रधान रूपेण ये दो प्रकार के होते हैं जैसे—(१) प्रतिषेधात्मक व्यवहार के लिये (Prophylactic) और (२) रोगमुक्त्यात्मक (Curative)।

भैक्सीन की सूचीवस्ति देने पर यह शरीर में जाकर क्षमता (Immunity) उत्पन्न करता है इस शक्ति को बढाता है अथवा जीवाणुओं के प्रति प्रत्यनीक बल (Anti body) उत्पन्न करता है। अतः इसका प्रयोग रोगों के प्रतिषेधार्थ तथा रोग मुक्त्यर्थ उभय प्रयोजन के लिए (उपयुक्त मात्रा में) होता है। इस प्रकार सभी भैक्सीन एक प्रकार का निर्बीज किए हुए जीवाणुओं का घोल होता है जिसका उद्देश्य शरीर प्रतिबल प्रक्रिया (Protective mechanism) या क्षमता को अनुप्राणित करना तथा उत्पन्न करना होता है। ये भैक्सिन जिस जीवाणु के घोल होते हैं (Bacillary emulsion) उसके विरुद्ध या नाश का कार्य करते हैं।

सीरम—यह वह पदार्थ है जो किसी रोगोत्पादक जीवाणु को किसी पशु शरीर मे प्रवेश कराकर रोगोत्थान कराया जाता है और तव उसका रक्त निकाल कर उस रोग के नाश के लिये रक्त मे निर्माण किया जाता है। यह प्रायः जीवाणुनाशक होता है। परन्तु प्रतिविष शरीर मे उत्पन्न करने के लिये भी इसका निर्माण होता है। इस प्रकार (१) जीवाणुनाशक (Antibacterial) और (२) प्रतिविषोत्पादक (Antitoxic) दो प्रकार का सीरम तैयार किया जाता है। इसकी मात्रा तथा प्रयोग विधि आदि इस के लेबेल पर लिखा रहता है।

भैक्सिनम् टाइफो-पैराटाइफासम ए-एट वी-बी० पी०

टी० ए० वी० भैक्सीन

त्री० पी० मात्रा—प्रतिषेधात्मक—अन्तस्त्वक् सूचीवस्ति—(सुरा सम्पादित) ० २५ मिल० प्रथम मात्रा—७ से २८ दिन के वाद पुन दूसरी मात्रा ०·५ मिल०।

वी० पी० मात्रा—रोग मुक्त्यात्मक—० ५ मिल० प्रारम्भिक मात्रा (असुरा सम्पादित) द्वितीय मात्रा—७ से २८ दिन वाद—१ मिल०।

टी० ए० वी० सी० भैक्सीन

वी० पी० मात्रा—प्रतिषेधात्मक—अन्तस्त्वक् सूचीवस्ति (Subcutaneous) सुरा सम्पादित (Alcohol treated)प्रारम्भिक मात्रा—० २५ मिल०, द्वितीय मात्रा ७ से २८ दिनो वाद—०·५ मिल०।

असुरा सम्पादित भैक्सीन—प्रारम्भिक मात्रा ० ५ मिल०; द्वितीय मात्रा—७ से २८ दिनो वाद १ मिल०।

इनका उपयोग प्राय आन्त्रिक ज्वर के प्रतिषेधार्थ होता है। इसके प्रयोगानन्तर कुछ स्थानिक तथा शारीरिक प्रतिक्रियाये भी होती हैं जैसे—स्थानीय शोथ, असहिष्णुता, तथा ग्रन्थिवृद्धि एव ज्वर, तथा शिर शूल।

भैक्सिनम पेस्टीस या प्लेग भैक्सीन

यह प्लेग के जीवाणुओ से निर्मित होता है। यह भी प्लेग जीवाणुओ (निर्वीज किए हुए) का घोल (Sterile suspension) है। इसके १ मिल० मात्रा मे २००० मिलियन निर्वीज जीवाणु होते है।

मात्रा—वी० पी०—प्रतिषेधात्मक—प्रथम मात्रा ०·५ मिल० द्वितीय मात्रा ७ से २१ दिन के वाद १ मिल०।

उपयोग—इसका उपयोग प्लेगाक्रान्त प्रदेश के मनुष्यो को प्लेग से बचाने के लिए होता है। इसके प्रयोगानन्तर स्थानीय तथा शारीरिक प्रतिक्रियाये होती है जैसे—स्थानीय शोथ, असहिष्णुता, ज्वर, शिर शूल आदि।

वैक्सिनम फेबरीस फ्लावे बी० पी०

यह वैक्सीन पीतज्वर के लिये निर्मित होता है। इसका क्रीम वर्ण का (रक्ताभ पीत) शुष्क चूर्ण प्राप्त होता है जिसे परिस्रुत जल या लवण जल मे घोल कर सूचीवस्ति दी जाती है।

मात्रा (बी० पी०)—अन्तस्त्वक सूचीवस्ति—कम से कम ५०० एल० डी० ५० मात्राये।

उपयोग विधि—इसे निरापद बनाने के लिये १७ डी (17 D) स्ट्रेन का चुनाव किया गया है। इसके अन्दर आशयोत्तेजक (Vescerotropic) तथा वात नाडी उत्तेजक (Neurotropic) गुण होते है। अत सावधानीपूर्वक इसके प्रयोग के पूर्व इस गुण की वृद्धि का पता लगा लेना चाहिये। बीज विषाणु (Seed virus) मे किसी प्रकार के परिवर्तन होने पर इसका प्रयोग नही करना चाहिए। इसका प्रतिषेधात्मक प्रयोग पूर्णरूपेण सफल पाया गया है। इससे शरीर मे क्षमता १० वे दिन आती है और २-४ वर्ष तक बनी रहती है।

सीरम ऐन्टी एन्थ्रैसिकम् बी० पी० सी०

यह पशुओ के सीरम से पूर्वोक्त विधि से तैयार होता है। इसके अन्दर ऐसे प्रतिगामी जीवाणु (antibody) होते है जो विशेष रूप से एन्थ्रैक्स जीवाणु के प्रभाव को उदासीन कर देते हैं।

मात्रा—(बी० पी०) २० से ४० मिल०, अन्त शिरा सूचीवस्ति द्वारा इसका प्रयोग होता है।

उपयोग—इसका प्रयोग प्रतिषेध तथा रोगमुक्ति उभय प्रयोजनार्थ होता है। यह अपना प्रभाव किस प्रकार करता है अभीतक ज्ञात नही हुआ है। साधारण रूप मे इसका (Intravenous) प्रयोग ३० से ४० मिल० की मात्रा मे होता है। दिन मे आवश्यकतानुसार इसे कई बार देना पडता है।

ऐन्टीभाइरल सीरा

इस सीरम का निर्माण मानव शरीर से होता है। ऐसे पुरुष के रक्त से जिसके अन्दर प्रतिबल (antibody) उत्पन्न हुई होती है (जैसे मसूरिका रोमान्तिका आदि आक्रान्त प्रदेशस्थ मनुष्य के शरीर मे) सीरम लिया जाता है। इसके

प्रयोग से विषाणु के प्रति क्षमता उत्पन्न होती है। यह सीरम विष प्रतिरोधी नही है। सभवत इसकी क्रिया समाक्रान्त होनेवाले रक्ताणुओ को या देहाणुओ को ऐसा बना देती है कि विषाणु का कोई प्रभाव उस पर न हो सके। इसका प्रयोग अधोलिखित व्याधियो मे होता है।

रोमान्तिका (Measles), कर्णमूल शोथ या पाषाण गर्दभ (Mumps), बच्चो का रोमान्तिका (Rubbela) या जर्मन रोमान्तिका। इसकी मात्रा अवस्था (वय) के अनुसार निर्धारित की जाती है। अमेरीका मे मात्रा का निर्धारण शरीर भार के अनुसार होता है। इसकी प्रतिक्रिया प्राय, नगण्य होती है।

मात्रा—इसके प्राप्त होनेवाले लेबुल पर अकित होता है।

प्रतिषेधात्मक भैक्सिन (Vaccinum Vacciniae B. P)

यह मसूरिका आदि के लिम्फ से निर्मित होता है। लिम्फ मसूरिका के विस्फोट मे निकालते हैं। प्राय गोमसूरिका जो टीका लगा कर उत्पन्न की जाती है उसके विस्फोट से इसको एकत्र करते है। यह वर्ण रहित पिच्छिल द्रव होता है। इसमे मलिन सफेद वर्ण का पदार्थ तैरता रहता है। इसके बने बनाये ऐम्पुल आते हैं। इसका प्रयोग बृहत् मसूरिका के प्रतिषेधार्थ होता है। इसकी अन्तस्त्वक् सूचीवस्ति (Innoculations) एक विशेष प्रकार के बने शस्त्र द्वारा किया जाता है। इसके प्रयोग से शरीर मे बृहन्मसूरिका (Small pox) के प्रति क्षमता तथा प्रतिबल (Immunity) उत्पन्न हो जाता है। यह एक परमोत्कृष्ट प्रयोग है जो ससार मे इस बृहन्मसूरिका को प्रतिषेध करने मे पूर्ण रूप से सफल हुआ है। इसका प्रभाव ६ वर्ष तक रहता है।



शब्दानुक्रमणिका

(जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला १५)

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत

सचित्र-प्रारम्भिक रसशास्त्र

(Elementary Rasaśāstra)

लेखक—श्री सिद्धिनन्दन मिश्र

जी० ए० एम्० एस्० एच्० पी० ए०, साहित्याचार्य

यह ग्रन्थ "भारतीय चिकित्सा परिषद्" द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम के अनुसार प्रागायुर्वेद परीक्षा के लिए निर्धारित प्रारम्भिक रसशास्त्र पर लिखा गया है। इसमें महारस, रस, उपरस, धातु और रत्नोपरत्नों के साथ (mercury) का भी सम्यक् वर्णन किया गया है। इसमें प्रारम्भिक रसायन (organic and inorganic chemistry) का भी सामान्य रूप से परिचय दिया गया है। इस पुस्तक में रासायनिक परिवर्तन, संयोगवियोग द्रव्यों का भेद, धातूपधातु आदि का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। साथ ही भैषज्य कल्पना के लिए पञ्चविध कषाय, मान, तुलादिकों का भी सामान्य परिचय दिया गया है। एतद्विषयक यह अभिनव एवं प्रथम ग्रन्थ प्रारम्भिक रसशास्त्र के लिए छात्रों एवं अध्यापकों का उचित मार्गदर्शन करेगा। इस ग्रन्थ के लेखक रसशास्त्र के अधिकारी एवं अनुभवी विद्वान प्राध्यापक हैं। १६–००

सर्व प्रथम सम्पूर्ण प्रकाशित हो रहा है

कैयदेव निघण्टुः

(पथ्यापथ्य विबोधकः)

संपादक—**आचार्य प्रियव्रत शर्मा**

वैद्य कैयदेव पण्डित द्वारा रचित यह निघण्टु उत्तरमध्यकाल का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें औषध, आहार और विहार तीनों के गुणदोषों का विस्तृत विवरण है अतएव इसका नाम 'पथ्यापथ्यविबोधक' सार्थक है। निघण्टुग्रन्थों में ऐसा सर्वाङ्गव्यापी कोई दूसरा निघण्टु नहीं है। भावप्रकाशनिघण्टु आदि ग्रन्थ इसी पर आधारित हैं इससे भी इसका महत्त्व बढ जाता है।

अनेक पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन कर ग्रन्थ का पाठ शुद्ध किया गया है। हिन्दी टीका में विषय का पूरा स्पष्टीकरण किया गया है तथा विमर्श भी किया गया है। औषधियों के लैटिन नाम वानस्पतिक कुल, हिन्दी नाम भी दिये गये हैं। भूमिका में ग्रन्थ का ऐतिहासिक विवेचन भी किया गया है।

अद्यावधि यह ग्रन्थ अप्रकाशित था। पाँच दशक पूर्व इसका केवल एक औषधिवर्ग प्रकाश में आया था। संपूर्ण ग्रन्थ शुद्धरूप में हिन्दी टीका के साथ पहली बार प्रकाशित हो रहा है। यन्त्रस्थ

(जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला १८)

लोलिम्बराज विरचित

वैद्यजीवनम्

'विद्योतिनी'-हिन्दी व्याख्या तथा भूमिका एवं परिशिष्ट सहित

हिन्दी व्याख्याकार—डॉ० इन्द्रदेव त्रिपाठी

वैद्यजीवनम् सचमुच में वैद्यजीवन है। वैद्यक काव्यों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस लघु ग्रन्थ में अनेक रोगों की अनुभूत चिकित्सा की सरल विधियाँ ललित पदावली में सङ्कलित हैं। यह पुस्तक पाँच विलासों में रचित है। इसमें क्रमशः ज्वर चिकित्सा, ज्वरातिसार, अतिसार, आमवात, कास, श्वास, नेत्ररोग, कामला, योनि शूल, प्रदरादि स्त्रीरोगों एवं सूतिका तथा गर्भिणी रोगों की चिकित्सा-विधि वर्णित है। इसी प्रकार इसमें क्षयरोग, मूत्रघात, अम्लपित्त, प्रमेह, विषचिकित्सा, अपस्मार, वाजीकरण एवं वीर्यवर्धक चूर्णादि तथा वात नाशक तैल एवं चूर्णयोगों का वर्णन है। इसके साथ की भूमिका इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक सन्दर्भ को उजागर करती है। अतः चिकित्सा एवं साहित्यिक दृष्टि से यह संस्करण अपने आप में अनूठा है। 3-00

(जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला १९)

रतिज रोगशास्त्र

(पुरुष गुप्त रोगों की सफल चिकित्सा)

प्रथम भाग

आयुर्वेद बृहस्पति—पं० शिवकुमारजी शास्त्री

'रतिज रोगशास्त्र' ग्रन्थ में रतिजन्य रोगों के निदान, सम्प्राप्ति, रूप तथा चिकित्सा पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। इसमें सभी प्रसिद्ध चिकित्सा प्रणालियों के उपादेय प्रासंगिक ज्ञान का सहज बोध्य शैली में संकलन किया गया है। इसमें रतिज रोगों के निदान तथा चिकित्सा की विधियाँ अधिकांशतः बहुविध परीक्षित हैं। अतः अधिक विश्वसनीय हैं।

पुस्तक को अध्यायों में विभाजित करते हुए मुख्यतः तीन भागों में विषयवस्तु का संयोजन किया है। आयुर्वेदिक, एलोपैथिक तथा होमियोपैथिक।

यह ग्रन्थ सद्वैद्य की तरह परामर्श देता है तथा जीवन को सुखमय एवं आशापूर्ण बनाने के लिए अचूक विधि प्रस्तुत करता है। कठिन से कठिन रोगों का प्रश्नोत्तर शैली में सुन्दर समाधान दिया गया है। चिकित्सा व्यवसाय में अधिक सुयश अर्जित करने के लिए यह पुस्तक अति लाभकारी है। १५-००

(गुप्त स्त्री रोगों की चिकित्सा : द्वितीय भाग प्रेस में)

(काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १५७)

(सेन्ट्रल कौंसिल आफ इण्डियन मेडिसिन द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत)

अष्टाङ्गसंग्रहः (सूत्रस्थान)

(Preparation and Application of Ayurvedic Medicine)

'अर्थप्रकाशिका' हिन्दी टीका तथा विशेष वक्तव्य सहित ।

टीकाकार—आयुर्वेद बृहस्पति श्री गोवर्धन शर्मा जी छांगाणी ।

भूमिका लेखक—आयुर्वेद-बृहस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य

छांगाणी जी की विद्वत्ता आयुर्वेद जगत में प्रसिद्ध है । अत उनकी टीका की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है । फिर भी मैं इतना अवश्य कहूंगा कि छांगाणी जी की इस कृति से अष्टांगसंग्रह के जिज्ञासुओं का ही नहीं प्रत्युत आयुर्वेद जगत का महान उपकार हुआ है । टीका के साथ २ विशेष वक्तव्य में छागाणी जी ने स्वानुभूत योगों का भी अधिकतर उल्लेख कर दिया है जो विद्यार्थी तथा चिकित्सकों के लिये अत्यन्त उपादेय है । ००

जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला २१

अष्टाङ्गसंग्रह (शारीरस्थान)

श्रीमद्वाग्भटाचार्य कृत-

'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या—विमर्श टिप्पणी सहित

व्याख्याकार—पक्षधर झा

सपादक

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

अष्टांगसंग्रह वृद्ध वाग्भट की उत्कृष्ट रचना है । इस क्रान्तिकारी रचना के कारण ही वाग्भट बृहत्त्रयी में स्थान पाए और उनकी प्रस्तुत रचना को बहुत आदर मिला । मात्र इसी ग्रन्थ के अध्ययन से आयुर्वेद के सभी अंगों तथा उपांगों से, निदान और चिकित्सा से परिचय प्राप्त किया जा सकता है । प्रस्तुत सविमर्श हिन्दी व्याख्या दुरूहता को दूर करने में पूर्ण सहयोग देती है । इससे तुलनात्मक दृष्टि मिलती है, रोगों की चिकित्सा में एक स्वस्थ मार्ग उपलब्ध होता है । यह संस्करण शोधपूर्ण शैली में सपन्न हुआ है । मूल्य रु० २०—००

शेषस्थान यन्त्रस्थ

(जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला २२)

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत

अभिनव कौमारभृत्यम्

(A comprehensive and Comparative Treatise on the Care and Diseases of children)

आचार्य श्री राधाकृष्ण नाथ

सम्पादक—भूमिका लेखक—डॉ० रमानाथ द्विवेदी

बालरोग का ही दूसरा नाम कौमारभृत्य है। आयुर्वेद में कौमारभृत्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। कौमारभृत्य के अन्तर्गत कुमारभरण, धात्रीक्षीरदोष संशोधन, अन्नप्राशन, आदि संस्कारों का विधान है। बालरोगों के प्रकरण में बालग्रहों का विस्तार से वर्णन है। कुमारागार का वर्णन चरक संहिता आदि में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्रतिपादित कौमारभृत्य सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर हुआ है। साथ ही आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में प्राप्त नई उपलब्धियों से तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। इस प्रकार गर्भ में बालकों की रक्षा, प्रसवोत्तर संक्रामक रोगों से बालकों की रक्षा, प्रसूतिगृह में परिचारिकाओं के बरतने योग्य नियम, बालकों के पालन पोषण, आहार, बालग्रह बाधाओं आदि का वर्णन सहज सुबोध शैली में राष्ट्रभाषा हिन्दी में दिया गया है। इस सन्दर्भ के पाश्चात्य ग्रन्थों मे एवं चिकित्सा-पद्धति में प्राप्त साधन-सामग्रियों तथा रोगों का भी आयुर्वेदीय परिप्रेक्ष्य मे समन्वयात्मक दृष्टि से पूर्ण विचार किया गया है। अभिप्राय यह कि इधर बालकों के अनेक रोगों के कारण और चिकित्सा में जो नये-नये शोध हुए है तथा उनके लिए जो उपाय काम में लिये जा रहे हैं उन सबका इस ग्रन्थ मे उल्लेख हुए हैं। इस ग्रन्थ के लेखक तथा सम्पादक प्राच्य प्राश्चात्य चिकित्सा जगत् के एक अनुभवी परीक्षक है अतः ग्रन्थ पूर्ण वैज्ञानिक शैली का अनुगमन करता है। यहाँ बालरोग विशेषज्ञ को नवीन तथा प्राचीन पद्धतियों का सहज बोध होगा। बालकों की चिकित्सा में कठिनाई को दूर करके चिकित्सा का मार्ग सहज बनाना ही इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त इस विषय पर आजतक के जितने अनुसन्धान हुए हैं इसमें अन्य संस्थाओं की तुलना में विशद समावेश किया गया है। अतः चिकित्सकों तथा छात्रों के लिए समान उपयोगी है। २५-००